गुप्त जी की काव्य-साधना

डा० उमाकान्त, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, रामजस कॉलिज, दिल्ली

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सडक दिल्ली

निवेदन

'गुप्त जी की काव्य-साधना' में कविवर मैथिलीशरण जी के काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भाव-पक्ष की व्याख्या-विवेचना पाँच उपभागों में हुई है : (क) में भाव-क्षेत्र के विस्तार की समीक्षा है। यहाँ गुप्त जी के काव्य में उपलब्ध विविध रसों एवं भावों का निरूपण हुआ है। (ख) में भावों की प्रबलता, सूक्ष्मता और संवेदनीयता—आलोच्य कवि के काव्य की प्रभावक्षमता, उसकी दृष्टि की सूक्ष्मता एवं भावगत ओज आदि पर विचार किया गया है। (ग) में गुप्त जी के विस्तृत काव्य के मार्मिक प्रसंगों का आलेखन हुआ है। इस उपखण्ड में कुछ प्रसंगों को लेकर उनके मर्म की उपस्थापना का भी [illegible]त्न किया गया है। (घ) में कवि की कल्पना शक्ति और भावोत्कर्ष में उसके योग का [illegible]थान है। (च) में भाव-चित्रण के उद्देश्य की समीक्षा हुई है। यहाँ यह दिखाया गया है कि गुप्त जी भाव का केवल चित्रण करके ही संतुष्ट नहीं हो जाते वरन् वे किसी उच्चतर आदर्श में उसकी परिणति भी करते हैं।

कला-पक्ष के भी चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड है 'विभिन्न काव्य-रूपों का प्रयोग'। इसके अन्तर्गत गुप्त जी की महाकाव्य एवं खण्डकाव्य-विषयक धारणाओं, प्रगीत कला एवं नाट्य कला आदि का विवेचन किया गया है और कवि द्वारा प्रयुक्त नवीन काव्य-रूपों पर भी विचार किया गया है। 'अभिव्यंजना-कौशल' शीर्षक द्वितीय खण्ड में कवि की चित्रण-कला, वर्ण-योजना तथा काव्य में रमणीयता और रोचकता लाने के लिए प्रयुक्त अनेक युक्तियों और प्रसाधनों का निरूपण है। तृतीय खण्ड में खड़ी बोली के उद्गम और विकास की पृष्ठ-भूमि में गुप्त जी की भाषा पर विचार हुआ है। काव्य-क्षेत्र में गुप्त जी के पदार्पण से पूर्व काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली, उनकी अपनी भाषा का स्वरूप और सौष्ठव तथा खड़ी बोली के विकास में उनके योगदान आदि का आलेखन किया गया है। छन्द-विषयक चतुर्थ खण्ड में छन्द के स्वरूप और उपयोगिता तथा मैथिलीशरण जी द्वारा प्रयुक्त छन्दों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं—साथ ही छन्दों के वैविध्य और प्रसंगानुकूलता आदि पर भी विचार हुआ है।

यदि यह पुस्तक विद्यार्थियों का कुछ भी लाभ कर सकी तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

—लेखक

विषय-सूची

भाव-पक्ष (७–९७)

कला-पक्ष (९८–२८७)

(क) विभिन्न काव्य-रूपों का प्रयोग :

मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य—मूल धारणाएँ :

गुप्त जी की खंड काव्य-विषयक धारणाएँ :

प्रगीतकार मैथिलीशरण गुप्त :

मुक्तककार मैथिलीशरण गुप्त :

भाव-पक्ष

साधारणतः काव्य के दो पक्ष हैं—भाव-पक्ष और कला-पक्ष। भाव-पक्ष के अन्तर्गत आता है समग्र वर्ण्य विषय तथा कला-पक्ष में सम्मिलित है सम्पूर्ण वर्णन-कौशल। यद्यपि शील और शैली का आत्यन्तिक विभाजन सम्भव नहीं है—उनमें घट और पट का-सा एकान्त पार्थक्य नहीं है। पर साथ ही वे व्यवहारबुद्धि से अविभाज्य भी नहीं हैं। वस्तुतः काव्य के लिए दोनों ही अनिवार्य हैं—"भाव-पक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कला का सम्बन्ध आकार या शैली से है। वस्तु और आकार एक-दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। कोई वस्तु आकारहीन नहीं हो सकती है और न आकार वस्तु से अलग किया जा सकता है।"[1] रही बात सापेक्षिक महत्व की।—सो उसमें किसी मतभेद का अवसर ही नहीं। भाव-पक्ष ही सर्वमत से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वशाली है। भाव-पक्ष और कला-पक्ष में निश्चय ही आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है। पहला साध्य है तो दूसरा साधन। पण्डित रामदहिन मिश्र ने अपने काव्य-दर्पण में ठीक ही कहा है कि "कविता का कला-पक्ष उसकी प्रेषणीयता या प्रभावोत्पादकता है। (पर) प्रेषणीयता काव्य का साधन है साध्य नहीं।"[2] वास्तव में यह महत्व-निर्धारण आदि ही व्यर्थ है। काव्य के लिए ये दोनों ही अपेक्षित हैं। दोनों पक्ष एक दूसरे के सहयोगी हैं, प्रतियोगी नही। दोनों के यथावत् संयोग में ही सत्साहित्य का अस्तित्व अन्तर्निहित है। अस्तु !

पहले गुप्त जी के भाव-पक्ष का अध्ययन कर लिया जाए :

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन : बाबू गुलाबराय, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १२५

२. द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७४

(क) भाव-क्षेत्र का विस्तार

भाव का अभिप्राय और उनकी संख्या

संस्कृत के आचार्य ने भाव की परिभाषा नहीं दी। स्थायी और संचारी अथवा व्यभिचारी भावों का विस्तृत विवेचन करनेवाले आचार्य भी निर्विशेषण 'भाव' को शायद स्वतः व्यक्त समझकर छोड़ गए। वस्तुतः यह विशेष रूप से मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन-क्षेत्र में आता है। फिर भी काव्य (साहित्य) की आधार-शिला होने के कारण शास्त्र की परिधि के बिल्कुल बाहर भी नहीं है। अतः काव्य-शास्त्र के आधुनिक विद्वानों ने इस पर थोड़ा-बहुत विचार किया है। बाबू गुलाबराय के अनुसार—"सुख और दुःख को हम भाव कहते हैं।"[1] किन्तु भाव की यह परिभाषा अत्यन्त सरल है—उसके वास्तविक स्वरूप का बोध कराने में असमर्थ है। हाँ, मूल भावों की ओर संकेत इसमें अवश्य है। 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' के लेखक[2] के अनुसार—"मनुष्य के हृदय में बाह्य जगत् की संवेदनाओं के कारण विकार उठते हैं, जो मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।"[3] इस परिभाषा में भाव को बाह्य जगत् के संस्पर्श से मानव-मन में उठने वाली प्रतिक्रिया कहा गया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का भी लगभग यही मत है।[4] हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बड़े स्पष्ट और सशक्त शब्दों में इस बात की घोषणा की है—

"प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम 'भाव' है।"[5]

यहाँ 'वेगयुक्त प्रवृत्ति' से आचार्य का अभिप्राय है 'प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मों की प्रेरणा'। निश्चय ही जब तक अनुभूति और प्रवृत्ति अथवा प्रयत्न नहीं होगा तब तक भाव का अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि भाव मूलतः दो ही हैं—सुख और दुःख। शास्त्रीय शब्दावली में इन्हीं को राग और द्वेष कहा जाता है।[6] ये राग और द्वेष ही आलम्बन-भेद

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७५

२. श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु

३. द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३

4. "......The emotions are organised manifestations of the life of the feelings ; they are the reactions of the individual on everything which touches the course of his life, or his amelioration, his being, or his better being." —The Psychology of the Emotions by TH. RIBOT, edition 1897.

५. रस-मीमांसा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १६८

६. पातंजल योगदर्शन :

सुखानुशयी रागः । २।७

दुःखानुशयी द्वेषः । २।८

से विभिन्न रूप धारण करते हे। उदाहरण के लिए श्रेष्ठ के प्रति राग सम्मान अथवा श्रद्धा का, समान के प्रति प्रीति का तथा हीन के प्रति करुणा का रूप धारण कर लेता है। द्वेष भी अधिक बलवान् के प्रति भय में, समबल के प्रति क्रोध में तथा हीनबल के प्रति दर्प में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार मानव-मन के प्राय. सभी भाव—सुख और दुख—दो में ही समाहित हो जाते है। मनोविश्लेषण-शास्त्री इससे भी आगे बढ़े। उन्होंने केवल एक ही मूलभाव माना है। फ्रायड ने उसे काम, एडलर ने हीन-भावना तथा युङ्ग ने जिजीविषा कहा है।—इन विद्वानों के अनुसार और सब तो उस एक ही मूलभाव के प्रोद्भास हैं। उपर्युक्त अभिमतों में से युङ्ग महाशय का जीवन-रक्षा की इच्छा (भारतीय दर्शन की शब्दावली में अहङ्कार) को मूलभाव स्वीकार करने वाला मत ही अधिक मान्य है। भारतीय विचारकों में महाराज भोज ने भी शृङ्गार को इसीलिए रसराज माना है कि उसका सम्बन्ध जीवन की मूलवृत्ति अहङ्कार से है।

किन्तु ये तो सब दर्शन अथवा मनोविज्ञान-शास्त्र की बाते हैं। काव्य-शास्त्रियों ने साधारणतया बयालीस भावों का उल्लेख किया है। यह सख्या-निर्धारण भी अन्तिम और सर्वथा निर्दोष नही है। लेकिन फिर भी यह अधिक व्यावहारिक और काव्य की दृष्टि से अधिक उपयोगी है।

बयालीस में से नौ को स्थायी और शेष तेतीस को संचारी भाव माना गया है। मनोविज्ञान-शास्त्र को इस प्रकार का कोई विभाजन स्वीकार्य नहीं, उसके लिए यह आवश्यक भी नही है। किन्तु काव्यशास्त्र के आचार्यो ने अपेक्षाकृत स्थिर मनोवेगों—रति, हास, विस्मय उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा, भय, शोक और निर्वेद—को स्थायी की संज्ञा दी है। चिन्ता, मोह स्मृति, धृति, व्रीड़ा आदि अपेक्षया अस्थिर भावों को संचारी अथवा व्यभिचारी के नाम से अभिहित किया गया है। साहित्यदर्पणकार के शब्दों में—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः,
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः।[1]

अर्थात् विरुद्ध वा अविरुद्ध भाव जिसे तिरोहित करने में असमर्थ हों तथा जो आस्वाद का मूल कारण (आस्वाद रूपी अंकुर की जड़) हो उसे स्थायी भाव कहते हैं। इसके विपरीत (रत्यादि) स्थायी भाव में व्यभिचरण (संचरण) करने वाले तेतीस भाव संचारी कहलाते हैं—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः।[2]

अतः स्थायी भाव स्थिर और सबल मनोदशा अथवा मनोवृत्ति है—किन्तु संचारी भाव अस्थिर एवं तरंग-तुल्य क्षणभंगुर मनोविकार है। मैं समझता हूँ कि दोनों के नाम ही इस अन्तर के द्योतन में पर्याप्त समर्थ हैं। रहा प्रश्न काव्य में इस प्रकार के विभाजन की

---

१. साहित्यदर्पण, ३।१७४

२. साहित्यदर्पण, ३।१४०

उपयोगिता का। इसका सहज उत्तर यह है कि काव्य का 'सम्बन्ध भाव के जीवनगत उपयोग से है'। अतः व्यावहारिक दृष्टि से स्थिर और तीव्र फिर अधिक प्रभावक्षम तथा अस्थिर और कम प्रभावशाली भावों का निर्धारण कोई असंगत अथवा असम्बद्ध बात नहीं है। हाँ, स्थायी एवं संचारी की परिधि तथा संख्या का निश्चय काफ़ी विवादग्रस्त विषय है। क्या स्थायी भाव केवल नौ ही हो सकते हैं ? क्या संचारी भाव तेतीस से कम-ज़्यादा नहीं हो सकते ?

संचारियों में तो नहीं पर स्थायी भाव को लेकर संस्कृत साहित्य-शास्त्र में ही काफ़ी घटा-बढ़ी हुई है। भरत ने स्थायी केवल आठ माने थे। बाद में शम अथवा निर्वेद भी जोड़ दिया गया। भक्ति एवं वात्सल्य को लेकर भी काफ़ी वाद-विवाद हुआ। आधुनिक युग में रामचन्द्र शुक्ल शायद एक प्रकृति रस भी चाहते हैं। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने ऐसा कहीं नहीं कहा। फिर भी उनके विशद विवेचन और प्रकृति के प्रति उनके सबल अनुराग से ऐसा भासित होने लगता है।[1]—और गर्व, ग्लानि, असूया आदि के विषय में डा० नगेन्द्र तो स्पष्ट ही कहते हैं—"······परन्तु कम से कम कुछ एक में—जैसे गर्व, ग्लानि, असूया आदि में रस-परिणति की क्षमता अवश्य माननी पड़ेगी।"[2]

इस विषय में हमारा विनम्र निवेदन है कि ये सब भावनाएँ शास्त्रोल्लिखित स्थायी भावों के समान दीर्घकालस्थायी नहीं हैं अतएव उन्हें स्थायी-पद नहीं दिया जा सकता। भक्ति का श्रृंगार और शांत में अन्तर्भाव हो सकता है। हाँ, वात्सल्य को निश्चय ही रति के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। यद्यपि फ्रायड-प्रतिपादित व्यापक काम के अन्तर्गत वह भी आ सकता है, फिर भी हमारा मानस-कोश वात्सल्य और रति में अंश-अंशी-भाव मानने को कदापि तैयार नहीं होगा। और यह भाव है भी बहुत तीव्र—पुत्रैषणा से इसका सीधा संबंध है। सूर, तुलसी, मीरा आदि के काव्य के अध्ययन के पश्चात् भक्ति की स्थायित्व-क्षमता में भी सन्देह नहीं रह जाता। वास्तव में चारों खूंट बाँध लेने वाला कोई निश्चित नियम इस दिशा में असम्भव है।

संचारियों को संख्याबद्ध करना तो और भी दुष्कर है। क्योंकि मनोविकार तो सीमातीत हैं। कौन कह सकता है कि सभी मनोविकारों का सन्धान एवं नामकरण भी हुआ है अथवा नहीं। ऐसी दशा में उनकी संख्या निश्चित करने का प्रश्न ही नहीं उठता—वह संभव ही नहीं है।[3] और फिर ये विकार-वीचियाँ सदा-सर्वदा अमिश्र ही नहीं रहतीं। वरन् अधिकांशतः लवण-नीर-तुल्य एक दूसरे में मिलकर अनेक नूतन मनोविकारों को जन्म देती

---

१. दे० रस-मीमांसा में विभाव का विवेचन

२. रीतिकाव्य की भूमिका, संस्करण सन् १९४९, पृष्ठ ८२

३. "वास्तव में जैसा प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेम्स ने कहा है, मनोविकारों की गणना करना तथा उनको पृथक् रूप में वर्णन करना केवल कठिन ही नहीं असम्भव भी है। क्योंकि मनोविकार तो मन की वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया है, जो प्रत्येक वस्तु के साथ बदलती रहती है।"—रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र (१९४९) पृष्ठ ८१

हैं। हमारे विचार में संचारी भाव के नाम से आख्यात इन मिश्र और अमिश्र मनोविकारों के सीमा-निर्धारण का प्रयत्न ही व्यर्थ है। लेकिन शास्त्र में उनकी गणना हुई है—संचारियों की संख्या ३३ मानी गई है। जैसा कि हम ऊपर निवेदन कर चुके हैं यह ठीक नहीं है। इन तेतीस में भी मरण, आलस्य, अपस्मार, निद्रा आदि शारीरिकता-प्रधान संचारियों को मनोविकार कहना असंगत होगा। इस प्रकार उनकी संख्या और भी कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त आदर, श्रद्धा, दया, उदासीनता आदि कुछ जाने-बूझे मनोविकार छूट भी जाते हैं—गिनती में आते ही नहीं। परम्परा-दृढ़ विद्वान् पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र व्यभिचारी-परिगणन का कारण 'शास्त्रचर्चा की सुविधा' मानते हैं—

"............संचारियों के सम्बन्ध में दो बातें और हैं। ये स्थायी भावों की तरह परिमित नहीं होते। ये बहुत से हो सकते हैं। किन्तु काव्य में शास्त्रचर्चा की सुविधा के लिए प्रमुख तेतीस ही संचारी कहे गए हैं। ३३ की संख्या निश्चित हो जाने से कभी लोगों को भ्रम हो जाया करता है। जैसे हिन्दी में कुछ लोगों को यह भ्रम हुआ कि कवि 'देव' ने 'भावविलास' में 'छल' नामक चौंतीसवां संचारी लिखकर रस के क्षेत्र में बहुत बड़ा अन्वेषण किया। पर बात ऐसी नहीं है। छल ही क्या दया, दाक्षिण्य, उदासीनता आदि न जाने कितने भाव हैं जिनकी गणना तेतीस संचारियों में नहीं है।"[१]

उपर्युक्त उद्धरण में आप देख रहे हैं कि मिश्र जी स्वयं मानते हैं कि संचारी स्थायी भावों के समान 'परिमित नहीं होते'—'वे बहुत से हो सकते हैं'। दया, दाक्षिण्य, उदासीनता आदि की गणना संचारियों में न होने के तथ्य की ओर भी उनका ध्यान गया है। फिर भी पता नहीं संख्या '३३' में उन्हें शास्त्रचर्चा की कौन-सी सुविधा दृष्टिगत होती है। क्या इससे अधिक संख्या में सुविधा कम हो जाती? मैं समझता हूँ कि संख्या का प्रतिबन्ध हटा देने से सुविधा और भी बढ़ जाती। फिर यदि मिश्र जी का कहना ठीक भी मान लें तो क्या शास्त्र में सुविधा के लिए अतथ्य-कथन भी हुआ करेगा?

हमारी विनम्र सम्मति में संचारी भावों के अध्याय में काफ़ी संशोधन-परिशोधन की आवश्यकता है।—और उनके संख्या-निर्धारण का निष्फल प्रयत्न तो सर्वथा त्याज्य ही है।

गुप्त जी द्वारा सभी भावों (रसों) का ग्रहण

आलोच्य कवि अत्यन्त व्यापक दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति है। जीवन में जितनी भिन्न-विभिन्न स्थितियां और परिस्थितियां संभव हैं उनमें से अधिकांश को उसने अपने काव्य का विषय बनाया है। आचार्य शुक्ल ने एक स्थान पर कहा है—"पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्दशक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें।"[२] इस दृष्टि से हमारा कवि पूर्ण

---

१. वाङ्मय-विमर्श, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १२७

२. गोस्वामी तुलसीदास, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ७३

भावुक की कोटि में आता है। सचमुच उसकी भाव-परिधि बहुत व्यापक है। व्यापकता की दृष्टि से आधुनिक साहित्यकारों में प्रेमचन्द के अतिरिक्त और कोई भी मैथिलीशरण के समकक्ष नहीं है।

भावों का संबंध रसों से है। भारतीय काव्यशास्त्र में भाव की चरम परिणति को रस कहा जाता है।—और रसों की संख्या साधारणतः नौ मानी जाती है। नौ रसों में भी शृंगार, वीर, शान्त और करुण का संबंध जीवन के अधिक प्रबल और उपयोगी भावों से है। अतः वे प्रमुख हैं। गुप्त जी के काव्य में इन चार रसों का विशेषतः और शेष पाँच का साधारणतः चित्रण हुआ है। इस प्रकार उनके काव्य में सभी रसों का समावेश है। रति भाव अथवा शृंगार रस की व्यंजना के लिए रंग में भंग, शकुन्तला, साकेत (विशेषतः प्रथम, नवम और दशम सर्ग), यशोधरा के 'यशोधरा' शीर्षक खण्ड, सिद्धराज, हिडिम्बा और जय भारत के कुछ अध्याय देखे जा सकते हैं। रंग में भंग, वक-संहार, विकट भट, सिद्धराज तथा साकेत, जय भारत और भारत-भारती के कुछ अंशों में उत्साह (वीर) का उद्भास है। निम्नलिखित पुस्तकों और स्थलों पर करुण की धारा देखी जा सकती है—

भारत-भारती, जयद्रथ-वध, कुणाल-गीत, किसान, साकेत (दशरथ-मरण प्रसंग), काबा और कर्बला, विश्व-वेदना, अंजलि और अर्घ्य तथा जय भारत के कुछ खंड।

शान्त का प्रसार देखना हो तो झंकार और प्रदक्षिणा का अवलोकन कीजिए। जयद्रथ-वध, शक्ति, विकट भट, साकेत (तृतीय सर्ग में लक्ष्मण), जय भारत (युद्ध तथा हत्या खण्ड) आदि में रौद्र, जयद्रथ-वध (अर्जुन की प्रतिज्ञा के पश्चात् जयद्रथ की घबराहट), शक्ति आदि में भयानक, जयद्रथ-वध और जय भारत (युद्ध खण्ड) में वीभत्स, शक्ति और साकेत में अद्भुत तथा पंचवटी (सीता-लक्ष्मण संवाद), सिद्धराज (कांचनदे-मीलनदे संवाद), साकेत आदि में हास्य भी सहज उपलब्ध है। अब गुप्त जी के काव्य से रसों के कुछ उदाहरण लीजिए :

शृङ्गार रस

हो चुका शृंगार जब पूरा यथोचित रीति से,
ले चलीं वर के निकट सखियां उसे तब प्रीति से।
ललित लज्जा-भार से ग्रीवा रुचिर नीची किये,
मन्द गति से वह गई अवलम्ब उन सबका लिये।[1]

वधू को विवाह-मण्डप में ले जाने का दृश्य है। यहाँ पर वधू आश्रय और वर आलम्बन है। वर का सामीप्य उद्दीपन, हर्ष और लज्जा संचारी तथा गर्दन झुकना अनुभाव है। इस प्रकार रस की सम्पूर्ण सामग्री उपस्थित है। साकेत के तो प्रथम सर्ग में ही लक्ष्मण-उर्मिला के सुखी दाम्पत्य का वर्णन है। नवदम्पति की मधुर-तरल विनोद-वार्ता ही रस-परिणति में समर्थ है। किन्तु कवि ने मर्यादा का सदैव ध्यान रखा है। यद्यपि आलिंगन तक का स्पष्ट चित्रण हुआ है—

---

१. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १०

हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये
और बोले—"एक परिरम्भण प्रिये !
सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।
किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया,
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया।[१]

परन्तु संभोग पर गार्हस्थ्य का पावन आवरण झिलमिला रहा है। रीतिकालीन वर्णन की झलक भी कहीं-कहीं दृष्टिगत होती है, जैसे—

हलधर बन्धु को उठाये गिरिराज सुन,
आई वृषभानुजा मराल की सी चाल से।
देख सखियों के संग सुन्दर लता-सी उसे,
मुग्ध गिरिधारी हुए चंचल तमाल से।
डगता जान कम्प से करस्थ शैल क्रीड़ा का
व्रीड़ावश बन्द किये लोचन विशाल से।[२]

पर इसमें उस युग की अमर्यादित उच्छृंखलता नाम को भी नहीं। रस के विभिन्न अवयव तो उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्ट हैं ही। बस, सिद्धराज से एक अवतरण और देख लीजिए—

पहुँची परन्तु ज्यों ही मन्दिर में सुन्दरी
दीखा आप अर्णोराज सम्मुख अलिन्द में,
....
ललित-गभीर, गौर, गौरव का गृह-सा,
एकाकी विलोक जिसे गरिमा ने भेंटा था।
....
संकुचित होके कहाँ जाती राजनन्दिनी ?
बन्दी के समक्ष स्वयं बन्दिनी-सी हो उठी !
आके जड़ता ने उसे जकड़ लिया वहीं,
स्तम्भ वह भी था, अवलंब लिया जिसका !
हो गये अचल एक पल को पलक भी,
किन्तु वह रूप-भार कब तक झिलता ?
आहा दूसरे ही क्षण दृष्टि नत हो गई।[३]

यहाँ कांचनदे और अर्णोराज आलम्बन-आश्रय हैं। अर्णोराज का लालित्य एवं

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३०
२. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २८
३. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ६३-६४

सौंदर्य तथा गौरव और गरिमा उद्दीपन हैं। स्थान भग्न देवालय तो नहीं पर देवालय का अलिन्द है। एकान्त के कारण वह भी उद्दीपन विभाव ही है। व्रीड़ा, स्तम्भ एवं जड़ता आदि संचारी हैं, अपलक दर्शन, कम्प तथा दृष्टि का नत होना आदि अनुभाव हैं। इन सबसे पुष्ट स्थायी रति की शृङ्गार रस में सफल परिणति हुई है।

अभी तक जितने उदाहरण दिए गए वे सब शृङ्गार के एक ही पक्ष—संयोग अथवा संभोग के थे। किन्तु रति की सघनता और व्यापकता की वास्तविक व्यंजना उसके दूसरे रूप—वियोग अथवा विप्रलम्भ में ही संभव है। दूसरे संयोग में तो व्यक्ति घर की चारदीवारी में ही सीमित रहता है। किन्तु वियोग में व्यक्तित्व का असीम विस्तार हो जाता है। सीता के विरह में राम पशु-पक्षियों तक से वार्तालाप करना चाहते हैं—

हे खग, मृग हे मधुकर स्रेनी।
तुम देखी सीता मृगनैनी॥ आदि।

हमारे कवि ने शृङ्गार के इस पक्ष का ही अपेक्षाकृत अधिक चित्रण किया है—

मैं निज अलिंद में खड़ी थी, सखि एक रात,
रिमझिम बूंदें पड़ती थीं घटा छाई थी,
गमक रहा था केतकी का गंध चारों ओर,
झिल्ली झनकार यही मेरे मन भाई थी,
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से,
चंचला थी चमकी घनाली घहराई थी,
चौंक देखा मैंने चुप कोने में खड़े थे प्रिय,
माई मुख-लज्जा उसी छाती में छिपाई थी।[1]

इस छन्द में 'स्मृति' की ध्वनि मानी जा सकती है—किन्तु ऐसा नहीं है। पं० रामदहिन मिश्र ने प्रस्तुत पद्य के विषय में स्पष्ट लिखा है—"यहाँ पूर्वानुभूत सुखोपभोग की स्मृति का वर्णन रहने पर भी उसकी प्रधानता सिद्ध न होने से भाव ध्वनि नहीं है।"[2] वस्तुतः यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार के सभी अवयव उपस्थित हैं। आश्रय है उर्मिला तथा आलंबन लक्ष्मण हैं। एकान्त स्थान, बून्दों का पड़ना, झिल्ली की झनकार तथा केतकी की गन्ध का प्रसार आदि उद्दीपन हैं। मुख का आरक्त हो जाना तथा छाती में मुँह छिपाना अनुभाव और हर्ष, स्मृति, विबोध आदि संचारी हैं। सब मिलाकर रति स्थायीभाव विप्रलम्भ शृङ्गार के रूप में ध्वनित है।

विप्रलम्भ के चार भेद होते हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। इनमें से प्रवासजन्य विरह ही वास्तविक विरह है—उसी में सर्वाधिक तीव्रता रहती है। पूर्वराग, संयोग से पूर्व की स्थिति है अतः वह लालसा मात्र है। मान को विरह मानना ही उचित

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २१४

२. काव्य-दर्पण, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७४

नहीं—क्योंकि उसमें वियोग ही कहाँ ? रहा करुण !—नायक-नायिका में से किसी एक की मृत्यु से पहले उसकी स्थिति नहीं, और मृत्यु होते ही रति का स्थान शोक ले लेता है। अतः वह रसान्तर का विषय बन जाता है। फिर भी उक्त चारों भेदों के तल में रति का एक सूक्ष्म तन्तु तो अनुस्यूत रहता ही है अतः सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी आचार्यकृत यह भेदीकरण अनर्गल प्रलाप नहीं है। मैथिलीशरण जी के काव्य में विप्रलम्भ के ये सभी भेद उपलब्ध हैं। हाँ, आधिक्य प्रवास-विप्रलंभ का ही है। यशोधरा से उसका एक उदाहरण लीजिए—

उनका यह कुंज-कुटीर वही झड़ता उड़ अंशु अबीर जहाँ,
अलि, कोकिल, कीर शिखी सब हैं सुन चातक की रट 'पीव कहाँ ?'
अब भी सब साज-समाज वही तब भी सब आज अनाथ यहाँ,
सखि, जा पहुँचे सुध-संग कहीं यह अन्ध सुगन्ध समीर वहाँ ?[1]

गौतम के प्रति यशोधरा का हृद्गत रति भाव कोयल, मोर, भ्रमर, लता-मण्डप आदि से उद्दीप्त, (प्रतीयमान) वितर्क, औत्सुक्य आदि से परिपुष्ट तथा विवर्णता आदि से परिव्यक्त होकर वियोग की तीव्रता और सघनता को प्रकट कर रहा है। अब पूर्वराग का भी अवलोकन कीजिए—

और कहीं चित्त नहीं लगता था उसका,
सूना तन छोड़ मन जाता था वहीं-वहीं।
'आह' ! नींद आई उसे रात बड़ी देर में,
और वह जाग पड़ी बहुत सबेरे ही।
कौन कहे, उसने क्या स्वप्न देखा सोने में,
आप भी 'न जाने' कह मौन वह हो रही।[2]

देव-मन्दिर के अलिन्द में अर्णोराज को आँख भर देख लेने के बाद राजकुमारी कांचनदे का 'और कहीं' चित्त ही नहीं लगता। रात को देर में नींद आती है—ख्वाबों की दुनिया में भी पता नहीं कौन छा जाता है ? "आप भी 'न जाने' कह मौन वह हो रही"—सचमुच जब प्रेम का प्रथम स्फुरण होता है तब 'न जाने' मन कैसा-कैसा होने लगता है।

विप्रलम्भ के शेष दो प्रकार भी रंग में भंग, जयद्रथ-वध, यशोधरा और साकेत में देखे जा सकते हैं। परम्परानुमोदित दस काम-दशाओं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति—में से भी मृति के अतिरिक्त सभी का आलेखन हमारे कवि ने किया है। वास्तव में मरण को काम-दशाओं के अन्तर्गत मानना ही ठीक नहीं है—क्योंकि वह रस-विरोधी है। इसीलिए तो आचार्य विश्वनाथ मरण-तुल्य दशा तथा आकांक्षित मरण आदि के वर्णन की ही अनुमति देते हैं—वास्तविक मृति की नहीं।[3]

---

१. **यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ४४**

२. **सिद्धराज, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ६१**

३. **दे० साहित्यदर्पण ३।१९३-१९४**

आलोच्य कवि ने भी आकांक्षित मरण का अंकन किया है। उर्मिला की मृत्यु-कामना देखिए—

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
मैं अपने को आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ।[1]

गुप्त जी के काव्य से और दो काम-दशाओं के उदाहरण देकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं :

जड़ता—

नारियाँ रनवास में सब रो रही थीं शोक से,
किन्तु बैठी मौन थी वह भिन्न ही ज्यों लोक से।
ज्ञात होता था कि मानों मूर्ति रक्खी है वहाँ,
जल गया अन्तःकरण जब, फिर भला आँसू कहाँ।[2]

स्मृति—

एकान्त में हँसते हुए सुन्दर रदों की पाँति से,
धर चिबुक मम रुचि पूछते थे नित्य तुम बहु भाँति से।
वह छवि तुम्हारी उस समय की याद आते ही वहीं,
हे आर्य्यपुत्र ! विदीर्ण होता चित्त जानें क्यों नहीं॥[3]

'उनका यह कुंज-कुटीर' आदि यशोधरा के पूर्वोद्धृत पद्य में उद्वेग की व्यंजना है।

वीर

"वीर रस का अत्यन्त उत्साह से प्रादुर्भाव होता है।"[4] आलम्बन, उद्दीपन आदि के भेद से उत्साह के चार मुख्य रूप हो सकते हैं। उन्हीं के अनुसार वीर रस के भी भेद होते हैं—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर। सर्वप्रमुख इनमें युद्धवीर ही है। हमारे कवि ने युद्धवीर का बहुत कम वर्णन किया है। उसके काव्य में युद्ध का चित्रण न मिलकर कथन अधिक है, यथा—

कर्ण था अटूट सार-धारा का प्रपात-सा,
सामने जो आया वही डूबा-बहा उसमें !
आशा भी किसी के बचने की रही किसको ?
सीमा छोड़ मानो महासिंधु वहाँ उमड़ा।[5]

फिर भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है। बिना अधिक प्रयास के ही कई अच्छे

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २३५
२. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १७
३. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ २३
४. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग)—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पंचम संस्करण, पृष्ठ २१५
५. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३८२-३८३

उदाहरण मिल सकते हैं। गुप्त जी की सर्वप्रथम रचना रंग में भंग से ही निम्न उद्धरण देखिए—

"वीर कुम्भ ! विचार ऊंचे हैं तुम्हारे सर्वथा,
किन्तु दोषारोप अब मुझ पर तुम्हारा है वृथा।
वीर बूंदी के स्वयं मौजूद हो जब तुम यहां,
तो कहो, प्रण पालना झूठा रहा मेरा कहाँ ?"
क्रुद्ध हो तब कुम्भ ने शर से उन्हें उत्तर दिया,
किन्तु राना ने उसे झट ढाल पर ही ले लिया।
फिर वहाँ कुछ देर को पूरी लड़ाई मच गई
वध किये उस वीर ने मरते हुए भी रिपु कई ॥[1]

यहाँ राणा और हाड़ा कुम्भ आलम्बन तथा आश्रय हैं। राणा के वचन तथा उनके प्रहार उद्दीपन हैं। कुम्भ का शरसंधान तथा अन्य शस्त्रों द्वारा प्रहार अनुभाव हैं। रोष तथा (मातृभूमि के निमित्त बलिदान का) हर्ष संचारी हैं।—और उत्साह स्थायी तो है ही ! इस प्रकार वीर के सम्पूर्ण अवयव नियोजित हैं। शक्ति की निम्न पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं—

गरजी अट्टहास कर अम्बा देख ठट्ट के ठट्ट,
दहल उठे जल-थल अम्बर तल घटा विकट संघट्ट।[2]

इस अवतरण में महाशक्ति और राक्षसों के युद्ध का वर्णन है। रस की दृष्टि से शक्ति आश्रय तथा राक्षस आलम्बन हैं। राक्षसों का बहुसंख्या में एकत्रीकरण तथा उनकी विरूपता एवं विकरालता उद्दीपन हैं। चण्डी का अट्टहासपूर्ण गर्जन तथा युद्ध में रिपु-दलन अनुभाव हैं। राक्षसों के पूर्व-कृत्यों की स्मृति एवं धैर्य संचारी हैं। इन सब तत्त्वों से परिपुष्ट उत्साह (स्थायी) रस-रूप में व्यंजित है।

'साकेत' से भी एक उदाहरण लीजिए—

दल-बादल भिड़ गए, धरा धंस चली धमक से,
भड़क उठा क्षय कड़क तड़क से, चमक दमक से।
रण-भेरी की गमक, सुभट, नट-से फिरते थे,
ताल-ताल पर रुण्ड-मुण्ड उठते-गिरते थे ![3]

वहाँ भी उत्साह (युद्ध) वीर रस के रूप में ध्वनित हो रहा है। अब वीर के अन्य भेदों को लीजिए :

भीम, शरणागत का अपमान !
कहाँ है आज तुम्हारा ज्ञान ?

* * *

---

१. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २६
२. शक्ति, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १२
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३२०

वत्स अर्जुन, सत्वर जाओ,
और तुम उन्हें छुड़ा लाओ।
शत्रु समझो, तो भी आओ,
द्विगुण जय यों उनपर पाओ।
भीम, सहदेव, नकुल सब लोग;
करो जाकर समुचित उद्योग।[1]

वन-विहार के समय दुर्योधनादि चित्ररथ द्वारा पकड़े जाते हैं। तब वृद्ध सचिव वनवासी पाण्डवों के पास सहायता के लिए जाते हैं। दुर्योधन और उसके मित्रों की दुर्दशा का समाचार सुन भीम प्रसन्न होते हैं। किन्तु युधिष्ठिर भीम का मोह-भंग करते हुए अपने भाइयों को उन्हें बन्धन-मुक्त कराने के लिए प्रेरित करते हैं—उक्त अवतरण का यही प्रसंग है। इसमें दुर्योधनादि आलम्बन तथा युधिष्ठिर आश्रय हैं। उनकी दुर्दशा तथा मन्त्री द्वारा साहाय्य-याचना उद्दीपन हैं। आपत्ति के समाचार पर वृकोदर की प्रसन्नता भी उद्दीपन के अन्तर्गत ही आती है। धर्मपुत्र के उपर्युक्त वचन अनुभाव तथा धृति, हर्ष आदि संचारी हैं। इस प्रकार दया-वीर व्यंजित है। निम्नांकित पंक्तियों में धर्म वीर का औज्ज्वल्य भी देखिए—

कहने लगे अर्जुन..................................
रहते हुए तुम-सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं!
इससे मुझे है जान पड़ता भाग्य-बल ही सब कहीं।
जल कर अनल में दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी,
अच्युत! युधिष्ठिर का सब भार है तुम पर सभी॥[2]

करुण

मैथिलीशरण जी के काव्य में करुण रस का ही प्राधान्य है। इस विशेषता से प्रभावित एवं प्रेरित होकर डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने तो गुप्त जी के काव्य की कारुण्यधारा नामक एक पुस्तक ही लिखी है। सबसे पहले कवि की आरंभकालीन पुस्तक जयद्रथ-वध से एक उदाहरण लीजिए—

मैं हूँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धांगिनी,
भूलो न मुझको नाथ, हूँ मैं अनुचरी चिरसंगिनी।
जो अंगरागांकित-रुचिर-सित-सेज पर थी सोहती,
शोभा अपार निहार जिसकी मैं मुदित हो मोहती,
तव मूर्ति क्षत-विक्षत वही निश्चेष्ट अब भू पर पड़ी!
बैठी तथा मैं देखती हूँ, हाय री छाती कड़ी!
हे जीवितेश! उठो, उठो, यह नींद कैसी घोर है,
...।[3]

---

१. वन-वैभव, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३२-३३
२. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां संस्करण, पृष्ठ ८३
३. " " " पृष्ठ २५

यहां अभिमन्यु का शव आलंबन तथा उत्तरा आश्रय है। पति की सुन्दरता, वीरता तथा प्रेम का स्मरण आदि उद्दीपन हैं। चिन्ता, दैन्य आदि संचारी तथा उत्तरा का विलाप अनुभाव है। इन सबसे परिपुष्ट स्थायी भाव शोक की करुण रस में परिणति होती है। एक उद्धरण और देखिए—

आज मैं विदेशिनी हूँ, अपने ही देश में
वन्दिनी-सी आप निज निर्मम निवेश में
हा ! दुःस्वप्न ही मैं इसे मान नहीं सकती
कैसे समझाऊँ मन जान नहीं सकती
मेरी यह दिव्य धरा आज पराधीना है
इन्द्राणी अभागिनी है, देवेश्वरी दीना है।[1]

इन्द्र के स्वर्ग-भ्रष्ट होने पर नहुष इन्द्र बनते हैं। इस स्थिति से इन्द्राणी बहुत दुखी हैं। यहाँ इन्द्र का पराभव आलंबन, इन्द्राणी आश्रय, स्वर्ग की पराधीनता (मानव द्वारा इन्द्रासन ग्रहण करने के कारण) आदि उद्दीपन हैं। ग्लानि, चिन्ता, विषाद आदि संचारी एवं उच्छ्वास, विवर्णता तथा इन्द्राणी का उक्त वचन अनुभाव हैं। इस प्रकार करुण रस ध्वनित है। विकट भट का यह अवतरण—

"जा, बेटा कदाचित् सदा के लिए" हाय रे !
करुणा से कंठ भर आया ठकुरानी का।
जाकर अन्धेरी एक कोठरी में वेग से,
पृथ्वी पर लौट वह रोई ढाढ़ मार के,
व्योम की भी छाती पर होने लगी लोक-सी ![2]

भी द्रष्टव्य है। कुमार सवाईसिंह आलम्बन, ठकुरानी आश्रय तथा जोधपुर-नरेश विजयसिंह का सवाईसिंह को दरबार में बुलाना एवं उसके पूर्वकृत्यों का स्मरण उद्दीपन हैं। ठकुरानी का वेग से जाना, पृथ्वी पर लोटना, रोना चिल्लाना आदि अनुभाव हैं। दैन्य, विषाद, उन्माद आदि संचारी हैं। इन सभी अवयवों के अवलम्ब से स्थायीभाव शोक की रस में परिणति हुई है। साकेत के दशरथ-मरण प्रसंग से भी करुण की आर्द्रता का एक उत्कृष्ट निदर्शन देखिए—

बस, यहीं दीप-निर्वाण हुआ, सुत-विरह वायु का बाण हुआ।
धुंधला पड़ गया चन्द्र ऊपर, कुछ दिखलाई न दिया भू पर।
अति भीषण हाहाकार हुआ, सूना-सा सब संसार हुआ।
अर्द्धांग रानियां शोककृता मूर्च्छित हुईं या अर्द्ध-मृता ?
हाथों से नेत्र बन्द करके, सहसा यह दृश्य देख डरके,
'हा स्वामी!' कह ऊंचे रव से, दहके सुमन्त्र मानों दव से।

---

१. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ १०
२. विकट भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ९

अनुचर अनाथ से रोते थे, जो थे अधीर सब होते थे।
थे भूप सभी के हितकारी, सच्चे परिवार-भार धारी।[१]

यह बन्धु-नाश-जन्य करुण है। रसावयव सहज-स्पष्ट हैं—महाराज दशरथ आलम्बन हैं; रानियाँ, सुमन्त्र तथा अन्य भृत्य अभिप्राय यह कि जो भी वहाँ उपस्थित थे वे सभी आश्रय हैं। दशरथ के शव का दर्शन, सर्वहितकारिता, परिवार-पालन-कुशलता आदि उनके प्रशंसनीय गुणों का स्मरण आदि उद्दीपन हैं। रोदन, नेत्र-निमीलन, प्रलाप, मूर्च्छा आदि अनुभाव तथा आवेग, दैन्य, जड़ता, विषाद आदि संचारी भाव हैं। उपर्युक्त सामग्री से परिपुष्ट शोक की करुण रस के रूप में चरम परिणति हुई है।

शान्त

क्या भाग रहा हूँ भार देख?
तू मेरी ओर निहार देख?
मैं त्याग चला निस्सार देख,

***　　*　　***

रूपाश्रय तेरा तरुण गात्र,
कह, वह कब तक है प्राण-पात्र?
भीतर भीषण कंकाल मात्र,

***　　*　　***

प्रच्छन्न रोग हैं, प्रकट भोग;
संयोग मात्र भावी वियोग!
हा लोभ-मोह में लीन लोग,
भूले हैं अपना अपरिणाम!
ओ क्षणभंगुर भव, राम-राम![२]

ये पंक्तियां गौतम के 'महाभिनिष्क्रमण' से उद्धृत हैं। गौतम आश्रय तथा असार संसार आलम्बन है। प्राणी का अनिवार्य मरण, मानव की भीतरी कंकालता, भोग में रोग का निहित रहना तथा संयोग का अनिवार्यतः वियोग में परिवर्तन आदि उद्दीपन हैं। गृह-त्याग, संसार को इस प्रकार सम्बोधित करना आदि अनुभाव हैं। संचारी हैं वितर्क, मति, धैर्य आदि। सहृदयों के हृदय में वासना-रूप से स्थित निर्वेद पूर्वोक्त विभाव, अनुभाव और संचारी से शान्त रस का रूप धारण करता है। पंचवटी के निम्न पद्य में भी शान्त का सौंदर्य है—

शुभ सिद्धान्त वाक्य पढ़ते हैं शुक सारी भी आश्रम के,
मुनि-कन्याएँ यश गाती हैं क्या ही पुण्य पराक्रम के।

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १२३
२. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १६-१७

अहा ! आर्य्य के विपिन-राज्य में सुखपूर्वक सब जीते हैं,
सिंह और मृग एक घाट पर आकर पानी पीते हैं ।[1]

'स्वच्छ शिला' पर बैठे हुए 'धीर, वीर, निर्भीकमना' लक्ष्मण पंचवटी की शोभा निहार रहे हैं । पंचवटी ही यहाँ आलम्बन है, आश्रय हैं लक्ष्मण । पंचवटी का शान्त वातावरण, शुक और शारिका का 'शुभ सिद्धान्त वाक्य' पढ़ना, सबका सुखपूर्वक जीना—सिंह और मृग का एक घाट पर पानी पीना आदि उद्दीपन हैं । एकान्त वातावरण में रमना, संसार के तथाकथित सुख-वैभव से पराङ्मुखता आदि अनुभाव हैं । हर्ष, मति आदि संचारी हैं । इन सभी अवयवों से पोषित शम रस-रूप में व्यंजित है ।

निर्वेद भी यहाँ संचारी के रूप में है । मैं समझता हूँ कि निर्वेद और शम दोनों में से कोई भी स्थायी बन सकता है । आचार्यों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है ।[2]

रौद्र

प्रस्तुत कवि ने युद्धवीर का तो नहीं—किन्तु रौद्र का प्रचुर चित्रण किया है । दो एक उदाहरण लीजिए—

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे,
सब शोक अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे ।
"संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े,"
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठकर खड़े ।[3]

यहाँ पापकर्मा कौरव तथा उनके सहायक आलम्बन हैं । अर्जुन आश्रय तथा उनका हाथ मलना, खड़े हो जाना एवं उनके आरक्त नेत्र तथा उपर्युक्त गर्वोक्ति अनुभाव हैं । उद्दीपन हैं कृष्ण के वचन और अभिमन्यु-से पुत्र की मृत्यु । गर्व और आवेग संचारी हैं । रस के सम्पूर्ण अवयवों का कैसा सफल संयोजन है । निम्नांकित संक्षिप्त किन्तु सप्रभाव अवतरण भी द्रष्टव्य है—

"अरे पापी तुझको तो मैं
व्योम में रसातल में खोजकर मारता
भाग्य से तू भू पर ही मिल गया मुझको"[4]

शास्त्राभ्यासियों के लिए यहाँ पर भीम और दुःशासन आश्रय-आलम्बन हैं । दुःशासन के पूर्वकृत्य उद्दीपन तथा भीम की (अनुमित) आकुंचित भौहें और फूले हुए नथने अनुभाव हैं । दुःशासन पर प्रहार, कठोर भाषण आदि भी अनुभाव के अन्तर्गत ही आएंगे । उग्रता तथा स्मृति आदि संचारी हैं । इस प्रकार रौद्र का सावयव निरूपण हुआ है । मुक्तक-संग्रह मंगल-घट से भी एक उद्धरण देखिए—

---

१. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १२
२. दे० काव्य-कल्पद्रुम (प्रथम भाग)—कन्हैयालाल पोद्दार, पंचम संस्करण, पृष्ठ २३४
३. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ ३६
४. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३८४

ठाकुर ने त्योरियों के साथ तलवार भी
खींच ली तुरन्त और क्रोध[1] कर यों कहा—
"पार कर दूंगा अभी आंतें गिर जाएंगी,
कहता हूँ फिर भी उतार दे उतार दे !"[2]

भयानक

बोला तब कातर होकर वह भूल यशोलिप्सा सारी—
"देखो, देखो बृहन्नले, यह सेना है कैसी भारी !
इसे देखकर धैर्य छूटता, अंग कांपते हैं, थकते,
मैं क्या, इसे स्वयं सुरगण भी रण में नहीं हरा सकते ।
मैं किस भाँति लड़ूंगा इससे मोड़ो रथ के अश्व अभी,
.... ।"[3]

कौरव-सेना विराट की राजधानी पर आक्रमण करती है। महाराज का पुत्र उत्तर बृहन्नला नाम-धारी अर्जुन को सारथी बना युद्ध के लिए जाता है। किन्तु शत्रु की विशाल वाहिनी को देखकर वह घबरा जाता है। इसमें कुरुराज की सेना आलम्बन, राजकुमार उत्तर आश्रय हैं। शत्रु-सेना की विशालता, विकरालता और दुर्जेयता उद्दीपन हैं। कातर-वचन, अधीरता, कम्प, श्रम, (प्रतीयमान) वैवर्ण्य आदि अनुभाव तथा चिन्ता, आवेग, त्रास आदि संचारी हैं। काव्य-वर्णित ये विभाव, अनुभाव और संचारी वासना-रूप में रसिक के हृदयस्थ भय को रस-दशा में परिवर्तित करने में सक्षम हैं। जयद्रथ-वध से अवतरित निम्न पद्य में भी भयानक की उत्कृष्ट व्यंजना है—

जो प्रण किया है पार्थ ने सुत-शोक के सन्ताप से
हे कुरुकुलोत्तम ! क्या अभी तक वह छिपा है आपसे ?
'मारूं जयद्रथ को न कल मैं तो अनल में जल मरूं',
की है यही उसने प्रतिज्ञा, अब कहो मैं क्या करूँ ?
कर्त्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है,
भय और चिन्ता-युक्त मेरा जल रहा सब गात है ।
अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिए,
या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिए ।।[4]

यहाँ रस के सभी अवयव सहज-सुलभ हैं। किन्तु भयानक के चित्रण में भय का स्पष्ट कथन ('भय और चिन्ता-युक्त' आदि पंक्ति में) दोष है। इसीलिये श्री कन्हैयालाल पोद्दार और पं० रामदहिन मिश्र ने क्रमशः काव्य-कल्पद्रुम (प्रथम भाग) और काव्यदर्पण में भयानक

१. यह स्वशब्दवाच्यत्व दोष है ।
२. मंगल-घट, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २०५
३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २७१
४. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ ४१

रस के निदर्शन-स्वरूप उपर्युक्त पंक्तियों में से अंतिम चार को उद्धृत करते समय 'भय और चिन्ता-युक्त......में 'भय और' के स्थान पर 'कुरुराज' शब्द का प्रयोग किया है।[1] जिससे कि पूर्वोल्लिखित दोष का परिहार हो जाता है—अन्यथा वह मूलपाठ नहीं है।

हास्य

स्वभावतः हमारा कवि हास-प्रिय है—गंभीर से गंभीर परिस्थिति में भी वह हास का अवसर निकाल लेता है। उदाहरण के लिए सात्यकि के यह कहने पर कि कृष्ण और अर्जुन मुझे आपकी रक्षा के लिये छोड़ गए हैं, युधिष्ठिर का अधोलिखित कथन कैसा हास्य-तरल है—

सीता के समीप जैसे लक्ष्मण को छोड़ के
माया-मृग मारने गये थे राम वन में![2]

यहाँ पर यह उक्ति आलंबन और युधिष्ठिर का स्वभाव उद्दीपन है। आश्रय कवि और पाठक को ही मानना चाहिए। वास्तव में हास्य की यह विशेषता है कि कोई भी उसका आश्रय बन सकता है। सिद्धराज की निम्न पंक्तियों का सरल हास्य भी दर्शनीय है—

औषधि का रत्न-पात्र देने चली दादी को,
किन्तु 'नहीं' सुन, हंस बोली—"बड़ी मीठी है!"[3]

राजकुमारी कांचनदे अपनी दादी मीलनदे को औषधि सेवन कराने के लिए जाती है। किन्तु दादी औषधि लेने से इन्कार कर देती है। तब कांचनदे उन्हें बहलाना-फुसलाना चाहती है, कहती है कि दवाई "बड़ी मीठी है"। साधारणतः बड़े-बूढ़े इस तरह से बच्चों को बहलाया करते हैं—किन्तु यहाँ विपरीत बात है। यह वैपरीत्य ही हास्य का मूल है।

अद्भुत

"आश्चर्य-जनक विचित्र वस्तुओं के देखने से अद्भुत रस व्यक्त होता है।"[4] मैथिली-शरण जी के काव्य में अद्भुत का चित्रण बहुत कम हुआ है, फिर भी प्रयत्न करने पर दो-एक अच्छे उदाहरण मिल सकते हैं। यथा—

खींच कर श्वास आस-पास से प्रयास बिना
सीधा उठ शूर हुआ तिरछा गगन में,
अग्नि-शिखा ऊंची भी नहीं है निराधार कहीं,
वैसा सार-वेग कब पाया सान्ध्य घन में?

---

१. (क) काव्य-कल्पद्रुम (प्रथम भाग), पंचम संस्करण, पृष्ठ २२५
(ख) काव्य-दर्पण, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १८९

२. युद्ध, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७

३. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ८३

४. काव्य-कल्पद्रुम (प्रथम भाग)–सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पंचम संस्करण, पृष्ठ २३१

भूपर से ऊपर गया था वानरेन्द्र मानों
एक नया भद्र भौम जाता था लगन में,
प्रकट सजीव चित्र-सा था शून्य पट पर,
दण्ड-हीन केतन दया के निकेतन में ![1]

हनुमान के आकाश-आरोहण का चित्रण है। इसमें अद्भुत का चमत्कार है। भरत, माण्डवी, शत्रुघ्न तथा अन्य दर्शक-वृन्द आश्रय हैं। आलम्बन है उपर्युक्त अलौकिक घटना। बिना प्रयास एकदम ऊपर चढ़ते चले जाना उद्दीपन तथा (प्रतीयमान) रोमांच, नेत्र-विस्फारण आदि अनुभाव हैं। हर्ष, चपलता, औत्सुक्य आदि संचारी भी सहज-अनुमित हैं। इन सबसे पुष्ट विस्मय की अद्भुत रस के रूप में प्रतीति होती है।

वीभत्स

गोल-कपोल पलटकर सहसा बने भिड़ों के छत्तों-से,
हिलने लगे उष्ण सांसों से ओंठ लपालप लत्तों-से !
कुन्दकली-से दांत हो गये बढ़ बराह की डाढ़ों-से,
***　　　*　　　***
जहाँ लाल साड़ी थी तनु में बना चर्म का चीर वहाँ,
कन्धों पर के बड़े बाल वे बने अहो ! आंतों के जाल,
फूलों की वह वरमाला भी हुई मुण्डमाला सुविशाल ![2]

राम-लक्ष्मण दोनों से निराश शूर्पणखा के विकृत रूप-धारण का अंकन है। इसमें राम, लक्ष्मण (सीता भी) तथा अन्य दर्शक (यदि कोई उपस्थित था तो !) आश्रय हैं। शूर्पणखा की रूप-विकृति (निर्लज्ज काम-लिप्सा-जन्य) आलम्बन है। भिड़ के छत्तों जैसी कुरूपता, दांतों की विकरालता, चर्म-चीर, आंत-जाल एवं मुण्डमाला की विगर्हणा आदि उद्दीपन हैं। अध्याहृत थुत्कार, मुँह फेर लेना आदि अनुभाव हैं तथा वैवर्ण्य, मोह आदि व्यभिचारी हैं। इन सब अवयवों से पोषित जुगुप्सा रस-रूप में व्यंग्य है। निम्न पंक्तियों में भी वीभत्स की ध्वनि है—

रक्त से हरी धरा को सींच,
पड़े हैं दुर्विध आँखें मींच।
....
गीध खाते हैं आँखें खींच।[3]

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २९३
२. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ४२
३. विश्व-वेदना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४३

वत्सल और भक्ति रस

पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि वात्सल्य और भक्ति का रसत्व विवादग्रस्त विषय है। फिर भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन दोनों भावों में रस-दशा तक पहुँचने की क्षमता है। पं० रामदहिन मिश्र ने तो इन्हें स्वतन्त्र रस के रूप में परिभाषाबद्ध भी कर दिया है—

(१) "जहाँ ईश्वर-विषयक प्रेम विभावादि से परिपुष्ट होता है वहाँ भक्तिरस जाना जाता है।"[१]

(२) "जहाँ पुत्रादि के प्रति माता, पिता आदि के वात्सल्य परिपूर्ण स्नेह की विभावादि द्वारा पुष्टि हो वहाँ वत्सल रस होता है।"[२]

गुप्त जी के काव्य से दोनों के निदर्शन प्रस्तुत करते हैं—

धनुर्बाण वा वेणु लो, श्याम-रूप के संग,
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम ! दूसरा रंग।[3]

यह निर्विघ्न समाप्ति के लिए ग्रंथारम्भ में लिखा गया मंगलाचरण है। स्थायी भाव है ईश्वरानुराग। राम आलम्बन हैं—उनका श्यामल सौंदर्य तथा धनुर्बाण अथवा वेणु-धारण उद्दीपन हैं। आश्रय तो यहाँ स्वयं कवि ही है। हर्ष, मति, औत्सुक्य आदि संचारी तथा गद्‌गद वचन आदि अनुभाव हैं। भक्ति रस की कैसी कुशल अभिव्यंजना है। निम्न अवतरण भी भक्ति रस से आप्लावित है—

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे।[४]

राम में गूढ़ानुरक्ति का यह अन्यतम उदाहरण है। अब निम्न पंक्तियों में यशोधरा के वत्सलता-वरिष्ठ मानस का उद्वेलन भी देखिए—

किलक अरे, मैं नेंक निहारूँ,
इन दाँतों पर मोती वारूँ !
पानी भर आया फूलों के मुँह में आज सबेरे,
हाँ, गोपा का दूध जमा है राहुल ! मुख में तेरे।
लटपट चरण, चाल अटपट-सी मनभाई है मेरे,

---

१. काव्य-दर्पण, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २१४
२. ,, ,, , पृष्ठ २१८
३. द्वापर, मंगलाचरण
४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ६

तू मेरी अंगुली धर अथवा मैं तेरा कर धारूँ ?
इन दाँतों पर मोती वारूँ ![1]

स्नेह-संवलित, ममतामयी माँ का पुत्र के प्रति हार्दिक उद्‌गार प्रकट हुआ है। उपर्युद्धृत अवतरण में राहुल और यशोधरा आलम्बन-आश्रय हैं। राहुल के छोटे-छोटे दुग्ध-धवल दाँत, अटपटी चाल, चलने की शिशु-सुलभ असमर्थ उत्सुकता तथा फेनोज्ज्वल हास आदि उद्दीपन हैं। स्नेहसिक्त उक्त कथन, पुलक तथा अनुमित नेत्र-विकास, शीश और हस्त-संचालन आदि अनुभाव हैं। हर्ष तथा 'हाँ, गोपा का दूध जमा है राहुल ! मुख में तेरे' से व्यंग्य गर्व संचारी हैं। रस का कितना सुष्ठु परिपाक है। लक्ष्य साहित्य से ऐसे स्थलों के रस-ग्रहण के पश्चात् भी क्या लक्षणकार वत्सल को रस स्वीकार न करने की हठधर्मी करते ही रहेंगे ?

आलम्बनों का वैविध्य

भाव की चरम परिणति रस की विविधता हम गुप्त जी के काव्य में देख चुके हैं। वैसे तो रसों के मूलाधार और स्पष्ट शब्दों में, भाव-उद्‌बुद्धि के कारण-स्वरूप आलम्बनों का भी यत्किंचित् दिग्दर्शन हो चुका है। किन्तु यहाँ पर उनके वैविध्य के परिदर्शन का प्रयत्न किया जाएगा। 'मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ' आलम्बन बन सकता है। जिसके काव्य में सृष्टि के विस्तृत प्रांगण से जितनी अधिक वस्तुएँ गृहीत होंगी वह उतना ही महान् कवि होगा—कवि के महत्ता-निर्धारण की एक कसौटी उसके द्वारा स्वीकृत क्षेत्र की व्यापकता और विस्तार भी है। हमारे कवि के आलम्बनों में अपार वैविध्य है। उसने चेतन-अचेतन, क्षुद्र-विराट्, मानव-दानव, पशु-पक्षी, शुभ-अशुभ, राजा-रंक सभी को समस्त विभिन्नता के साथ अपनाया है।

लक्षणकारों ने रसों में शृंगार का और आलम्बनों में उसी की मुख्य आधार नायिका का विशद विवेचन किया है। शृंगार के ही सम्बन्ध में वर्णन नायक का भी हुआ है पर नायिका का भेदोपभेद-व्याख्यान तो—वर्ण, जाति, देश, पति-प्रेम, सामाजिक स्थिति आदि—न जाने कितने आधार ग्रहण करता हुआ उपहासास्पद कोटि तक पहुँच गया था। एक युग ऐसा भी आया था कि लक्ष्यकारों ने उन्हीं के उदाहरण प्रस्तुत करने में अपनी कवित्व-शक्ति की इति-श्री समझ ली थी। सौभाग्य से अब उस कुप्रवृत्ति का अंत हो गया है। नायक-नायिका का चित्रण तो आज भी होता है (क्योंकि यह तो काव्य का चिरन्तन विषय है), किन्तु अब वह रूढ़ि-मुक्त हो गया है। गुप्त जी की नायिका का सहज सौंदर्य देखिए—

अरुण-पट पहने हुए आह्लाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में ?
प्रकट मूर्तिमती ऊषा ही तो नहीं ?
× × ×
कनक लतिका भी कमल-सी कोमला,
धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला !
× × ×

---

१. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ४६

झलकता आता अभी तारुण्य है,
आ गुराई से मिला आरुण्य है ।[1]

शास्त्रनिष्ठ पण्डित यहाँ भी मुग्धा का सन्धान किए बिना नहीं रहेगा—किन्तु इस सहज चित्रण में शास्त्रीयता का आग्रह कहाँ है ? हमारा विश्वास है कि इन पंक्तियों को लिखते समय कवि के मन में मुग्धा की शास्त्रीय परिभाषा नहीं थी । इसीलिए इसे 'सहज चित्रण' कहा गया है । यह तो हुआ एक सम्भ्रान्त कुल की—'जाई राजघर, ब्याही आई राजघर'—नायिका का अंकन । निम्न अवतरण में निम्न श्रेणी की श्रमशीला नायिका का भी अवलोकन कीजिए—

थी श्रम से उद्दीप्त और भी तप्तस्वर्णशोभाभरणी ।
उभरे अंग साँस बढ़ने से हिलकोरे-से लेते थे,
स्वेद-विन्दु माथे के मोती भाग्य-सूचना देते थे ।
लम्बा बाँस लिये थी कर में निज विजयध्वज-दण्ड यथा,

× × ×

अलकें वा यमुना लहरों से सूंघ रही थी सिर उसका,
भोले मुख पर खेल रहा था बाल्यभाव अस्थिर उसका ।
खड़ा कछोटा, किन्तु कंधेला पड़ा-पड़ा उड़ चलता था,
गोरे बाहु मूल में यौवन फूला-फूला फलता था ।[2]

वय:संधि का कैसा परम्परामुक्त प्रसन्न चित्र है । गतानुगतिकता की गंध भी नहीं ! और अब देखिए निर्लज्जा कामिनी के अनावृत रूप की जगमगाहट—

रत्नाभरण भरे अंगों में ऐसे सुन्दर लगते थे—
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ-सौ जुगनू जगमग जगते थे ।
थी अत्यन्त अतृप्त वासना दीर्घ दृगों से झलक रही,
कमलों की मकरन्द-मधुरिमा मानों छवि से छलक रही ।[3]

यह अभुक्त-काम शूर्पणखा का वासना-पंकिल वृत्तान्त है । इसके विपरीत आलेखन है साकेत के चौथे सर्ग में मर्यादा-संकुचित सीता के नियन्त्रित-काम कुलवधू-रूप का ।

पुरुषों में राम तो कवि के आराध्य हैं—उनके सौंदर्य, शक्ति और शील-समन्वित रूप का तो उसने बड़ी उमंग से बखान किया ही है । सिद्धराज जयसिंह के धीरोदात्त्य के भी दर्शन कीजिए—

युवक उदार-वीर उच्च उदयाद्रि के
शिखर-समान, चित्र भानु-सा किरीट था,
सहज प्रसन्न-मुख, लोचन विशाल थे,

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १९
२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २२
३. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १५

भाल पर भौंहें दृढ़ निश्चय की रेखा-सी।
लाल-लाल होठों पर सूक्ष्म मसि-लेखा थी।

*　　　*　　　*

पीन वृष-स्कन्ध, क्षीण सिंह-कटि, साहसी,
दीर्घ हस्ति-हस्त, मानों पशुता के गुण्य की
देव-साधना का वह पुण्य-नर क्षेत्र था![1]

उधर अनुकूल नायक नन्द के विषय में यशोदा कह रही हैं—

मेरे पति कितने उदार हैं, गद्‌गद हूँ यह कहते—
रानी-सी रखते हैं मुझको, स्वयं सचिव से रहते।[2]

अर्जुन की रोषाविष्ट उग्र मुद्रा भी दर्शनीय है—

......दृगों का जल गया शोकाश्रुजल तत्काल ही
तब निकल कर नासा-पुटों से व्यक्त करके रोष त्यों
करने लगा निश्वास उनका भूरि भीषण घोष यों—
जिस भाँति हरने पर किसी के, प्राण से भी प्रिय मणी,
करके स्फुरित फिर-फिर फणा फुंकार भरता है फणी।[3]

क्रोध की उपर्युक्त प्रचण्ड ज्वाला का ही प्रतियोगी है ब्राह्मण का सर्वथा शान्त व्यक्तित्व—

द्विजवर्य विघ्नों से रहित,
वेदी निकट, शिशु सुत सहित,
सानन्द सन्ध्योपासना था कर रहा।
परितृप्त गृह-सुख-भोग से,
मन्त्र-स्वरों के योग से,
मानों भुवन की भावना था हर रहा।[4]

ब्राह्मण की प्रशान्त सन्ध्योपासना के उपरान्त भगवदवतार श्रीकृष्ण के शयन-सौन्दर्य का दर्शन-सुख भी लूटिए—

ओढ़े मनोहर पीत पट वे दिव्य रूप-निधान थे,
प्रत्यूष-आतप-युक्त यमुना-ह्रद-सदृश सुविधान थे।
यों लग रहे उनके निमीलित नेत्र युग्म ललाम थे,
भीतर मधुप मूँदे हुए ज्यों सुप्त सरसिज श्याम थे।

*　　　*　　　*

---

१. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २१
२. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १४
३. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ ३७
४. बक-संहार, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ७

नीलारविन्द समान तनु की अति मनोहर कान्ति थी,
गलहार के गज मौक्तिकों में नीलमणि की भ्रान्ति थी ![1]

भगवद्लीला के साथ ही असुरकृत उत्पात पर भी दृष्टिपात कीजिए—

पटके पैर दैत्य दुर्द्धर ने धँसी मेदिनी मूक ;
पटकी पूँछ जलधि चिल्लाया निज मर्यादा चूक !
उछला असुर—हुए शृंगों से मेघों के सौ टूक,
मारी जो हुंकार महिष ने उठी प्रलय की हूक ।[2]

ऐसे राक्षसों का उन्मूलन करने में समर्थ है शक्ति का निम्नांकित चण्डी-रूप—

दोनों सन्ध्याओं के गतिमय थे उनके भ्रूभंग,
उठते थे उनकी त्रिवली में क्या ही त्रिगुण-तरंग !
वह्नि-विभा में था अदृश्य-सा उनकी कटि का ढंग,
भिन्न-भिन्न सुर तेजोमय थे उनके सारे अंग ।[3] आदि ।

—और बालक के वात्सल्य-उद्दीपक चित्र का अपना ही आकर्षण है—

बैठी बहन के स्कन्ध पर
रक्खे हुए निज वाम कर,
कुल-दीप सा बालक खड़ा था स्थिर वहाँ ।
पाकर समय उसने कहा,
थी तोतली वाणी अहा
"मालूं अचुल को मैं अभी, वह है कहाँ ?"[4]

बालक की तोतली वाणी की तुलना कीजिए मधुप की मधुर गुंजार से—

गुन-गुन सगुण गान करके,
मधु मकरन्द पान करके ।
मधुकर मुक्त घूमते हैं
कुसुम कपोल चूमते हैं ।।[5]

षट्पद-से क्षुद्र जीव की क्रीड़ाओं में भी कैसा मोहन भाव है ! ("कीरी" तो नहीं पर) मधुकर के साथ ही तुरंग और कुंजर का गति-चित्र भी लीजिए—

धरा को धसका कर मातंग
बढ़े दिखलाकर निज गति-रंग ।

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २८८
२. शक्ति, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १५
३. शक्ति, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ९
४. वक-संहार, " " २००२, पृष्ठ २०
५. वैतालिक, " " २००८, पृष्ठ १२

उड़ाकर उसकी धूल तुरंग,
चले ज्यों चपल अपांग सभंग ।[१]

और शायद कवियों की ऊंट-विषयक उदासीनता का परिहार करने के लिए कवि ने इस स्थान पर ऊंट को भी याद कर लिया है—

भूमि पर संकट-सा आया,
उसे ऊँटों ने उकसाया ।[२]

पक्षियों के मानवीकृत व्यापारों का सौंदर्य देखना हो तो अधोलिखित पद्य देखिए—

नाटक के इस नये दृश्य के दर्शक थे द्विज लोग वहाँ,
करते थे शाखासनस्थ वे समधुप रस का भोग वहाँ ।
झट अभिनयारम्भ करने को कोलाहल भी करते थे,
पंचवटी की रंगभूमि को प्रिय भावों से भरते थे ।।[3]

मनुष्य आज तक पक्षियों का तमाशा देखता आया है । किन्तु कुशल कवि ने पंचवटी के पक्षियों को ही मानव-अभिनीत नाटक का प्रेक्षक बना दिया है—अभिनेता हैं सीता, लक्ष्मण और शूर्पणखा ।

मूर्त और सचेतन ही नहीं अमूर्त भावनाएँ और अचेतन पदार्थ भी आलम्बन-स्वरूप गृहीत हैं । खण्डकाव्यों और महाकाव्यों के प्रसंग में 'विविध-वस्तु-वर्णन' के अन्तर्गत कुछ उदाहरण दिए जा चुके हैं । यहाँ दो-चार अवतरण और प्रस्तुत करता हूँ । सबसे पहले तो एक आश्रम—किसी मुनि के नहीं, एकलव्य के साधना-आश्रम का अवलोकन कीजिए—

एक ओर थी कुंज शिला पर उनकी[४] **मूर्त्ति गभीर,**
अर्पित थे चरणों में टटके पत्र-पुष्प-फल-नीर ।
धन्वा की टंकार वहाँ थी घंटा-ध्वनि अविराम,
और झलकते बाण-फलक थे पूजा-दीप ललाम ।
झूल रहे थे वृक्षों पर बहु चक्राकृति चल लक्ष ।[५] **आदि ।**

इसके विपरीत घनीभूत वैभव की प्रतिमूर्ति, अमरावती के मित्र-से गगन-चुम्बी नृप-सौध भी देखिए—

कर रहे नृप-सौध गगन-स्पर्श हैं,
शिल्प-कौशल के परम आदर्श हैं ।
कोट-कलशों पर प्रणीत विहंग हैं,
ठीक जैसे रूप, वैसे रंग हैं ।

× × ×

---

१. वन-वैभव, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ६
२. वन-वैभव, " " २००५, पृष्ठ ६
३. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २८
४. गुरु द्रोणाचार्य की
५. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४६

ठौर-ठौर अनेक अध्वर-यूप हैं;
जो सुसंवत् के निदर्शन रूप हैं।[1]

वन-वैभव से सरोवर का वर्णन लीजिए—

उसी वन में था एक तड़ाग,
जहाँ उड़ता था पद्म-पराग।
वहाँ का हरा-भरा भू-भाग,
आप उपजाता था अनुराग।
चौखटे में ज्यों हरे जड़ा,
धरा पर हो सुर-मुकुर पड़ा।[2]

यदि इच्छा हो तो नरक की ओर भी दृष्टिपात कर लीजिए। युधिष्ठिर कह रहे हैं—

अब मुझे दीखते हैं, उड़ते व्यालों से बिखरे बाल कटे,
ये सड़े-गले चलते-फिरते कंकाल कराल, कपाल फटे![3]

अधोलिखित पंक्तियों में भीषण युद्धस्थल का वीभत्स दृश्य भी द्रष्टव्य है—

भर गई सारी रणभूमि रुण्ड-मुण्डों से,
रक्त के प्रवाह छूटे पानी की पुकार थी।
लाल-लाल भूमि सब ओर विकराल थी,
***　　*　　***
कर्तित थी कन्धराएँ, नर्तित कबन्ध थे!
टूटे रथ आँतें-सी बिखेर कर अंगों की,
तड़प रहे थे जन्तु शीघ्र मर जाने को![4]

निष्प्राण को कहीं-कहीं सप्राणता भी प्रदान की गई है—निदर्शन-स्वरूप साकेत की 'कहीं सहज तरुतले कुसुम-शय्या बनी' आदि चिर-प्रशंसित और बहु-उद्धृत पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। इतना ही नहीं अन्य कुशल अधुनातन कवियों के समान ही गुप्त जी ने अमूर्त और अरूप को भी आलम्बन के रूप में ग्रहण किया है, यथा—

दुरदृष्ट, बता दे स्पष्ट मुझे—क्यों है अनिष्ट ही इष्ट तुझे?
तू है बिगाड़ता काम बना, रहता है बहुधा वाम बना।
प्रतिकार-समय तक दिये बिना, छिपकर कुछ अकधक किये बिना—
करता प्रहार तू यहाँ वहाँ, धोखा देता है जहाँ तहाँ।[5]

यहाँ चिर-अभिशंसित अदृष्ट, जो कि अमूर्त है, को ही मूर्तिमन्त कर आलम्बन बनाया

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १४
२. वन-वैभव, "　" २००५, पृष्ठ २१
३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३६
४. युद्ध, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६
५. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ११७

गया है। निम्न पंक्तियों में भी अरूप भाव को सरूप-रूप में उपस्थित किया गया है—

प्रेम भूख नींद ही भुलाता हुआ आता है[१]

अथवा

जो संकोच घटता है परिचय होने से
हाय ! वही बढ़ता है मुझमें न जाने क्यों ?[२]

प्रेम और संकोच दोनों ही अमूर्त हैं—किन्तु उनका चित्रण मूर्तवत् हुआ है। अस्तु !

हमारा विश्वास है कि आलोच्य कवि के आलम्बनगत वैविध्य को हृदयंगम करने के लिए इतना विवेचन ही काफ़ी है। उपर्युद्धृत अवतरणों के पठन के पश्चात् उसकी विस्तार-ग्राहिणी प्रतिभा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

आलम्बन-चित्रण में परिस्थिति का विधान

"हमारी परिस्थिति हमारे जीवन का आलम्बन है, अतः उपचार से वह हमारे भावों का भी आलम्बन है।"[3] अभिप्राय इसका यह हुआ कि मात्र आलम्बन के रूप-विन्यास से रस-कोटि का भावोद्रेक सम्भव नहीं है। उसके लिए अपेक्षित है परिस्थिति का अंकन ! और स्पष्ट शब्दों में अपने आस-पास के चारों तरफ़ के वातावरण में ही आलम्बन का प्रकृत स्वरूप प्रस्फुटित होता है—अन्यथा वह 'शून्य में खड़ा' प्रतीत होता है। कुशल कवि आलम्बन और परिस्थिति के संश्लिष्ट चित्रण द्वारा बिंब-ग्रहण कराते हैं—किन्तु असमर्थ लेखक के केवल आलम्बन पर केन्द्रित रहने पर भी उसका सौन्दर्य अर्द्ध-व्यक्त ही रह जाता है।

प्रस्तुत कवि ने परिस्थिति का पूरा ध्यान रखा है। वह पार्श्ववर्ती दृश्यों के मध्य ही प्रायः आलम्बन की प्रतिष्ठा करता है। प्रमाण-स्वरूप केवल दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

पंचवटी की छाया में है सुन्दर पर्ण-कुटीर बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर, वीर, निर्भीकमना।
जाग रहा यह कौन धनुर्धर जब कि भुवन भर सोता है ?
भोगी कुसुमायुध योगी-सा बना दृष्टिगत होता है ॥[४]

कैसा सरस चित्र है !—सरसता का कारण है आलम्बन और परिस्थिति दोनों का संश्लेषण। यदि यहाँ पंचवटी (पाँच प्रकार के वृक्षों का समाहार) और उसकी छाया, पर्ण-कुटीर तथा स्वच्छ शिला का निर्देश न होता तो चित्र अधूरा और नीरस होता—पाठक के प्रभावित होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। सचमुच परिस्थिति के योग ने आलम्बन को समृद्ध बना दिया है। योजनगंधा पर मुग्ध होते हुए महाराज शान्तनु और उनके चतुर्दिक् वातावरण का अंकन भी देखिए—

---

१. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ६६
२. सिद्धराज, तृतीय " पृष्ठ ६६
३. रस-मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १११
४. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ६

गंगा-तीर समान भाग्य से यमुना-तट भी उन्हें फला,
लेकर दिव्य सुगन्धि एक दिन शीतल-मंद समीर चला।
चौंक पड़े वे उसे सूंघ कर हुई ऊँघ-सी उनकी दूर,
*** * ***
खिलती हुई कली-सी आगे दीख पड़ी योजनगंधा,
हुआ निमेष मात्र में उनका मोहित मनोमधुप अंधा।[1]

शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर चल रहा हो, और सामने अर्द्धस्फुट-यौवन (खिलती हुई कली-सी) सुरभि बिखेरती हुई कामिनी हो तो एक शान्तनु क्या भला किसका मनोमधुप मोहान्ध नहीं हो जाएगा ! आचार्य शुक्ल ने एक स्थान पर कहा है—"उसी परिस्थिति में—उसी संसार में—उन्हीं दृश्यों के बीच जिनमें हम रहते हैं, राम-लक्ष्मण को पाकर हम उनके साथ तादात्म्य-सम्बंध का अधिक अनुभव करते हैं, जिससे साधारणीकरण पूरा-पूरा होता है।"[२] प्रस्तुत प्रकरण में शान्तनु को उन परिस्थितियों में ही मुग्ध होते हुए देखकर जिनमें कोई भी प्राकृत (Normal) जन हो सकता है उनके साथ पाठक का तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यदि यहाँ वातावरण की पृष्ठभूमि न होती तो कदाचित् हम शान्तनु को कामुक, वासना-लिप्त आदि न जाने क्या-क्या कह जाते !—तादात्म्य तो असम्भव ही हो जाता।

इस प्रकार आलम्बन के परिदर्शन में परिस्थिति का चित्रण अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। सच तो यह है कि परिस्थिति-मुक्त आलम्बन का चित्र ही पूर्ण नहीं हो सकता। इस विषय में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र उचित ही कहते हैं—"परिस्थितियों के बीच में आलम्बन का जो चित्र अंकित किया जाता है वह पूर्ण हुआ करता है और पाठक या दर्शक ऐसे ही आलम्बन से तादात्म्य का अनुभव कर सकने में समर्थ हो सकता है।"[3]

उद्दीपनगत विविधता

"जो रति आदि स्थायी भावों को उद्दीपित करते हैं—उनकी आस्वाद-योग्यता बढ़ाते हैं वे उद्दीपन विभाव हैं।"[४] प्रत्येक रस के अपने पृथक् उद्दीपन हुआ करते हैं। उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं—पात्रस्थ और बाह्य। पात्रस्थ के अन्तर्गत आती हैं पात्र की और स्पष्ट शब्दों में आलम्बन की चेष्टाएँ तथा दूसरे में आती हैं 'तदितर बाह्य परिस्थिति'। इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि—"आलम्बनगत चेष्टाएँ तो सभी रसों में हुआ करती हैं, पर बाह्य परिस्थितियों का उद्दीपन के रूप में शृंगार में ही विधान दिखाई देता है। अन्य रसों में भी ये परिस्थितियाँ थोड़ी-बहुत लाई जा सकती हैं। पर काव्यों में इनका उल्लेख बहुत कम पाया जाता है।"[५]

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २२
२. रस-मीमांसा, प्रथम " " १११
३. वाङ्मय-विमर्श, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १३५
४. काव्य-दर्पण : पं० रामदहिन मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५५
५. वाङ्मय-विमर्श : पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १२४

रसों के विवेचन में आनुषंगिक रूप से उद्दीपनगत वैविध्य और विस्तार भी देखा जा चुका है—क्योंकि प्रत्येक रस के विभिन्न उद्दीपन हुआ करते हैं। यहाँ उन पर थोड़ा और विचार कर लिया जाए। पहले पात्रस्थ उद्दीपनों को लीजिए :

सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।[१]

उर्मिला की चेष्टाओं का वर्णन है। उसकी 'गति, स्थिति आदि व्यापारों तथा मुख-नेत्रादि की चेष्टाओं की विलक्षणता' से लक्ष्मण तो अभिभूत हो गए—उस अपांग में कितना तीक्ष्ण आकर्षण रहा होगा ! लक्षणकार इसे ('लीला' स्वभावज अलंकार कहकर) अनुभाव मानेंगे—किन्तु यह अनुभाव से अधिक उद्दीपन है तभी तो लक्ष्मण उसे (अपांग को) 'घाते में कर' अपना प्राप्य (परिरम्भण) ले लेते हैं। निम्न पंक्तियों में वीर के उद्दीपन भी देखिए—

आगया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत-सा,
भीरुओं की कल्पना का सच्चा भय-भूत-सा।
बोला दूर से ही वह—"व्यर्थ होगा भागना !"

* * *

राक्षस बहन को हटाके भिड़ा भीम से,
कौशल में बल में वे दोनों थे असीम-से।
लड़-लड़ जाते क्रुद्ध गंडकों से मुंड थे,
टांगें मारते थे मत्त वारणों के शुंड थे।[२]

भीम और हिडिम्ब का घोर युद्ध है। हिडिम्ब का अतुल पराक्रम, उसकी प्रचण्डता और अपनी बहन हिडिम्बा को एक ओर धकेलना तथा 'व्यर्थ होगा भागना' से व्यंजित पांडुओं को धमकी आदि उद्दीपन हैं।

एकान्त में हँसते हुए सुन्दर रदों की पाँति से,
धर चिबुक मम रुचि पूछते थे नित्य तुम बहु भाँति से।
वह छवि तुम्हारी उस समय की याद आते ही वहीं,
हे आर्यपुत्र ! विदीर्ण होता चित्त जानें क्यों नहीं ॥[३]

करुण-सिक्त इस पद्य में आलम्बन हैं अभिमन्यु। उनका सौंदर्य और 'धर चिबुक मम ......' से व्यंग्य उत्तरा के प्रति अतिशय प्रेम उद्दीपन हैं। निश्चय ही अभिमन्यु का अनिंद्य सौंदर्य और अतिशय पत्नी-प्रेम अथवा अनुकूलपतित्व उत्तरा के शोक को द्विगुणित कर रहे हैं।

लक्ष्य करने की बात है कि पूर्वोल्लिखित तीनों उदाहरणों के उद्दीपनों में पर्याप्त वैभिन्न्य

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३०
२. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १८, २१, २३
३. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ २३

है—वरन् कुछ भी साम्य नहीं। अन्य रसों के भी उदाहरण देकर इस बात को और विशद रूप में सिद्ध किया जा सकता है।

उद्दीपन के रूप में प्रकृति (परिस्थिति)

पात्रस्थ उद्दीपनों का ऊपर निरूपण हो चुका है। अब बहिर्गत के विवेचन की अपेक्षा है। बहिर्गत उद्दीपन से अभिप्रेत है पात्र-इतर उद्दीपक पदार्थ। मैं उन्हें प्रकृति कहता हूँ—मानवेतर सृष्टि को ही तो प्रकृति के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रकृति आलंबन के रूप में भी गृहीत होती है, आलोच्य कवि ने भी की है—किन्तु उसके काव्य में वह अधिकांशतः उद्दीपन-रूप में ही आई है। इस अध्याय के पूर्वोद्धृत अवतरणों में अधिकांश उद्दीपन प्राकृतिक अथवा बाह्य ही हैं। संयोग शृंगार के परस्थ उद्दीपन देखिए—

साँझ को ही रात हुई उनको गहन में
धारे गगनस्थली ने तारे रत्न चुनके
चमके वे नपुरों की रुन-झुन सुनके
सुन पड़ी राग की नई-सी टेक उनको
दीख पड़ी सुन्दरी समक्ष एक उनको
उत्थित वसुन्धरा से रत्नों की शलाका थी
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी।[1]

प्रहरी-रूप में स्थित भीम के पास मानव-रूप-धारिणी हिडिम्बा के आगमन का वर्णन है। उसका अपना सौंदर्य प्रभूत प्रभावशाली है। पर गहन कान्तार की सांझ जो अन्धकार और निस्तब्धता में जनपद की रात्रि के ही समान होती है तथा गगन-स्थित नक्षत्र सुन्दर हिडिम्बा की मन्द्र-मधुर झंकार के मोहक प्रभाव को और भी घनीभूत कर देते हैं। लक्ष्मण भी 'ढलती रात' में अकेली शूर्पणखा को देखकर अत्यन्त विस्मित हुए थे।[2] ये सब बहिर्गत उद्दीपन हैं।

कूक उठी है कोयल काली!
ओ मेरे वनमाली!
चक्कर काट रही है रह-रह, सुरभि मुग्ध मतवाली,
अम्बर ने गहरी छानी यह, भूपर दुगुनी ढाली![3]

यहाँ बाह्य पदार्थ अथवा परिस्थिति वियोगिनी यशोधरा के विरह को उद्दीपित कर रही है।

पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि बहिर्गत उद्दीपन शृंगार में ही मिला करते हैं। अन्य रसों में प्रायः उनका अभाव रहता है। हमारे कवि के बारे में भी यही सत्य है।

---

१. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२

२. पंचवटी

३. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ४४

फिर भी शृंगार-इतर रसों में बाह्य उद्दीपनों की योजना के दो-चार उदाहरण मिल ही जाएँगे, यथा—

तम के तन में कुछ घाव लगे-से दिये दीख पड़ते थे,
दूरागत श्वान-शृगाल-शब्द ही कानों में गड़ते थे।
दिन भी दुपहर में स्तब्ध, रात थी यह तो, गाढ़ी-गहरी,
***　　　*　　　***
भीतर अबाध घुस गया चोर-सा वह[1] जीवन का ज्वारी।
***　　　*　　　***
हलचल होने से चौंक-चौंककर इधर-उधर जन जागे,
हक्के-बक्के से—"कौन-कौन ?" कह जिधर बना उठ भागे।[2]

भयानक के इस चित्रण में भी प्राकृतिक परिस्थिति—टिमटिमाते हुए लघु-दीप, दूरागत श्वान-शृगाल-शब्द तथा निशा की निस्तब्ध प्रगाढ़ता—बाह्य उद्दीपन ही हैं।

हड़प रहे थे स्यार गीध शव नोंच के।[3]

इस पंक्ति में वीभत्स के बहिर्गत उद्दीपन का आलेखन है। और भी कुछ उदाहरण सुगमता से मिल सकते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि गुप्त जी के काव्य में राशि-राशि उद्दीपन उपलब्ध हैं।—वे पात्रस्थ भी हैं, और बाह्य भी। सब से बड़ी बात यह है कि वे विभिन्न क्षेत्रों से गृहीत हैं—सुन्दर भी हैं, असुन्दर भी हैं, सुखद हैं और दुखद भी हैं।

रसाभास

रस के साथ ही रसाभास पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। अनुचित प्रवृत्ति-मूलक रस ही रसाभास के नाम से अभिहित किया जाता है अर्थात् अपात्र अथवा अनुपयुक्त पात्र के प्रति किसी भाव की परिणति ही रसाभास के रूप में अभिशंसित है। रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य के सामने जब नैतिकता अथवा औचित्य-अनौचित्य का सवाल आया तब उसने मानव-मन के सभी अनैतिक और औचित्यरहित उद्वेलनों की परिव्यक्ति को रसाभास कहकर निन्दित ठहराया। स्पष्ट शब्दों में अभिप्राय यह कि रसाभास अनुचित, अनैतिक और अनुपयुक्त संबन्धों-संसर्गों पर आधृत है। अनौचित्य और अनैतिकता की सभी विचारक मनीषियों ने निन्दा की है—हमारा कवि भी इनका घोर शत्रु है। किन्तु जीवन में तो इनका अनस्तित्व नहीं है! फलतः व्यापक जीवन को अपने काव्य का विषय बनाने वाला कवि अनुचित और अनैतिक भाव-तरंगों से भी एकदम अछूता नहीं रह सकता। इसीलिए गुप्त जी के काव्य में रसाभास के भी उदाहरण सहज-उपलब्ध हैं, जैसे—

---

१. अश्वत्थामा
२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४०५
३. युद्ध, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६

हे अनुपम आनन्द-मूर्ति, कृशतनु, सुकुमारी,
बलिहारी यह रुचिर रूप की राशि तुम्हारी!
क्या तुम हो इस योग्य, रहो जो बनकर चेरी,
सुध-बुध जाती रही देखकर तुमको मेरी।
इन दृग्बाणों से बिद्ध यह मन मेरा जब से हुआ,
है खान-पान-शयनादि सब विष-समान तब से हुआ।[1]

सैरन्ध्री नामधारिणी द्रौपदी के प्रति कीचक के वचन हैं। साधारणतः रस के सभी अवयव उपस्थित हैं। द्रौपदी-कीचक आलंबन-आश्रय हैं। द्रौपदी का सौन्दर्य और सौकुमार्य तथा एकान्त स्थान उद्दीपन हैं। हर्ष, आवेग तथा 'क्या तुम हो इस योग्य, रहो जो बनकर चेरी' से व्यंग्य वितर्क आदि संचारी हैं। अनुभाव हैं उक्त वचन तथा टकटकी लगाकर द्रौपदी को देखना आदि। किन्तु यह सब अनौचित्यपूर्ण है। परस्त्री के प्रति प्रेम-रूप अनैतिक कार्य है अतएव यह शृंगार रस न होकर उसका रसाभास है। दृढ़ शास्त्रीय दृष्टि से निरिन्द्रिय वनस्थली पर रति-विषयक आरोपण—

लेकर सुख की सांस स्वस्थ थी आगतपतिका वनिका,
चौमासे भर तक चिन्ता से मुक्त हुई वह धनिका।[2]

—भी शृंगार रसाभास ही है। किन्तु ऐसे चित्रणों को अभिशंसनीय न मानकर कल्पना का वरदान ही समझना चाहिए।

शृंगार के ही समान अन्यान्य रसों के भी रसाभास होते हैं। पर साहित्य में अधिकतर शृंगार, रौद्र और हास्य के ही रसाभास का आलेखन हुआ करता है। कहीं-कहीं वीर का रसाभास भी देखने को मिल जाएगा। किन्तु शेष की कल्पना ही असंगत है—सम्पूर्ण लक्ष्य साहित्य इस बात का प्रमाण है। मैथिलीशरण जी के काव्य से रौद्र और हास्य के रसाभास का एक-एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

दण्ड, ओहो दण्ड, कैसा दण्ड ?
पर कहाँ उद्दण्ड ऐसा दण्ड ?

*　　*　　*

चण्डि! सुन कर ही जिसे, सातंक,
चुभ उठें सौ बिच्छुओं के डंक,
दण्ड क्या उस दुष्टता का स्वल्प ?—
है तुषानल तो कमल-दल-तल्प!
जो द्विरसने! हम सभी को मार,
कठिन तेरा उचित न्याय विचार।

*　　*　　*

---

१. सैरन्ध्री, अष्टमावृत्ति, पृष्ठ २६
२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७३

धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह,
***खा गया जो भून कर पति-देह !*[१]**

यह बात एक पुत्र अपनी माता को कह रहा है।—भरत जैसा शीलवान् पुत्र अपनी जननी कैकेयी पर क्रुद्ध है। शास्त्राभ्यासियों के लिए रस-परिपाक की सम्पूर्ण सामग्री उपस्थित होने पर भी वह अनुचित है, अशिष्ट है। पूज्या, श्रद्धास्पदा माता के प्रति प्रकट किया गया यह रोष अनैतिक है—'भरत से सुत' के लिए लज्जा की बात है। पापकर्मा कैकेयी की भी स्वपुत्र के द्वारा ऐसी अवहेलना अवांछनीय है। परिणामतः उपर्युद्धृत पंक्तियों में रौद्र रसाभास है। हास्य रसाभास का निम्न उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

तुम्हारे भाई बेचारे,
जुए में जो सब कुछ हारे,
विपिन में दीन भाव धारे,
भटकते हैं मारे मारे।
खबर लें उनकी चलो जरा,
कि वन में होगा हृदय हरा।

* * *

विकट यह तीन टिकट मिल के,
हँसा फिर खिल खिल कर खिलके।[२]

दुर्योधन का मामा दुष्ट शकुनि तपस्वी, सहिष्णु और न्यायी पाण्डवों का उपहास करता है—उन पर व्यंग्य करता है। और तब वह कुटिल तीन टिकट (दुर्योधन, कर्ण और शकुनि) अट्टहास करता है। किन्तु पाण्डु-पुत्र उपहास के पात्र नहीं हैं—उन्हें हास का आलम्बन बनाना अनुचित है। इसीलिए यहाँ हास्य रस नहीं है, उसका आभास है।

इस प्रकार गुप्त जी के अपने काव्य में जीवन के अनन्त विस्तार में से अनैतिक, अनुपयुक्त, अभिशंसनीय और अवांछनीय परिस्थितियां भी गृहीत हैं, और रसाभास के अनेक उदाहरण प्राप्य हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से भाव-कोटि

'विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है'—किन्तु जहाँ इनमें से किसी के अभाव अथवा अपूर्णता के कारण रस निष्पन्न नहीं होता वहाँ रस-दशा के स्थान पर भाव-दशा मानी जाती है। इस प्रकार शास्त्र में अपुष्ट रस को ही भाव कहा गया है। पंडित रामदहिन मिश्र ने अपने काव्य-दर्पण में लिखा है—"प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि संचारी, देवता-आदि-विषयक रति और विभावादि के अभाव से उद्बुद्ध-मात्र-रति

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १३६-१३७
२. वन-वैभव, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३-४

आदि स्थायी भावों को भाव कहते हैं।"[1] साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ का भी यही *वक्तव्य है—*

संचारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥[2]

इस विषय में मुझे इतना ही निवेदन करना है कि 'देवादिविषया रतिः' के अन्तर्गत परिगणित—भगवद्-विषयक रति, सन्तति-विषयक रति, राज-विषयक रति, गुरु-विषयक रति, मातृ-भूमि-विषयक रति आदि—में से कम से कम प्रथम दो में रस-परिणति की क्षमता है। अतः उन्हें क्रमशः भक्ति रस और वत्सल रस मान कर मैं उदाहृत भी कर चुका हूँ। आलोच्य कवि की रचनाओं से शेष में से कुछ का निदर्शन यहाँ प्रस्तुत किया जाएगा—

आया एक नवयुवक, उसने गुरु को किया प्रणाम

*　　*　　*

पर विरक्ति से नहीं भक्ति से अपना ध्यान समेट,
रक्खी उसने गुरु-चरणों में मंजुल मधु की भेंट।[3]

• अल्हड़ युवक वनचर एकलव्य और राजगुरु द्रोणाचार्य की प्रथम भेंट का उल्लेख है। नागरिक शिष्टाचार की कृत्रिमता से एकदम मुक्त! रस-चर्वणा में सक्षम न होने पर भी गुरु-विषयक रति का कैसा भोला—किन्तु मोहक चित्रण है। अधोलिखित पंक्तियों में महाकवि-विषयक रति भी दर्शनीय है—

तुलसी, यह दास कृतार्थ तभी—मुँह में हो चाहे स्वर्ण न भी,
पर एक तुम्हारा पत्र रहे, जो निज मानस-कवि-कथा कहे।[4]

यहाँ तुलसी और उनके अमर महाकाव्य रामचरितमानस के प्रति कवि के घनीभूत राग अथवा रति भाव की मधुर व्यंजना है।—और,

"नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।"[5]

—आदि उनके बहु-उद्धृत पद्य में मातृ-भूमि-विषयक रति भाव परिव्यक्त है। प्रकृति-प्रेम को भी साधारणतः प्रकृति-विषयक रति भाव ही माना जाता है। गुप्त-साहित्य में पंचवटी, वन-वैभव तथा साकेत में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं। अनेक प्रसंगों में उनमें से कई पहले ही उद्धृत किए जा चुके हैं—पुनरुद्धरण अनावश्यक है। पंचवटी, सैरन्ध्री आदि रचनाओं में उद्बुद्ध-मात्र रति स्थायी भी देखा जा सकता है। वीर की भाव-दशा का अंकन भी देखिए—

कर्ण था अटूट सार-धारा का प्रपात-सा,

*　　*　　*

---

१. द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २२३
२. साहित्यदर्पण ३।२६०
३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३-४४
४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ११५
५. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २६

बात क्या युधिष्ठिर-नकुल-सहदेव की ?
उनको डुबाकर न उसकी तरंगों ने,
फेंक दिया एक ओर दूर दारुखण्ड-सा।
आप भीम भी क्या इस बार पार पा सके ?
***   *   ***
रक्षा नहीं पा सके वे। किन्तु उन्हें उसने
मारा नहीं, कुन्ती को वचन जैसा था दिया।[1]

अन्तिम पंक्ति पर आकर भाव-धारा को झटका लगता है। उसी के कारण वीर परिपुष्ट नहीं हो पाता—अपुष्ट रह जाता है। अतः यहाँ रस न होकर वीर भाव है—अपुष्ट रस ही तो भाव होता है !

अब प्रधानतया अभिव्यंजित व्यभिचारी भाव के भी दो उदाहरण लीजिए—

हे मित्र मेरा मन न जाने हो रहा क्यों व्यस्त है ?
इस समय पलपल में मुझे अपशकुन करता त्रस्त है।
तुम धर्मराज समीप रथ को शीघ्रता से ले चलो।
भगवान् मेरे शत्रुओं की सब दुराशाएं दलो।[2]

यहाँ अर्जुन का हृद्गत शंका संचारी भाव ही मुख्यतः प्रकट होने के कारण शास्त्रानुसार भाव-ध्वनि है। निम्न पद्य में भी प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेद संचारी-रूप भाव-व्यंजना है—

भव-विभव-भरे गृह से निस्पृह,
निज धर्म-कर्म कर भले भले,
सम्पूर्ण प्रपंचों से ऊपर
उठ पाँच पंच ये कहाँ चले ?[3]

इस प्रकार मैथिलीशरण जी के काव्य में भाव-दशा के असंख्य उदाहरण विद्यमान हैं। निदर्शन-स्वरूप कुछ उपर्युद्धृत हैं। अन्यान्य स्थायी एवं संचारी भावों की भाव-व्यंजना से पूर्ण स्थल भी पुष्कल परिमाण में उपलब्ध हैं। उन सबके अवतरण की न अपेक्षा है और न वह रुचिकर ही होगा। इतने से ही भली-भांति अनुमान लगाया जा सकता है। भाव-दशा के साथ ही लक्षण-ग्रन्थों में भावोदय आदि का भी ज़िकर हुआ करता है। हमारे कवि की रचनाओं में उनका भी प्राचुर्य है। अपनी बात की पुष्टि के लिए सभी का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :

भावोदय

गये लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे,

---

१. युद्ध, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३०-३१
२. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ ३१
३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४२६

"प्यार किया है तुमने केवल !" सीता यह कह मुसकाईं,
किन्तु राम की उज्ज्वल आँखें सफल सीप-सी भर आईं ॥[1]

वन-गमन का प्रसंग है। राम, लक्ष्मण को साथ जाने से रोकना चाहते हैं। पर लक्ष्मण जाने के लिए कटिबद्ध हैं। भावातिरेक से राम के नेत्र अश्रुपूर्ण हो जाते हैं। सचमुच भ्रातृ-भाव-जन्य इस आनन्द के आधिक्य की व्यंजना के निमित्त अश्रु से अधिक सबल माध्यम और कोई नहीं हो सकता था। पं० बालकृष्ण भट्ट ने ठीक ही कहा था—"मनुष्य शरीर में आँसू भी गड़े हुए खजाने के माफ़िक हैं······हर्ष, शोक, भय, प्रेम इत्यादि भावों को प्रकट करने में जब सब इन्द्रियाँ स्थगित होकर हार मान बैठती हैं, तब आँसू ही उन भावों को प्रकट करने में सहायक होते हैं।"[2]

प्रलय

चित्रस्थ-सी, निर्जीव मानों, रह गई हत उत्तरा !
संज्ञा-रहित तत्काल ही फिर वह धरा पर गिर पड़ी,
उस काल मूर्च्छा भी अहो ! हितकर हुई उसको बड़ी ॥[3]

अभिमन्यु की मृत्यु का समाचार श्रवण कर उत्तरा का हृदय धक् से बैठ जाता है। वह निश्चेष्ट हो जाती है, मूर्च्छित हो जाती है। लीनता की यह चरमावस्था है। मगध में गौतम का आगमन सुनकर मोह्याधिक्य के कारण यशोधरा की भी यही दशा हुई थी—

मेरा सुधा-सिन्धु मेरे सामने ही आज तो
लहरा रहा है, किन्तु पार पर मैं पड़ी
प्यासी मरती हूँ; हाय इतना अभाग्य भी
भव में किसी का हुआ ? कोई कहीं ज्ञाता है,
तो मुझे बता दे हा ! बता दे हा ! बता दे हा ![4]

यह कहते-कहते भावावेश में वह गिर पड़ी होगी ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है।

अलंकाराभिधेय नायिकागत चेष्टाओं को भी आचार्यों ने अनुभाव ही कहा है। किन्तु जैसा कि मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ वह अधिक संगत नहीं है। उनमें से अधिकांश तो वास्तव में अनुभाव न होकर उद्दीपन ही हैं। फिर भी किलकिंचित्, मोट्टायित, विहृत, कुतूहल आदि कुछ 'अलंकारों' के अनुभावत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। किलकिंचित् का एक उदाहरण लीजिए—

डाल के विजय-दृष्टि, साथ ही विनय से,
राना के समक्ष नत रानकदे होगई।

---

१. पञ्चवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ४
२. आँसू (निबंध) से
३. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ २१
४. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १२६

दोनों के दृगों में नीर, होठों पर हास्य था;
ओस भरे फूल खिले जा रहे थे सृष्टि में।[1]

प्रिय के लाभ के हर्ष से रानकदे में एक-साथ हास, लज्जा, रोदनाभास आदि प्रकट हो रहे हैं। इस सम्मिश्रण के कारण ही यहाँ किलकिंचित् है।

सञ्चारी-भाव

रस-चर्वणा में सक्षम भाव स्थायी होते हैं—शेष सब अस्थायी। इन अस्थिर भावों को ही संचारी अथवा व्यभिचारी कहा जाता है। सञ्चारी भाव अन्य (स्थायी) भावों को रसावस्था तक पहुँचाने में सहायक तो होते हैं, किन्तु स्वतः रस-परिणति में समर्थ नहीं होते। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में—"अस्थायी भाव वे हैं जो निरन्तर बने नहीं रहते, प्रत्युत समय-समय पर जिनका उदय हुआ करता है और जो क्षणिक होते हैं। यदि ये किसी स्थायी भाव के साथ दिखाई पड़ते हैं तो उसके सहायक हो जाते हैं, और यदि स्वतन्त्र रूप में भी आते हैं तो थोड़े ही समय के बाद मन से हट जाते हैं।"[2]

पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि संचारियों को संख्याबद्ध करना असम्भव है—वे असंख्य हैं। किन्तु लक्षणकारों ने उनकी संख्या तेतीस मानी है। उन तेतीस में भी मरण, अपस्मार, व्याधि आदि कतिपय 'संचारी' तो भाव ही नहीं हैं अर्थात् उनमें शारीरिक स्थूलता का प्राधान्य है। इस विषय में आलोचक-द्वय पं० रामचन्द्र शुक्ल और पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के निम्न वाक्य द्रष्टव्य हैं—

"जो तेतीस संचारी कहे गए हैं वे उपलक्षण मात्र हैं, संचारी और भी हो सकते हैं।"[3] (शुक्ल जी)

"सब सञ्चारियों को भाव कहना उपलक्षण मात्र है।"[4] (मिश्र जी)

हम इन दोनों बातों को एक साथ मानना चाहते हैं अर्थात् हमारी सम्मति में न तो संचारियों की संख्या तेतीस है—और न ही शास्त्रोल्लिखित सभी सञ्चारी वास्तव में भाव ही हैं। फिर भी लक्षण ग्रंथों का संचारी-विवेचन अनर्गल प्रलाप नहीं है। उसमें बहुत कुछ सत्य और तथ्य है। शास्त्र-वर्णित अधिकांश सञ्चारी निश्चयात्मक रूप से शुद्ध सञ्चारी हैं। आलोच्य कवि की रचनाओं से उनमें से अनेक के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं :

शंका

क्षत्राणियों के अर्थ भी सबसे बड़ा गौरव यही—
सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिए जो आप ही।

× × ×

---

१. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ६५
२. वाङ्मय-विमर्श, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १२६
३. रस-मीमांसा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २१५-२१६
४. वाङ्मय-विमर्श, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १२८

अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे, सच जानिए,
मत जाइए सम्प्रति समर में, प्रार्थना यह मानिए ।[१]

उत्तरा चक्र-व्यूह-भेदन के निमित्त गमनोद्यत अभिमन्यु को रोकना चाहती है । उसकी उपर्युक्त पंक्तियों में शंका सञ्चारी की व्यञ्जना है ।

असूया

"भेद ?"—दासी ने कहा सतर्क—
"सवेरे दिखला देगा अर्क ।
राजमाता होंगी जब एक,
दूसरी देखेंगी अभिषेक ?"[२]

कैकेयी के राम और भरत में भेद पूछने पर मंथरा की यह उक्ति है । यहाँ मंथरा की असूया ध्वनित है । असूया साधारणतः बराबर के लोगों में हुआ करती है । किन्तु यहाँ दोनों पक्षों में आकाश-पाताल का अन्तर है । कहाँ राजा भोज, और कहाँ गँगू तेली !—कहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम राम की माता कौशल्या—और कहाँ दासी मन्थरा । उसकी असूया का कारण है कैकेयी के प्रति अनन्य अनुराग जो तादात्म्य की सीमा तक पहुँच गया है । कैकेयी के अतिरिक्त और किसी का भी उत्कर्ष उसकी जलन का विषय है ।

दैन्य

उधर द्रौपदी का दुकूल जब तक न दुष्ट ने हरण किया,
नारी ने नर से निराश हो नारायण का शरण लिया ।
"हा हृदयस्थ हरे ! तुमको भी यदि अभीष्ट यह गति मेरी,
तो फिर मुझ को ही क्या लज्जा, कहे और क्या मति मेरी ?"[३]

इस अवतरण में दैन्य अभिव्यंजित है ।

व्रीड़ा

पंचवटी की कुटी खोलकर
खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी !

*　　　*　　　*

वह मुख देख, पाण्डु-सा पड़ कर,
गया चन्द्र पश्चिम की ओर;
लक्ष्मण के मुँह पर भी लज्जा
लेने लगी अपूर्व हिलोर ॥[४]

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ ६
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३३
३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३८
४. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २६

अन्तिम चरण में लक्ष्मण की व्रीड़ा का अंकन है। साधारणतः स्त्रियों में व्रीड़ा का प्रदर्शन किया जाता है, यह ठीक भी है—लज्जा नारीणां भूषणम्। किन्तु पुरुषों में उसका एकान्ताभाव नहीं है। 'प्रखर ज्योति की ज्वाला' शूर्पणखा के साथ सीता द्वारा देखे जाने पर बिचारे लक्ष्मण का तो रंग ही उड़ गया। लक्ष्मण की वह झेंप सचमुच देखने लायक होगी।

विषाद

भारत, कहो तो आज तुम क्या हो वही भारत अहो !
हे पुण्यभूमि ! कहां गई है वह तुम्हारी श्री कहो ?
अब कमल क्या जल तक नहीं सर-मध्य केवल पंक है;
वह राज-राज कुबेर अब हा ! रंक का भी रंक है ॥[1]

इष्ट-हानि तथा असहायावस्था आदि के आलेखन द्वारा यहाँ विषाद की व्यंजना है।

उग्रता

सोने के कटोरों में अफीम घुलने लगी।
देवीसिंह को भी वह ठीकरे में मिट्टी के
भेजी गई, देखते ही मानी सरदार से
अब न सहा गया, रहा गया न मौन भी—
"अधम अधर्मी, अकृतज्ञ अनाचारी रे,
ऐसा अपमान !" कोड़ा खाके भला घोड़ा ज्यों—
तड़पे, त्यों ठाकुर ने एक झटका दिया,
टूट गये बन्धन तड़ाक,.......................।[2]

अपमान एवं दूषित व्यवहार-जन्य उग्रता ध्वनित है। साकेत से—'मैं निज अलिंद में खड़ी थी सखि, एक रात' आदि पूर्वोद्धृत पद्य में स्मृति तथा प्रलय (अनुभाव) के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत—'मेरा सुधा-सिन्धु मेरे सामने ही आज तो' आदि पंक्तियों में आवेग संचारी व्यंजित हैं।

शास्त्र में अनुल्लिखित कतिपय संचारी

'दधि-मन देत तरंग नित रंग-रंग विस्तार।'[3] निश्चय ही मानव-मन रूपी गम्भीर अम्बुनिधि में अनेकरंगी भाव-वीचियाँ उद्वेलित हैं। लक्षणकारों ने अनेक को परिभाषाबद्ध भी कर दिया है—किन्तु बहुत-सी भाव-तरंगों का अभी नामकरण भी नहीं हो पाया। वे अख्यात और अनाम, स्पष्ट शब्दों में, शास्त्र-बाह्य तरंगें भी गुप्त जी के काव्य में देखी जा सकती हैं :

---

१. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ ८५
२. विकट भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ६
३. पेम-प्रकाश : शाह बरकत-उल्लाह पेमी

उदासीनता

कहा दासी ने धीरज त्याग—
"लगे इस मेरे मुँह में आग।
मुझे क्या मैं होती हूँ कौन ?
नहीं रहती हूँ फिर भी मौन ?"[१]

कैकेयी के धमकाने पर मंथरा के वचन हैं। 'मुझे क्या मैं होती हूँ कौन ?' में उदासीनता व्यंग्य है। आचार्य शुक्ल ने 'मानस' के इसी स्थल—

हमहुँ कहब अब ठकुरसुहाती। नाहित मौन रहब दिन-राती ॥
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छांड़ि अब होब कि रानी ॥

—की मार्मिक व्याख्या करते हुए उदासीनता का वैभव दिखलाया है।[२]

उदासीनता की प्रभावशाली व्यंजना की दृष्टि से यदि इन दोनों अवतरणों की तुलना करें तो निश्चय ही गुप्त जी की पंक्तियाँ हल्की पड़ती हैं, फिर भी हमारे कवि की पूर्वोल्लिखित पंक्तियों में उदासीनता की व्यंजना तो है ही।

चकपकाहट

अकस्मात् किसी असम्भावित बात के हो जाने पर हमारे मन में आश्चर्य से मिलते-जुलते जिस भाव का उदय होता है उसे 'कोई और अच्छा नाम न मिलने के कारण' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही यह नाम दिया है।[3] पंचवटी से इसका एक उदाहरण लीजिए—

मग्न हुए सौमित्र चित्र-सम नेत्र निमीलित एक निमेष,
फिर आँखें खोलें तो यह क्या, अनुपम रूप, अलौकिक वेष !
चकाचौंध-सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला
निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख एक हास्यवदनी बाला ![४]

लक्ष्मण ने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा होगा कि ढलती रात में कानन के एकान्त कोने में इस प्रकार कोई रमणी आ सकती है। पर वह आ गई—लक्ष्मण बिचारे तो चकपका गए, चकित रह गए। यह घटना असम्भव तो नहीं है—किन्तु असम्भावित अवश्य है। इसीलिए इसमें चकपकाहट है अन्यथा अद्भुत की व्यंजना होती।

सारल्य

सरलता भी शृंगार, करुण और वत्सल का संचारी बनकर आ सकती है। नूरजहाँ के भोलेपन पर ही तो जहाँगीर मुग्ध हो गए थे। देखिए अधोवतरण में राहुल का भोलापन कैसे वात्सल्य को परिपेषित कर रहा है—

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३४
२. दे० गोस्वामी तुलसीदास, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ६२-६३
३. दे० गोस्वामी तुलसीदास, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ६३
४. संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १५

> ओ माँ, आँगन में फिरता था
> कोई मेरे संग लगा;
> आया ज्यों ही मैं अलिन्द में
> छिपा, न जाने कहाँ भगा ![1]

—और निम्न पंक्तियों में मातृ-प्रेम की पोषक सरलता की व्यंजना का भी अवलोकन कीजिए—

> बोलीं वे हँसकर—"रह तू, यह न हँसी में भी कह तू।
> तेरा स्वत्व भरत लेगा? वन में तुझे भेज देगा?
> वही भरत जो आता है, क्या तू मुझे डराता है?
> लक्ष्मण! यह दादा तेरा, —धैर्य देखता है मेरा?"[2]

राम द्वारा वनवास का समाचार मिलने पर माता कौशल्या का यह उद्गार है। कैसा भोला सारल्य है!—कितना आकर्षक!! महाराज दशरथ की तीनों रानियों में कौशल्या के प्रति जो हमारे मन में अपेक्षाकृत अधिक श्रद्धा, पूज्य बुद्धि और अपनत्व है उसका एक कारण जहाँ राम की माता होना है वहाँ दूसरा मुख्य कारण उनका सुख-सरल भोलापन ही है।

विदग्धता

> "अधिक असुविधा तो आपको नहीं यहाँ?"
> "धन्यवाद! जो-जो मुझे प्राप्य सो सभी तो है,
> दुर्लभ है और कहीं ऐसी सहृदयता।"
> ऐसा ह्रद एक सुना मैंने आपके यहाँ,
> जो भी गिरे उसमें सलौना बन जाता है।
> अद्भुत है!" राजा मुसकाया और बोला "हाँ"
> "मधुर रहेगी तू वहाँ भी!" कहा भट ने।
> "निस्संदेह?" अर्णोराज बोला······![3]

कांचनदे, अर्णोराज तथा काकभट के इस मधुरालाप की अन्तिम पंक्तियों में विदग्धता की व्यंजना है। इस विदग्धता को रति का संचारी मान सकते हैं।

नैराश्य

> "···············तो भी गुण कर्म से
> तुझको महान मानने को विश्व बाध्य है।
> *　　*　　*　　*

---

१. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ५०
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ७४
३. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ६६

किन्तु क्षमा होती कहीं दानि, तेरे दड में,
तो इस प्रचण्ड वैर का भी यत्न तू ही था ।
पूरक है तेरा एक यहाँ युधिष्ठिर ही ।"
वृद्ध मुसकाए फिर बोले आह भरके—
"राम और भरत सदा ही नहीं मिलते !
जान लिया मैंने अब प्रेम नहीं होने का
जूझना भले तू, किन्तु द्वेष दूर करके ।"[1]

अपने सदैव दोषी किन्तु सम्प्रति क्षमा-प्रार्थी कर्ण से बाण-शय्या-शायी भीष्म पितामह यह बात कह रहे हैं । यहाँ कुल के क्षय का घोर विषाद तो है ही पर साथ ही निराशा भी ध्वनित है । 'राम और भरत सदा ही नहीं मिलते ! जान लिया मैंने अब प्रेम नहीं होने का ।' —इस पंक्ति में विषाद से अधिक नैराश्य की झलक है ।

सारांश यह कि मैथिलीशरण जी के काव्य में परम्परा-प्रसिद्ध ही नहीं अनेक अपरिगणित संचारी भी मिलते हैं ।

निष्कर्ष

मैथिलीशरण जी के काव्य में सभी रसों एवं मूल अथवा प्रधान भावों का निरूपण किया जा चुका है । प्रधान ही नहीं संचारी नामधारी सम्पूर्ण गौण भाव भी उनके काव्य में जगमगा रहे हैं । कुछ के उदाहरण प्रस्तुत किए जा चुके हैं—शेष को भी सहज ही उदाहृत किया जा सकता है । अनपेक्षित समझकर मैंने उन्हें छोड़ दिया है । इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि शास्त्र में उक्त ही नहीं कतिपय अनुक्त संचारी भी गृहीत हैं । बहुत से तो ऐसे भी होंगे जिन्हें (किसी प्रकार के लक्षण आदि के अभाव में) हम पकड़ ही नहीं पाए । इसी प्रकार रसाभास और भाव कोटि आदि के भी अनेक उदाहरण आलोच्य कवि की रचनाओं में प्राप्त हैं । साथ ही आलम्बनगत वैविध्य और उद्दीपनगत वैभिन्न्य तथा अनुभाव-योजना-कौशल पर भी सम्यक् रूपेण दृष्टिपात किया जा चुका है । आलम्बन तो कवि की दृष्टि में परिस्थिति सहित ही आते हैं, उससे पृथक् नहीं ।—और परिस्थिति के चित्रण में उसकी सार-ग्राहिणी प्रतिभा कुशलता से आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग करती है । अनुभाव-विधान में सामान्यतः कुछ उल्लेख्य नहीं है, लेकिन सभी रसों एवं भावों के उपयुक्त अनुभावों का निरूपण ही कवि की सफलता है ।

पूर्व-विवेचन एवं परिदर्शन के पश्चात् पूर्ण विश्वास एवं अधिकार के साथ कहा जा सकता है कि हमारे कवि का भावक्षेत्र अत्यन्त विशद, विशाल एवं व्यापक है । शृंगार, वीर, शान्त, करुण और भक्ति रस कवि को अपेक्षाकृत अधिक प्रिय हैं— इनसे सिंचित राशि-राशि स्थल बिना प्रयास ही लभ्य हैं । देखा जाए तो आलम्बनों में भी इन्हीं रसों के आलम्बनों का विशेष मनोयोग से चित्रण हुआ है जो पाठक के मन पर चिरस्थायी कोमल-करुण प्रभाव

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३६८

छोड़ जाता है। वस्तुतः अन्य रसान्तर्गत आलम्बन तो परिष्कृत रुचि-सम्पन्न आलोच्य कवि को सहज-ग्राह्य ही नहीं हैं। रसाभास भी अनौचित्यपूर्ण होने के कारण उसे स्वभावतः सह्य नहीं है, फिर भी जीवन की पूर्णता का चित्रण करने वाला इनका त्याग नहीं कर सकता। इनके भी प्रसंगप्राप्त दो-दो चार-चार श्रेष्ठ उदाहरण मिल जाना कठिन नहीं है।

सब मिलाकर प्रस्तुत कवि के भावक्षेत्र का अपरिमित विस्तार पाठक को विस्मय-विमुग्ध करने वाला, उसकी प्रतिभा के व्यापकत्व एवं जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में रमने की उसकी अद्भुत शक्ति का परिचायक है।

(ख) प्रबलता, सूक्ष्मता और संवेदनीयता

प्रबलता और सूक्ष्मता

कवि के भावक्षेत्र का विस्तार देखा जा चुका है। आलम्बन और उद्दीपनगत वैविध्य का परिदर्शन भी कर चुके हैं। हम देखते हैं कि मैथिलीशरण जी प्रिय और अप्रिय, व्यक्तिगत और अव्यक्तिगत सभी को अपने काव्य का विषय बनाते हैं। यह उनकी बहुत बड़ी विशेषता है। कोलरिज तो इसे प्रतिभा का एक लक्षण ही मानते हैं।[1] फिर भी केवल वैविध्य-विस्तार अपने आप में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रबलता, तीव्रता, गहराई, सूक्ष्मता आदि भी अपेक्षित हैं।—इनके अभाव में विविधता एवं विस्तीर्णता निरर्थक एवं निष्प्रयोजन हैं। क्योंकि साहित्य 'जीवन के विशिष्ट क्षणों' की—उन वरद क्षणों की रचना है जब कवि आवेशाविष्ट तथा किसी भाव-विशेष की गहराइयों में निमग्न होता है। गहन अनुभूति ही तो काव्य की उद्भावक है। तुलसीदास की भावुकता का विश्लेषण करते हुए इसीलिए शुक्ल जी ने कहा है—"भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावों में पूरी गहराई या तीव्रता भी है ?"[2] गुप्त जी में ये दोनों गुण विद्यमान हैं—अपरिमित विस्तार के साथ-साथ उनके भावों में चिर-प्रभावक्षम सूक्ष्मता और प्रबलता भी है। यों तो रस-निरूपण में प्रकारान्तर से प्रबलता एवं गहनता का तथा संचारियों की विवेचना में सूक्ष्मता का निदर्शन भी प्रस्तुत किया जा चुका है, फिर भी यहाँ उन पर थोड़ा और विचार कर लिया जाए।

पहले प्रबलता को लीजिए। गुप्त जी स्वभाव से अत्यन्त संवेदनशील हैं। यह संवेदनशीलता ही भावना को शक्ति प्रदान करती है। कुछ प्रसंग लेकर बात को स्पष्ट करते हैं—

---

1. A second promise of genius is the choice of subjects very remote from the private interests and circumstances of the writer himself.
Writers on writing : Walter Allen
Edition 1948, page 41.

२. गोस्वामी तुलसीदास, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ७४

चला गया लो, चला गया हो,
चला गया सो पुण्यश्लोक,
ओ विक्षिप्त मनुज, अब तुम सब
हर्ष मनाओ चाहे शोक।
अन्तरिक्ष आहें भरता है,
धरती आज कराह रही,
हा! मनुष्य से ही मनुष्यता
हटकर बचना चाह रही![१]

ये पंक्तियाँ राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के निधन से शोक-संकुल कवि के करुणोच्छ्वास 'अंजलि और अर्घ्य' से अवतरित हैं। गांधी जी सच्चे अर्थों में राष्ट्र के पिता थे। किस देशभक्त को उनकी मृत्यु पर दुःख नहीं हुआ? हमारा कवि तो उनका चिरभक्त है। रेडियो द्वारा यह दुखद समाचार सुनते ही उसे तो मानो काठ मार गया—गहन शोक से अभिभूत वह 'अरे राम! कहते-कहते स्तब्ध हो गया।'[२] वह हार्दिक शोक ही यहाँ उद्वेलित है। निम्न दोहे में राम-भक्ति की तीव्र-गहन अनन्यता भी द्रष्टव्य है—

धनुर्बाण वा वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझपर चढ़ने से रहा, राम दूसरा रंग॥[३]

राम के प्रति तुलसी की चिरप्रशंसित अद्भुत अनन्यता से इसका संतोलन कीजिए।

यह तो हुई स्वानुभूत अर्थात् व्यक्तिगत राग-विराग की बात। किन्तु कवि का आत्म जनसाधारण की अपेक्षा विशद एवं विशाल हुआ करता है, उसमें परस्थ भावनाओं को आत्मवत् अनुभव करने की शक्ति होती है। साधारणतः वे ही तो काव्य-प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति होते हैं जो व्यक्तिगत अनुभव के बिना ही भाव-ग्रहण में, तद्वत् अनुभूति में समर्थ हों।[४] कहते हैं सभी कवियों के अन्तस् में एक विरहिणी निवास करती है। गुप्त जी के विषय में भी यही सत्य है। उर्मिला और यशोधरा के रूप में उनकी हृदयस्थ वियोगिनी ही प्रकट हुई है।

सखि, वे मुझसे कह कर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?[५]

—आदि प्रगीत में पूर्वोक्त विरहिणी का ही सघन और तीव्र उच्छ्वास है। कवि

१. अंजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ११
२. अंजलि और अर्घ्य का 'निवेदन'
३. द्वापर का मंगलाचरण
4. The poetic gifts are generally found in men who can realize what they portray without actually experiencing it.
The Principles of Criticism : W.B. Worsfold Edition 1923, page 169.
५. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ २४

का अपना जन्मजात पौरुष विरहिणी के नारीत्व में विलीन हो जाता है। वह इतना तल्लीन होता है कि यशोधरा में और उसमें कुछ अन्तर ही नहीं रह जाता। कवि का यशोधरामय हृदय फूट उठता है—

हुआ न यह भी भाग्य अभागा,
किस पर विफल गर्व अब जागा ?
जिसने अपनाया था, त्यागा ;
रहें स्मरण ही आते ![1]

विरह और विरहजन्य विषाद कितना तीव्र है ! यह॰ तीव्रता ही कवि और अकवि का निर्णय कराती है। उर्मिला की उक्तियों में और भी अधिक तीव्रता है—

मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी,
मैं बांध न लूंगी तुम्हें, तजो भय भारी।[2]

नव-परिणीता वधू उर्मिला का अपने पति लक्ष्मण के प्रति यह कथन है। कैसा करुण-मधुर उपालम्भ है। हम समझते हैं कि ऐसी पंक्तियों के प्रणयन-काल में कवि या तो स्वयं उर्मिला बन गया है या फिर उर्मिला ही उसके अन्तस् में आ बैठी है।—यही तो भावयोग है। इसी के प्रताप से उत्तरा के शोक में प्रबलता आ सकी है। उससे कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

प्रिय मृत्यु का अप्रिय महा संवाद पाकर विष भरा,
चित्रस्थ-सी, निर्जीव मानो रह गई हत उत्तरा !
संज्ञा-रहित तत्काल ही वह फिर धरा पर गिर पड़ी,
उस काल मूर्च्छा भी अहो ! हितकर हुई उसको बड़ी
कुछ देर तक दुर्दैव ने रहने न दी यह भी दशा
....

तब तपन नामक नरक से भी यातना पाकर कड़ी
विक्षिप्त-सी तत्क्षण शिविर से निकल कर वह चल पड़ी

* * *

प्राणेश-शव के निकट जाकर चरम दुख सहती हुई,
वह नव-वधू फिर गिर पड़ी "हा नाथ ! हा !" कहती हुई ॥[3]

शोक की कैसी प्रबल व्यंजना है ! अन्तर्प्रेरणा के अभाव में केवल शास्त्र-परिगणित अनुभावों और संचारियों के एकत्रीकरण में इतनी शक्ति कहाँ ? प्रबलता की इससे भी अधिक सघनता देखनी हो तो यशोधरा की निम्न उक्ति का पाठ कीजिए—

---

१. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ २५
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १९३
३. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ २१

..................जहाँ जाने से जगत में
कोई मुझे रोक नहीं सकता है—धर्म से,
फिर भी जहाँ मैं आप इच्छा रहते हुए,
जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठ रहती मैं ? छान डालती धरित्री को ।
सिंहनी-सी काननों में, योगिनी-सी शैलों में,
शफरी-सी जल में विहंगिनी-सी व्योम में,
जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं ।

*　　　　*　　　　*

..................हाय इतना अभाग्य भी
भव में किसी का हुआ ? कोई कहीं जाता है,
तो मुझे बता दे हा ! बता दे हा ! बता दे हा ![1]

पाठक को झंझोड़ डालनेवाला घनीभूत प्राबल्य है !—मानो कोई महानद गंभीर नाद करता हुआ प्रबल वेग से बह रहा हो—ऐसे वेग से जिसमें सब कुछ आत्मसात् कर लेने की क्षमता तो हो पर इधर-उधर देखने का, वीचि-विलास का अवकाश न हो । यशोधरा के व्यक्तित्व की यह प्रबलता ही उसे उर्मिला से अलग करती है । यशोधरा और उर्मिला में प्रकृतिगत अन्तर है : एक प्रबल है तो दूसरी तीव्र ! किन्तु दोनों का चरित्र ही अपने आप में आकर्षक है ।

उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त भरत की ग्लानि (साकेत), गौतम का निर्वेद (यशोधरा), शची का रोष (नहुष), ठकुरानी का शोक (विकट भट), यशोदा का वात्सल्य (द्वापर), यशोधरा का वात्सल्य (यशोधरा), गौतम के आगमन पर यशोधरा का मान (यशोधरा), चित्रकूट-सभा में कैकेयी का पश्चात्ताप (साकेत) तथा कौरव-पाण्डव-युद्ध (जय भारत) आदि भी तीव्रता, प्रबलता एवं गहराई की दृष्टि से विशेषतः अवलोकनीय हैं । तीक्ष्ण तीव्रता, अप्रतिबद्ध प्रबलता और गंभीर-गहनता-सम्पन्न ऐसे और इतने स्थल साधारणतः किसी एक कवि की रचनाओं में मिलने दुष्कर हैं । यह गुप्त जी की भावुकता का वरदान है ।

किन्तु उनमें सूक्ष्मता नहीं है । सूक्ष्मता के इस अभाव के लिए उनकी अतिशय भावुकता ही उत्तरदायी है । वास्तव में सूक्ष्मता, तीव्रता और प्रबलता प्रायः एक साथ नहीं मिला करते । मीरा के काव्य में तीव्रता है पर सूक्ष्मता नहीं । इसके विपरीत पन्तजी की कविताओं में सूक्ष्मता तो है—किन्तु प्रबलता का अभाव है । गुप्तजी के विषय में भी यह बात सोलह आने सही है, फिर भी उनके काव्य में सूक्ष्मता का सर्वथा अभाव ही हो सो बात नहीं है । जीवन और जगत् के प्रबुद्ध पारखी की रचनाओं में उसका अत्यन्ताभाव संभव ही नहीं है । ऊपर यशोधरा और उर्मिला के प्रकृतिगत अन्तर की ओर संकेत किया जा चुका है । यद्यपि दोनों सम्भ्रान्त कुल की वियोगिनियां हैं—दोनों को पति-वियोग की दुःसह व्यथा सहन करनी

---

१. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १२५-१२६

पड़ रही है, फिर भी वे कितनी पृथक् हैं।—उनमें शील-वैभिन्न्य है। शील दशा को पहुँचे हुए इन भावों की व्यंजना कवि ने दोनों के चरित्र में आरंभ से अन्त तक की है। यह उसकी सूक्ष्म-ग्राहिणी प्रतिभा की ही द्योतक है। दो-एक प्रसंग और लीजिए। कौशल्या और सीता देवार्चन की सामग्री संजो रही हैं।[1] 'पवित्रता में पगी हुई' सद्यःस्नाता 'कौशल्या कोमल-काया' बैठी हुई हैं, और सीता—

'मां ! क्या लाऊं ?' कह कह कर —पूछ रही थीं रह रह कर।
सास चाहती थीं जब जो, —देती थीं उनको सब सो।
कभी आरती, धूप कभी, सजती थीं सामान सभी।[2]

सद्गृहस्थी का उज्ज्वल एवं आदर्श चित्र है।—सास-बहू के आधुनिक वैमनस्य से इसकी तुलना कीजिए। आरती का सामान सज ही रहा था कि राम भी अनुज सहित वहाँ पहुँच जाते हैं। माँ उन्हें देखते ही, प्रणाम की प्रतीक्षा किए बिना ही—आशीर्वाद देने लगती हैं। कौशल्या की निस्स्वार्थता अथवा अहंकार-शून्यता की प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक था—क्योंकि प्रणाम की प्रतीक्षा भी तो अहं की ही द्योतक है। ख़ैर, माँ तो आशीर्वाद में व्यस्त थीं, किन्तु—

हँस सीता कुछ सकुचाईं, आँखें तिरछी हो आईं।
लज्जा ने घूंघट काढ़ा— मुख का रंग किया गाढ़ा।[3]

शास्त्राभ्यासी यहाँ व्रीड़ा संचारी और किलकिंचित् भाव की खोज करेंगे। किन्तु इसमें कुछ ऐसी बात है जिसे उन दोनों के कटघरे में बन्द नहीं किया जा सकता। क्योंकि उक्त पंक्तियों में परिव्यक्त 'मधुर संकोच' का कारण केवल रति नहीं है वरन् रति से भी अधिक मर्यादा है। इसीलिए तो सीता के अभ्यस्त हाथ घूंघट काढ़ लेते हैं। रति और मर्यादा-जन्य इस संकोच की व्यंजना का अवसर भी कवि ने उपयुक्त ही ढूँढ़ा है। यदि मन्द हास, सकुचाना, नेत्र-वक्रता, घूंघट काढ़ना आदि ये ही व्यापार इस समय और स्थान पर न दिखा कर कहीं और, मान लीजिए वन में जाते हुए पथ में अथवा वन में, दिखाए जाते तो अमर्यादित माने जाते। मर्यादा-मण्डित इस मनोहर व्यक्तित्व के विपरीत है शूर्पणखा का निर्लज्जता-कलुषित चरित्र। देखिए वह स्वयंदूतिका किस प्रकार लक्ष्मण के समक्ष अपना कुत्सित प्रस्ताव रखती है—

अरे, कौन है, वार न देगी जो इस यौवन-धन पर प्राण ?
खोओ इसे न यों ही हा हा ! करो यत्न से इसका त्राण।
किसी हेतु संसार भार-सा देता हो यदि तुमको ग्लानि,
तो अब मेरे साथ उसे तुम एक और अवसर दो दानि ?[4]

---

१. साकेत, चतुर्थ सर्ग
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ७२
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ७३
४. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २१

लक्षणकारों ने व्रीड़ा को संचारियों में परिगणित किया है, निर्लज्जता को नहीं । यहाँ वही प्रमुख है, और उसके लिए पात्र भी सर्वथा उपयुक्त—राक्षसी शूर्पणखा है । उसके अतिरिक्त और किसका इतना साहस हो सकता है कि ढलती रात में अकेले ही जंगल में घूमती फिरे तथा पर-पुरुष से ऐसा प्रस्ताव करे । पात्र और परिस्थिति का ऐसा सुष्ठु संयोग अन्त-र्प्रवेशिनी दृष्टिसम्पन्न कवियों के द्वारा ही संभव है । उर्मिला के विरह-वर्णन में तो कवि और अधिक सूक्ष्मता तक पहुँचा है । वियोगिनी उर्मिला की अर्द्ध-विस्मृति का सूक्ष्म-तारल्य दर्शनीय है—

भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी—'आओ ।'
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोलकर—'जाओ ।' [1]

विरह-मूढ़ उर्मिला को जब कभी अवधि विस्मृत हो जाती है तो वह प्रियतम का आकुल आह्वान करती है—किन्तु स्वप्न में भी यदि वे अपने पास दिखाई दे जाते हैं तो वह चौंक कर उठती है और उन्हें जाने के लिए कहती है । जिसके लिए मर रही है उसी को जाने के लिए क्यों कह देती है ? डा० सहल तो 'आओ' और 'जाओ' को क्रमशः काम और लज्जा के द्योतक मानकर उसे मध्या नायिका कहना चाहते हैं ।[2] बल्कि उपर्युक्त पंक्तियों को उद्धृत करने से पूर्व उन्होंने स्पष्ट ही लिखा है—"निम्नलिखित छन्द में मध्या नायिका की भाँति उर्मिला का चित्रण कवि ने किया है ।"[3] किन्तु हम गुप्त जी के काव्य का अध्ययन करते समय मुग्धा-मध्या-प्रौढ़ा आदि के प्रपंच में न पड़ने का अनुरोध करते हैं । सचमुच वह कवि और उसकी कामना के प्रति अन्याय होगा ।

'आओ' और 'जाओ' की बात चल रही थी । उर्मिला 'जाओ' कहती है मर्यादा-भंग की आशंका से—इसीलिए की अभी चौदह वर्ष पूरे नहीं हुए । उसे अवधि की पूर्ति से पहले स्वप्न में भी प्रिय का आगमन असह्य है । यदि ऐसा न होता तो उर्मिला और शूर्पणखा में अन्तर ही क्या रह जाता ? निश्चय ही पूर्वोल्लिखित अर्द्ध-विस्मृति का चित्रण उर्मिला के मध्या-रूप के पुरस्कार के लिए नही वरन् श्रेय के निमित्त प्रेय के बलिदान के लिए हुआ है ।

मंथरा-कैकेयी संवाद में भी सूक्ष्मता देखी जा सकती है। किन्तु वह पूर्ववर्ती कवियों—वाल्मीकि और तुलसी से ज्यों की त्यों गृहीत है । फिर भी उसका सफल निर्वाह स्तुत्य ही है—क्योंकि सूक्ष्मता का अन्तरण भी तो दुष्कर है ।—और दो-एक स्थलों पर कवि का हास्य तो काफ़ी सूक्ष्म हो गया है । शब्द-लिंग पर आधृत लक्ष्मण-उर्मिला का सूक्ष्म परिहास देखिए—

उर्मिला बोली—"अजी, तुम जग गये ?
स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गये ?"
"मोहिनी ने मन्त्र पढ़ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ !"[4]

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६५
२. दे० साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ५
३. साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ५
४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २१

किसी कवि की सूक्ष्म-ग्राहिणी प्रतिभा के मूल्यांकन का एक और उपाय है। जिस कवि में सूक्ष्म-निरीक्षण की जितनी अधिक शक्ति होगी उसके काव्य में उतने ही अधिक संचारी—परम्परा-प्रसिद्ध मोटे-मोटे संचारी नहीं वरन् शास्त्र में अनुल्लिखित छोटे-छोटे सूक्ष्म भाव—मिलेंगे। प्रस्तुत कवि के काव्य से ऐसे कुछ छोटे-छोटे अप्रसिद्ध संचारियों को उदाहृत किया जा चुका है। यहां दो उदाहरण और प्रस्तुत करते हैं—

किन्तु जगद्देव नत मस्तक खड़ा रहा
मानों कुछ सोचता था, बोला कुछ देर में—
"सचमुच महाराज, आज महाकाल ने
आपको प्रसाद दिया, इच्छा यही देवी की
भय से पराजय न मानूं किन्तु आपके
वीरोचित विनय-विवेक व्यवहार से
हार मानता हूँ, और होता हूँ अधीन मैं।"[1]

शायद यहां मति की व्यंजना बताई जाएगी। लेकिन यह ठीक नहीं है। वस्तुतः इस अवतरण में जयसिंह की उदारता पर मोहित वीर जगद्देव की कृतज्ञता व्यंग्य है। अब शास्त्र में उसका उल्लेख हो या न हो—किन्तु जीवन में तो उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। गुहराज के निम्न वचनों का अपूर्व मार्दव भी दर्शनीय है—

······मृगयाशील कभी फिर भी यहाँ—
पड़ सकते हैं चारु चरण ये, पर कहाँ
आ सकती हैं, बार-बार माँ जानकी ?
कुलदेवी-सी मिली मुझे हाँ, जानकी।
भद्रे, भूले नहीं मुझे आह्लाद वे,
मिथिला पुर के राजभोग हैं याद वे।
पेट भरा था, किन्तु भूख तब भी रही !
एक ग्रास में तृप्त न कर दूँ तो सही ![2]

परम्परागत किसी भी व्यभिचारी की स्थिति यहां नहीं है। किन्तु सौजन्य या विनम्रता जैसे किसी कोमल संचारी की सहज ही कल्पना की जा सकती है। वास्तव में, जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं, जब उग्रता को संचारी माना जाता है तो उसके प्रतियोगी सौजन्य या विनय की गणना भी संचारियों में की जानी चाहिए।[3] गुहराज की इस उक्ति में उसी की व्यंजना है।

यह सब कहने का तात्पर्य यह कि मैथिलीशरण जी के काव्य में सूक्ष्मता भी मिल सकती है। किन्तु ऐसे प्रसंग कम हैं—अन्य महाकवियों की तुलना में बहुत कम हैं। वास्तव

---

१. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४७-४८
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ६७
३. दे० रस-मीमांसा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २२०

में वे प्रबलता के कवि हैं—सूक्ष्मता के नहीं।—और जैसा कि मैं पहले भी निवेदन कर चुका हूँ ये दोनों गुण प्रायः एक साथ नहीं मिला करते। इन दोनों का मणि-कांचन संयोग तो किसी एकाध कविपुंगव में ही देखने में आता है। हिन्दी में तुलसीदास के बाद प्रसाद ही उसके अधिकारी हुए हैं। निश्चित रूप से हमारे कवि में वह बात नही है। भाव-प्रबलता की दृष्टि से तो वह प्रथम कोटि का ही कवि ठहरता है—प्रसाद से किसी प्रकार भी कम नहीं। किन्तु सूक्ष्मता की दृष्टि से मैथिलीशरण उनकी स्पर्धा नहीं कर सकते।

संवेदनीयता

यह काव्य का सबसे पहला और अनिवार्य उपबंध है। उसका तो सारा प्रपंच ही संवेदनीयता को लेकर रचा गया है। अपने भावों, अनुभूति अथवा मनोदशा को संवेद्य बनाना—पाठक को भी उसी स्थिति में ले आना—कवि-कर्म का प्रमुख अंग है। उसे अपनी अनुभूति को सहृदय-संवेद्य बनाना ही पड़ेगा। किन्तु प्रेषणीयता-सम्पादन का यह कार्य सुनिश्चित और सुसंयोजित नहीं हुआ करता। संवेदनीयता तो अनुभूति की सुष्ठु व्यंजना में अन्तर्निहित रहती है। काव्य के लिए अनिवार्य होते हुए भी अनुभूति से पृथक् इसकी कोई सत्ता नहीं है। जब इसे पृथक् माना जाने लगता है तब जैसा कि रिचर्ड्स कहते हैं, यह काव्य के लिए घातक सिद्ध होती है।[१] अस्तु!

संवेदनीयता के निमित्त सबसे पहले कवि के भावों में प्राबल्य की अपेक्षा है। हमारे कवि में पर्याप्त प्रबलता है, यह अभी देख चुके हैं। पुनरावृत्ति अनावश्यक है। दूसरी अपेक्षित शक्ति है सहृदय को बिम्बग्रहण कराने की। इस विषय का विस्तृत विवेचन तो कलापक्ष पर विचार करते समय किया जाएगा—किन्तु यहाँ भी विहंगम दृष्टि डालना अनुचित नहीं होगा। काव्यकार अपने मानस में उद्भूत रूप अथवा भाव-कल्पना को सहृदय तक यथावत् पहुँचाने के लिए एक बिम्ब खड़ा करता है। वह बिम्ब ही पाठक में अभिलषित भाव जगाता है। भावना के प्रेषक अथवा भाव-प्रेषण में सहायक बिम्ब भी मूलस्रोत की दृष्टि से कई प्रकार के हो सकते हैं—उनका चयन प्रकृति से हो सकता है, मानव जीवन से हो सकता है या फिर परिचित और प्रख्यात पुस्तकों, कथाओं आदि के द्वारा यह कार्य सम्पादित किया जा सकता है। प्रस्तुत कवि को प्रकृत बिम्ब अधिक प्रिय हैं। यद्यपि आलम्बन रूप में उसने प्रकृति-चित्रण बहुत कम किया है, फिर भी उसके काव्य में अधिकांश अप्रस्तुत प्रकृत जीवन से गृहीत हैं।—और उनके द्वारा प्रस्तुत को संवेद्य बनाने में उसे काफ़ी सफलता भी मिली है। केवल दो उदाहरण दिए जाते हैं—

---

1. If he (artist) considered the communicative side as a separate issue would be fatal in most serious work.

Principles of Literary Criticism,
Sixth impression, Page 27.

किन्तु कुछ चिन्तित से दीखते हो तुम क्यों ?
भाराक्रान्त तुहिन-कणों से भी कुसुम ज्यों ।[1]

कवि पाठक के मानस-पटल पर चिन्ता-संकुल व्यक्ति अंकित करना चाहता है—वही उसकी अपनी चेतना पर भी अधिकृत है । पर 'चिन्तित से दीखते हो तुम क्यों' से तो लक्ष्य-सिद्धि नहीं होती—पाठक के मन पर अभिप्रेत प्रभाव नहीं पड़ता । अतः कवि उसे स्पष्ट करने के लिए, हृदयंगम कराने के लिए तुहिन-कणों से भाराक्रान्त कुसुम का चित्र उपस्थित करता है । कैसा जाना-पहचाना और अनुभूत बिम्ब उपस्थित किया गया है । इसके द्वारा कवि पाठक की चेतना को प्रभावित कर अपने अनुभव को वहाँ पहुँचाने में समर्थ हो सका है । अर्थात् चिन्तित व्यक्ति की उसके अपने मन में जो मूर्ति घूम रही थी वह पाठक के मन में भी जा बैठी । इस प्रकार कवि की अनुभूति पाठक के लिए संवेद्य बन गई । कीर्ति-शेष महात्मा गांधी के विषय में लिखित निम्न पंक्ति देखिए—

कुछ न सूझते अँधियारे में उजियाला सा आया तू ।[2]

जब भारतवर्ष दास था; गौरांग प्रभुओं के असह्य अत्याचार जिनकी स्मृति भी लोमहर्षक है हो रहे थे । अत्याचार के घटाटोप से देश में अन्धकार छाया हुआ था—सचमुच दासता-निगड़ित भारत के लिए वह युग अन्धकार का ही था । किन्तु महात्मा जी के राजनैतिक मंच पर आते ही वह अन्धकार, वे अत्याचार दूर होने लगे ।—और आखिर एक दिन उन्हीं के प्रयत्नों से हम स्वतन्त्र हुए । राष्ट्रपिता के इसी रूप को कवि प्रतिष्ठित करना चाहता है । कैसे करे ? कालिमा का कदन करता हुआ प्रकाश तो सभी ने देखा है—उसका बिम्ब-ग्रहण भी सुगम है । अर्थात् सभी का उससे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, चिर-साहचर्य के कारण ! अतः अपनी अनुभूति को प्रेषणीय बनाने के लिए वह उसी को माध्यम बनाता है । कैसा संक्षिप्त, सटीक—किन्तु प्रभावशाली बिम्ब है ।

'जिस पर पाले का एक पर्त्त-सा छाया' आदि साकेत के प्रसिद्ध पद्य में भी यह विशेषता देखी जा सकती है । किन्तु एकान्ततः प्राकृतिक बिम्ब ही गृहीत नहीं है । अपने विचार और अनुभवों के संवेदन के लिए उसने दूसरे प्रकार का विधान भी किया है, जैसे—

(१) **फूल-काँटे एक से कृतज्ञ होके विधि के**
पार्षद बने थे, निज जीवन के निधि के[3]

(२) **कट जावेंगे पुण्यभूमि की पराधीनता के सब पाश,**
पांचाली की लाज रहेगी होगा दुःशासन का नाश ।[4]

---

१. **पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३१**
२. **अंजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३८**
३. **हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११**
४. **गुरुकुल, संस्करण संवत् २००४, पृष्ठ १०२**

(३) कृषक अथक तेरे उद्योगी
जैसे कूट-काव्य-रस भोगी ![1]

इनमें से प्रथम में मानवीय व्यापार का, द्वितीय में महाभारत की कथा का और तृतीय मे काव्यजगत् का आश्रय लेकर अनुभव-प्रेषण का प्रयत्न हुआ है। इन सबसे सहृदय का सनातन परिचय है। अतः ये प्राकृतिक बिम्ब के समान ही उपयोगी हैं।

ध्वन्यात्मक शब्द-योजना द्वारा भी कविगण बिम्ब खड़ा किया करते हैं—वे ध्वनि-चित्रण के द्वारा ही पाठक के लिए अपना अनुभव ग्राह्य बना देते हैं। इसके लिए ध्वनि की सूक्ष्म चेतना अपेक्षित है। हिन्दी में सुमित्रानन्दन पन्त में यह चेतना बहुत विकसित है। किन्तु हमारे कवि को ध्वनि का वैसा परिज्ञान नहीं है, फिर भी दो-चार उदाहरण मिल सकते हैं, यथा—

रिमझिम-रिमझिम रस की बूँदें बरसी जो ऊपर से[2]

वर्षा का दृश्य मनश्चक्षु के समक्ष उपस्थित करने में समर्थ होने पर भी यह ध्वनि चिर-प्रसिद्ध और सर्वपरिचित है अतः इसके लिए ध्वनि के विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। पर मैथिलीशरण जी के काव्य में तो ऐसे उदाहरणों की संख्या भी अल्प ही है।

काव्य को संवेद्य बनाने के लिए तीसरी आवश्यकता है कवि की ईमानदारी अर्थात् निश्छलता। उसे अपनी अनुभूति के प्रति ईमानदार होना चाहिए। क्योंकि सहृदय को भाव-मग्न करने से पूर्व यह अपेक्षित है कि स्वयं कवि ने भी उसका प्रत्यक्षतः अथवा कल्पना द्वारा अनुभव किया हो।—और कवि का यह अनुभव जितना गहन और सघन होगा उसमें सहृदय के मन में वह भाव उद्बुद्ध करने की उतनी ही अधिक क्षमता होगी। यह आवश्यक नही कि हर बात में कवि विश्वास करता हो, फिर भी रचना-काल में उसे तद्गत होना ही पड़ेगा।—"रावण की बात करते हुए राम के विषय में, स्वयं तुलसीदास तुच्छ भावना प्रदर्शित करने के लिए बाध्य होते हैं।"[3] अन्यथा रचना नीरस और प्रभावहीन होगी। मैथिलीशरण जी की असंदिग्ध निश्छलता तो सर्वमान्य है। सचमुच वे मनसा, वाचा, कर्मणा छल से दूर हैं। उनके काव्य की संवेदनशीलता का सबसे बड़ा कारण भाव की निश्छलता ही है।—और इसीलिए उनमें इतनी प्रबलता आ सकी है। केवल एक प्रसंग उपस्थित करता हूँ। बौद्ध-दर्शन से कवि पूर्णतः सहमत नहीं है—वह मूलतः वैष्णव है, फिर भी यशोधरा के 'महाभिनिष्क्रमण' खण्ड में गौतम से उसका मानसिक तादात्म्य हो जाता है। अमिताभ के साथ-साथ वह घोषणा करता है—

वह कर्म-काण्ड-ताण्डव-विकास
वेदी पर हिंसा-हास-रास,
लोलुप-रसना का लोल-लास,

---

१. कुणाल-गीत, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ७६

२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७३

३. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५

तुम देखो ऋग्, यजु और साम !
ओ क्षणभंगुर भव, राम-राम ![१]

निर्वेद की पर्याप्त प्रबल व्यंजना है। इस प्रबलता का मूल कारण क्या है? प्रस्तुत पात्र से तादात्म्य। यही भावना की ईमानदारी है। गुप्त जी के काव्य की प्रभावक्षमता का एक और कारण है अभिव्यंजना की अद्भुत् ऋजुता, जैसे—

हरे ! हाय ! क्या से यहाँ क्या हुआ ?
उड़ा ही दिया मंथरा ने सुआ ![२]

पाठक के हृदय पर कोमल-करुण प्रभाव छोड़ जाने वाली उर्मिला की यह उक्ति कितनी ऋजु-सरल है, फिर भी अत्यन्त प्रभावशाली !

किन्तु संवेदनीयता की दृष्टि से यह कवि एकदम निर्दोष भी नहीं है। भारत-भारती का निम्न पद्य लीजिए—

सुख-शान्तिमय सरकार का शासन समय है अब यहाँ,
सुविधा समुन्नति के लिए है प्राप्त हमको सब यहाँ।
अब भी न यदि कुछ कर सके हम तो हमारी भूल है,
अनुकूल अवसर की उपेक्षा हूलती फिर शूल है ॥[3]

निश्चित रूप से यह भारत-भारती की भाव-धारा (बल्कि विचारधारा कहिए) में व्याघात उपस्थित करता है। यद्यपि यह स्थिर सत्य है कि ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से भारतवर्ष में पूर्व उपद्रवों का शमन हुआ, अपेक्षाकृत शान्ति का प्रसरण हुआ, फिर भी गुप्त जी की—स्वातन्त्र्य के पुजारी राष्ट्रकवि की यह भावना नहीं हो सकती। कवि के अस्वीकार करने पर भी मैं ऐसे स्थलों पर बाह्य दबाव ही मानता हूँ। और स्पष्ट शब्दों में यहाँ कवि की उक्ति और मान्यता में अन्तर है—इसीलिए यह प्रभावहीन है। इसमें प्रेरणा-दान की सामर्थ्य नहीं है। इस दृष्टि से गुरुकुल सर्वाधिक सदोष है। उसका अधिकांश भाग संवेदनाहीन है—क्योंकि उसकी रचना हृद्गत अनुभूति से नहीं एक सिक्ख सज्जन के अनुरोध पर हुई थी।

कुछ स्थलों पर भाव-प्रेषण में समर्थ बिम्ब भी प्रस्तुत कवि खड़ा नहीं कर पाया, यथा—

आकाश-जाल सब ओर तना,
रवि तन्तुवाय है आज बना,
करता है पद-प्रहार वही,
मक्खी-सी भिन्ना रही मही ![४]

---

१. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ २०
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २३६
३. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ १७५
४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २०८

आकाश-स्थित सूर्य की परिक्रमा करती हुई पृथ्वी का दृश्य हृदयंगम कराने के लिए
ाकड़े द्वारा प्रहृत मक्खी का रूपक बाँधा गया है। डा० सहल तो यहाँ विराट् रूपक की
ोजना बताते हैं।[1] परन्तु यह विराटता सहृदय-संवेद्य नहीं है, केवल बौद्धिक ऊहापोह है।
कहाँ सूर्य और कहाँ मकड़ा ?—कहाँ पृथ्वी और कहाँ मक्खी ? कोई अनुपात भी तो हो !
ाननुपात और उस पर भी अकाव्योचित ! हम समझते हैं कि इस रूपक की कवित्वहीनता
 लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। तब फिर यह संवेदना का साधक कैसे हो
ाकता है ? और कलाओं में जो उपकरण साधक नहीं बन पाता वह बाधक बन जाया करता
। प्रस्तुत रूपक के विषय में भी यही सत्य है। पर सौभाग्य से ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं।

सब मिलाकर गुप्त जी का अधिकांश काव्य संवेदनापूर्ण है। अपरिमित प्रबलता,
ौढ़ बिम्ब-विधायिनी शक्ति तथा अपूर्व निश्छलता के कारण उसमें उत्कट संवेदनीयता
ा गई है।

(ग) मार्मिक प्रसंगों की पहचान

जीवन एक अविश्रान्त हृदय-संग्राम है—निरन्तर संघर्षशील है। उसके प्रत्येक क्षण
ी अपनी कहानी है। फिर भी कतिपय विशिष्ट क्षण अपेक्षाकृत मर्म-स्पर्शी होते हैं। ये
र्म-स्पर्शी क्षण ही काव्य का विषय हैं—काव्योचित हैं। काव्य के सभी रूपों के विषय में यह
त्य है। प्रबन्ध में यद्यपि समग्र जीवन अथवा खण्ड-जीवन आता है। किन्तु उसके प्राण हुआ
रते हैं कतिपय मर्म-स्थल ! इन मर्म-स्थलों का ही तो प्रबन्धकाव्य में महत्व होता है—बाक़ी
ब कुछ उन्हीं के परिदर्शनार्थ आया करता है या फिर जैसा कि शुक्ल जी कहते हैं शेष इतिवृत्त
न स्थलों तक पहुँचने के लिए ही होता है।[2] वास्तव में कथा के मार्मिक प्रसंगों का चयन
ौर सप्रभाव पुरस्करण ही सच्चे प्रबन्धकार का लक्षण है।—यही उसकी कुशल
बन्ध-कल्पना का परिचायक है। आलोच्य कवि मुख्यतः प्रबन्धकार ही है। उसने दो महाकाव्यों
ौर उन्नीस खण्डकाव्यों का प्रणयन किया है। नवीन काव्य-रूप—यशोधरा, द्वापर और
ुणाल-गीत—भी निश्चित रूप से प्रबन्ध ही हैं। इन सबकी रचना में अनेक मार्मिक प्रसंग

. **दे० साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४५**

. **जिसके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है वे मनुष्य-जीवन के मर्म-स्पर्शी स्थल हैं जो कथा-प्रवाह के बीच-बीच में आते रहते हैं। यह समझिए कि काव्य में कथा-वस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुंचने के लिए होती है।**

जायसी ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ६९

सामने आए—और हमारे कवि ने बड़ी तत्परता एवं कुशलता से उनका निषेवण किया। कवि की इस महत्यात्रा में आने वाले प्रमुख भाव-रमणीय स्थान निम्नलिखित हैं—

कन्या का विवाह और विदाई प्रसंग, बारूजी का अपमान और आत्म-हत्या, वर की वीरगति तथा वधू का सहमरण, हाड़ा कुंभ का धर्म-संकट और अन्ततः आत्म-बलिदान (रंग में भंग), अभिमन्यु का रणोत्साह, उत्तरा का विलाप, अर्जुन का शोक और कोप, अर्जुन की विफलता की कृष्ण-कृपा से सफलता में परिणति (जयद्रथ-वध), देश और विदेश में किसान पर किए गए अत्याचार (किसान), लक्ष्मण-शूर्पणखा संवाद, लक्ष्मण, सीता और शूर्पणखा की वार्ता, निराश शूर्पणखा का विकृत रूप-धारण (पंचवटी), महाशक्ति द्वारा असुर-संहार (शक्ति), द्रौपदी का वचनाघात-सहन, द्रौपदी-सुदेष्णा संभाषण (सैरन्ध्री), दुर्योधन-मण्डली की कपट-योजना, दुर्योधन का जल-विहार और चित्ररथ से तकरार, वृद्ध मन्त्री की युधिष्ठिर से साहाय्य-याचना (वन-वैभव), ब्राह्मण-परिवार पर संकट, कुन्ती के हृदय में कर्त्तव्य और प्रेम का संघर्ष (वक-संहार), देवीसिंह जी का क्षोभ, ठकुरानी का उद्वेलित वात्मल्य, कुंवर सवाई सिंह की कुलक्रमागत मृगेन्द्रता (विकट भट), शची की शोचनीय दशा, ऋषि-कोप और नहुष का पतन (नहुष),हसन और हुसैन की पिपासाकुल मृत्यु (काबा और कर्बला), भीम और हिडिम्बा का वार्तालाप, भीम-हिडिम्बा-युद्ध, कुन्ती-हिडिम्बा वार्ता (हिडिम्बा), गुरु तेगबहादुर की हत्या, गुरु गोविन्दसिंह के पुत्रों का दीवार में चुना जाना, बन्दा वीर वैरागी का पीड़न (गुरुकुल), निरपराध अजित का कारा-बंधन, कारागृह का कटु वैचित्र्य (अजित), सोमनाथ की कर-मुक्ति के निमित्त राजमाता मीलनदे का यात्रा-स्थगन, राजा नरवर्मा की मृत्यु पर भी वीर जगद्देव का पराजय स्वीकार न करना, रानकदे का वरण, पति की मृत्यु के बाद लोभ और अत्याचार की अवस्थिति में भी सतीत्व की रक्षा एवं गौरव-व्यंजना, कांचनदे के हृदय में प्रेम का प्रथम स्फुरण, मदनवर्मा से मैत्री (सिद्धराज), कुणाल द्वारा विमाता के आदेश का शिरोधारण, अन्ध राजकुमार कुणाल और उसकी पत्नी कांचनमाला का भिक्षाटन (कुणाल-गीत), यशोदा का वियुक्त वात्सल्य, लांछित विधृता का देह-त्याग, वासुदेव-देवकी का वात्सल्य-विक्षोभ, गोपी-विरह (द्वापर), जरा, रोग और मृत्यु आदि की विभीषिका का दर्शन कर गौतम का मानसिक संघर्ष, यशोधरा का लांछना-जन्य खेद और विरह, गौतम को लेकर चलनेवाला राहुल और यशोधरा का वार्तालाप, बुद्ध का आगमन और यशोधरा का मान और उत्सर्ग (यशोधरा), लक्ष्मण-उर्मिला का प्रेमालाप, मंथरा-कैकेयी संवाद, कैकेयी की वर-याचना, राम का अयोध्या-त्याग, गुहराज-मिलन, भरत का आगमन और आत्म-ग्लानि, वनवासी राम-सीता की गृहस्थी, चित्रकूट-सभा, उर्मिला-विरह, भरत-माण्डवी का वैराग्यपूर्ण गार्हस्थ्य, लक्ष्मण-शक्ति प्रसंग, साकेतवासियों की रण-सज्जा, लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध, राम-रावण-युद्ध, राम-सीता,लक्ष्मण का पुनरागमन, लक्ष्मण-उर्मिला मिलन (साकेत), योजनगंधाप्रसंग, दुर्योधन की अपरिमित ईर्ष्या, एकलव्य की गुरुभक्ति, लक्ष-वेध प्रसंग, कपट-द्यूत तथा द्रौपदी का केश-वस्त्र-कर्षण, पाण्डवों का वन-वास, कृष्ण को कौरव-पाण्डवों की ओर से रण-निमन्त्रण, मद्रराज की विषम स्थिति, कुन्ती-कर्ण संवाद, अर्जुन का मोह, महाभारत युद्ध, पाण्डव-पुत्रों की छल से हत्या, गान्धारी का विलाप, युधिष्ठिर का

दुःख, पंचपाण्डवों और द्रौपदी का स्वर्गारोहण तथा नहुष, हिडिम्बा, वक-संहार, वन-वैभव और सैरन्ध्री के पूर्वोल्लिखित प्रसंग (जय भारत)।

ऊपर गुप्त-साहित्य के मार्मिक स्थलों की संक्षिप्त सूची दी गई है। अब इनमें से कुछ प्रसंगों पर विचार कर लिया जाए :

हाड़ा कुंभ प्रसंग

लाखा नृपति सीसोदिया राणा चित्तौर के सिंहासन पर बैठते ही प्रतिज्ञा करते हैं—

दुर्ग बूंदी का स्वयं तोड़े बिना जो अब कहीं—
ग्रहण अन्नोदक करूँ तो मैं प्रकृत क्षत्रिय नहीं ![१]

किन्तु बूंदी-दुर्ग-भंजन उतना सहज कार्य नहीं है। अतः शुभैषी सचिव राजप्रतिज्ञा की पूर्ति के निमित्त बूंदी का कृत्रिम दुर्ग बनवाते हैं जिसे तोड़कर राणा अन्न-जल ग्रहण कर सकें। राणा का भृत्य बूंदी-निवासी हाड़ा कुंभ भी उस दुर्ग को देखता है। बूंदी दुर्ग की उस प्रति-कृति को देख स्वभावत. उसके मन में कुतूहल जागृत होता है, लोगों से इसका कारण पूछता है। और कारण जानते ही तो—

हो गया गंभीर मुख, सम्पूर्ण आतुरता गई,
भृकुटि-कुंचित भाल पर प्रकटी प्रभा तेजोमयी।[२]

वह राणा का दास है—किन्तु उसने शरीर बेचा है, धर्म नहीं। तब मातृभूमि की ऐसी तिरस्क्रिया वह क्यों सहने लगा ?—निश्चय ही देश-प्रेम यदि अन्तःकरण का कोई भाव है तो वह देश की भूमि, पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, देशवासियों, देश के ऐतिहासिक स्थानों, सरिता-सरोवरों आदि के प्रेम के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[3] तो फिर जिसके मन में उत्कट देश-प्रेम तरंगायित होगा वह भला अपनी मातृभूमि के प्रसिद्ध दुर्ग—दुर्ग ही क्यों ?—उसकी प्रतिकृति में भी अनुरक्त क्यों न होगा ? जब सर्वशक्तिमान् परमात्मा की भावना एक प्रस्तरखण्ड में की जा सकती है तो किले की उसके प्रतिरूप में क्यों न होगी ?—बस, चाहिए भाव की तीव्रता और सघनता। अन्यथा जैसे कोई महमूद मूर्ति को खण्डित कर सकता है वैसे ही कोई देश-प्रेमहीन व्यक्ति अपने ही हाथ से ऐसे कृत्रिम दुर्ग को तोड़ सकता है, फिर चाहे वह अपनी मातृभूमि के इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग की प्रतिकृति ही क्यों न हो !—वरन् ऐसे मनुष्यों को तो यह पता भी नहीं चलेगा कि यह किस चीज़ की प्रतिकृति है। पर हाड़ा कुंभ उन लोगों में से नहीं है, वह तो—

वन्दना उस दुर्ग की करने लगा अति भाव से,
शीश पर उसने वहाँ की रज चढ़ाई चाव से।[४]

---

१. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २२
२. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २५
३. दे० आचार्य शुक्ल लिखित 'लोभ और प्रीति' (निबन्ध)
४. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २५

मातृभूमि-विषयक कितनी सघन रति है। अपने देश-प्रेम की घोषणा से गला सुखाने वालों में क्या इसका एक अंश भी मिल सकेगा? देश-भक्ति के ठेकेदार जहाँ धाराप्रवाह वक्तृता झाड़ने के पश्चात् निश्चेष्ट हो रहते हैं वहाँ यह वीर—

पुष्ट हो जिसके अलौकिक अन्न-नीर समीर से,
मैं समर्थ हुआ सभी विध रह विरोग शरीर से।
यदपि कृत्रिम रूप में वह मातृभूमि समक्ष है,
किन्तु लेना योग्य क्या उसका न मुझको पक्ष है?
जन्मदात्री, धात्रि! तुझसे उऋण अब होना मुझे,
कौन मेरे प्राण रहते देख सकता है तुझे?[1]

—आदि उद्‌गार प्रकट करने के पश्चात् उस कृत्रिम दुर्ग की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाता है। और जब राणा प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिए आते हैं तब जैसे-जैसे वे निकट आते जाते हैं वैसे-वैसे कुंभ के भाव उग्र होते जाते हैं—तथा 'क्रोध से उसके वदन पर स्वेद-जल बहने लगा।'[2] वह राणा का वेतनभोगी भृत्य है अतः उन्हें सावधान करता है, अन्यथा शर-संधान ही कर देता। बून्दी के कृत्रिम दुर्ग का भंजन भी उसे स्वीकार्य नहीं, उसका तर्क है—

तोड़ने दूँ क्या इसे नकली किला मैं मान के,
पूजते हैं भक्त क्या प्रभुमूर्ति को जड़ जान के?

* * *

है न कुछ चित्तौर यह, बून्दी इसे अब मानिए,
मातृभूमि—पवित्र मेरी पूजनीया जानिए।[3]

अतः—

कौन मेरे देखते फिर नष्ट कर सकता इसे?
मृत्यु माता की जगत में सह्य हो सकती किसे?[4]

और अन्त में वह 'राजपूतों की धरा को कीर्तिधवलित' करता हुआ, देशप्रेम की उज्ज्वल धारा प्रवाहित करता हुआ वीरगति को प्राप्त होता है।

उत्तरा-विलाप

चक्र-व्यूह में पाण्डुवंश-प्रदीप अभिमन्यु को छल से मार दिया जाता है—पाण्डव-पक्ष में सर्वत्र शोक छा जाता है। और बिचारी उत्तरा!—वह तो—

---

१. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २६
२. ,, ,, ,, पृष्ठ २७
३. ,, ,, ,, पृष्ठ २८
४. ,, ,, ,, पृष्ठ २८

चित्रस्थ-सी, निर्जीव मानों रह गई हत उत्तरा !
संज्ञा-रहित तत्काल ही फिर वह धरा पर गिर पड़ी ।[1]

नव-वय में ही जिसके पति की मृत्यु हो गई हो—और पति भी अभिमन्यु-सा विश्रुत वीर ! उस रमणी के शोक का क्या ठिकाना ? उसे तो चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देगा—और बिचारी संज्ञा-शून्य होगी ही ! वरन् ऐसी दशा में तो संज्ञाशून्यता ही वरदान है—किन्तु दुर्दैव को वह भी तो सह्य नहीं । मनुष्य पर दुःख आता है, उसे सहने के लिए उसे अधिक देर तक अचेत भी तो नहीं रहने दिया जाता—विधि का विधान कैसा कठोर है ! अनिष्टकारी अदृष्ट उत्तरा को भी हतचेत नहीं रहने देता—अविलम्ब ही दासियों द्वारा वह होश में लाई जाती है । तब अर्द्ध-विक्षिप्त उत्तरा चरम दुःख सहती हुई प्राणेश-शव के निकट जाकर "हा ! नाथ ! हा !" कहती हुई फिर गिर पड़ती है ।[2]—कैसी घोर विषमता है, एकदम लोमहर्षक ! मृत पति की देह को अपनी गोद में रखकर—

फिर पीट कर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई
कुररी-सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई[3]

उत्तरा बहु-विध विलाप-प्रलाप करने लगती है । ऐसे दुःख की अवस्था में स्त्रियों के लिए सिर और छाती पीटना सहज अनुभव की बात है । राजवधू उत्तरा भी यही करती है जो उसे लोक-सामान्य भूमि पर लाकर उसके दुःख को मानव मात्र के लिए अनुभवगम्य बना देता है । वस्तुतः शोक-प्रसंगों में ही वह क्षमता है जिससे मानव मात्र समान भूमि पर आ खड़े होते हैं ।

उत्तरा के विलाप की बात कर र् थे । सचमुच उसका दुःख अत्यन्त गहन है—प्रिय-मरण से अधिक करुण प्रसंग और क्या हो सकता है ? ऐसी दशा में, ऐसे शोक के अवसर पर सिर और छाती पीटने के अतिरिक्त प्रिय का, प्रियकृत पूर्वसुखों—प्रिय-सम्पर्क से लब्ध आनन्द का स्मरण हुआ करता है । अपने को धिक्कारा जाता है तथा सदैव दोषी दैव को कोसा जाया करता है । इसका कारण किसी रूढ़ नियम का पालन नहीं है वरन् मानव की सहज प्रवृत्ति है । श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं में ऐसे प्रसंगों में इस प्रकार का चित्रण प्रमाण है । वस्तुतः प्रिय-मृत्यु के अवसर पर निरवलम्बता का बोध, स्वयं जीवित रहने में अपनी स्नेह-शून्यता का भान आदि प्रेम की तीव्रता के परिचायक हैं । इसीलिए विश्व के श्रेष्ठ कलाकारों में इस प्रकार का वर्णन मिल जाया करता है । उत्तरा के विलाप में भी इन्हीं तत्त्वों का सम्मिश्रण है—

हे कष्टमय जीवन ! तुझे धिक्कार बारम्बार है
था जो तुम्हारे सब सुखों का सार इस संसार में

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां संस्करण, पृष्ठ २१
२. ,, ,, ,, , पृष्ठ २१
३. ,, ,, ,, , पृष्ठ २२

वह गत हुआ है अब यहां से श्रेष्ठ स्वर्गागार में
हे प्राण ! फिर अब किसलिए ठहरे हुए हो तुम अहो ![1]

यह है उत्तरा का अपार शोक-व्यंजक विलाप । किन्तु उसके हृदय का यह उद्वेलन विलाप तक ही सीमित नहीं है । वह भारतीय नारी है, इससे भी आगे बढ़ती है—सहमरण का निश्चय करती है--

जो 'सहचरी' का पद मुझे तुमने दया कर था दिया,
वह था तुम्हारा इसलिए प्राणेश ! तुमने ले लिया;
पर जो तुम्हारी 'अनुचरी' का पुण्य-पद मुझको मिला,
है दूर हरना तो उसे सकता नहीं कोई हिला ॥[2]

सहृदय विद्वद्‌गण विचार करें कि क्या सती होने की इस कामना ने विलाप को अधिक प्रभावशाली नहीं बनाया है ?---कितना कारुणिक प्रसंग है ! मैं तो इस विलाप को जयद्रथ-वध का सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग समझता हूँ । अभिमन्यु का युद्धोत्साह तथा अर्जुन का कोप भी काफ़ी मर्मस्पर्शी हैं---किन्तु जयद्रथ-वध का मेरुदण्ड तो यही स्थल है । लोक-प्रसिद्धि भी मेरा समर्थन करती है—जयद्रथ-वध करुण-प्रवाह के लिए प्रख्यात है, ओज-प्रसार के लिए नहीं है ।

लक्ष्मण-शूर्पणखा संवाद

पंचवटी का रमणीय स्थान है—प्रकृति पूर्ण यौवन पर है । प्राकृतिक छटा दर्शनीय है : सर्वत्र दुग्ध-धवल ज्योत्स्ना का प्रसार है, शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर प्रवाहित है, मौक्तिकाभ हिमविन्दु विकीर्ण हैं और शान्ति का एकान्त साम्राज्य है—पक्षी तक नीरव निद्रा में मग्न हैं । ऐसे शान्त-कान्त वातावरण में मदन-शोभी वीर लक्ष्मण प्रहरी के रूप में कुटिया के बाहर स्वच्छ शिला पर विराजमान हैं । प्राकृतिक सौंदर्य के संस्पर्श से उनके मन में अनेक मधुर-तरल भावनाएँ उठ रही हैं । वे वन के शुचि-सारल्य पर विचार कर रहे हैं कि इतने में ही कृत्रिमता और अपावनता की मूर्ति शूर्पणखा उपस्थित हो जाती है । लक्ष्मण तो ढलती रात में अकेली अबला को देखकर चकित रह जाते हैं—वे तो कुछ संकोचवश, कुछ मर्यादा-वश और कुछ असंभावनाजन्य चकपकाहट के कारण कुछ बोल भी नहीं पाते । किन्तु प्रगल्भा शूर्पणखा तो तीर छोड़ ही देती है—

शूरवीर होकर अबला को देख सुभग तुम थकित हुए,
संसृति की स्वाभाविकता पर चंचल होकर चकित हुए ![3]

केवल लक्ष्मण पर ही व्यंग्य करके वह संतुष्ट नहीं है वरन् सम्पूर्ण पुरुष जाति पर ही कटाक्ष करती है—

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां संस्करण, पृष्ठ २२

२. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां संस्करण, पृष्ठ २३

३. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १६

प्रथम बोलना पड़ा मुझे ही, पूछी तुमने बात नहीं,
इससे पुरुषों की निर्ममता होती क्या प्रतिभात नहीं ?[१]

निश्चय ही लक्ष्मण 'थकित' थे—और उनके व्यवहार से पुरुषों की निर्ममता भी स्पष्टतः व्यंजित है। कोई किसी के—विशेषतः स्त्री पुरुष के स्थान पर आए—और वह उसकी बात भी न पूछे ! लेकिन लक्ष्मण विचारे करें क्या ?—वे तो ऐसे समय और स्थान पर एक असम्भावित घटना—निस्संकोच सम्मुख खड़ी हुई हास्यवदनी अनिंद्य सुन्दरी—को देखकर सकपका जाते हैं। यद्यपि वातावरण ऐसा मधुर-मधुर है कि लक्ष्मण से रसभोगी (साकेत, प्रथम सर्ग प्रमाण है) कामिनी की कामना कर उठे होंगे—और उर्मिला के ध्यान में (एक निमेष के लिए ही सही) वे मग्न हो भी जाते हैं।[२] फिर भी यह थोड़े ही सोच सकते हैं कि सचमुच कोई आ ही जाएगी। शूर्पणखा को देखते ही एक बार तो वे धक् से रह जाते हैं—ऐसी अवस्था में निश्चय ही कुछ बोलना सम्भव नहीं है। लक्ष्मण को 'थकित' दिखाकर यहाँ लेखक ने अपनी अन्तर्प्रवेशिनी दृष्टि का परिचय दिया है। बस, दो क्षण बाद ही लक्ष्मण संभल जाते हैं—और उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं—

पर मैं ही यदि परनारी से पहले संभाषण करता,
तो छिन जाती आज कदाचित् पुरुषों की सुधर्म्मपरता।[३]

शूर्पणखा ने अपने वक्तव्य में लक्ष्मण के व्यवहार में निर्ममता का संकेत करते हुए पुरुष जाति पर आक्षेप किया है तो लक्ष्मण अपने व्यवहार को ही पुरुष जाति की 'सुधर्म्म-परता' का प्रतिष्ठापक सिद्ध करते हैं। पर यह तो सम्भलने के बाद की गढ़ी हुई बात है। तथ्य तो यही है कि लक्ष्मण सुधर्म्मपरता की रक्षा की इच्छा से नहीं वरन् चकपकाहट के कारण नहीं बोल सके। फिर भी उनका उत्तर प्रत्युत्पन्नमतिसम्पन्न है। पर इससे भी अधिक चमक और धार है—'शूरवीर होकर अबला को देख सुभग तुम थकित हुए'—के व्यंग्य के प्रत्युत्तर में—

शूरवीर कहकर भी मुझको तुम जो भीरु बताती हो,
इससे सूक्ष्मदर्शिता ही तुम अपनी मुझे जताती हो।[४]

यहाँ लक्ष्मण यदि भीरुता के लांछन के उन्मूलन के लिए अपने वीर कृत्यों का बखान करते तो उपहसित होते। किन्तु वे शूरवीरता और भीरुता जैसे दो सम्मुख विरोधी गुणों की एक साथ परिकल्पना को शूर्पणखा की सूक्ष्मदर्शिता बताने लगते है। बिचारी कटकर रह गई होगी !

अब लक्ष्मण बिल्कुल संभल जाते हैं। पहले जिनके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकलता

१. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १७
२. ,, ,, ,, , पृष्ठ १५
३. ,, ,, ,, , पृष्ठ १७
४. ,, ,, ,, , पृष्ठ १८

था अब वे रमणी का परिचय तक पूछने का साहस रखते हैं—

तुम्हीं बताओ कि तुम कौन हो हे रंजित रहस्यवाली ?[१]

किन्तु वह भी चतुरा है । परिचय दिए बिना ही मन्तव्य प्रकट करती है—

समझो मुझे अतिथि ही अपना,
कुछ आतिथ्य मिलेगा क्या ?[२]

पर लक्ष्मण बड़ी शिष्ट कुशलता से अपनी साधनहीनता—किसी वैभव-शाली के आतिथ्य की अपनी असमर्थता का उल्लेख करते हैं—

तुम अनुपम ऐश्वर्यवती हो, एक अकिंचन जन हूँ मैं
क्या आतिथ्य करूँ, लज्जित हूँ, वनवासी निर्धन हूँ मैं ।[3]

लक्ष्मण सहज ही सारी स्थिति स्पष्ट कर देते हैं । अपनी 'अकिंचनता' का भी निश्छल संकेत है—हीनता और दीनता का स्पर्श भी नहीं । किसी भी प्रकार की ग्रन्थि का एकदम अभाव है । पौ फटने तक इसी प्रकार दोनों का वार्तालाप चलता रहता है जो काफ़ी मर्म-स्पर्शी और मनोवैज्ञानिक है । लक्ष्मण-शूर्पणखा के इस संवाद की रोचकता तो असंदिग्ध है ही ।

देवीसिंह जी का रोष

दरबार खास लगा हुआ है । अकस्मात् जोधपुर-नरेश विजयसिंह होठों से सुरा-पात्र हटाकर पोकरणवाले सरदार देवीसिंह से पूछ बैठते हैं—"कोई यदि रूठ जाए मुझसे तो क्या करे ?"[४]—एकदम अप्रासंगिक और असंभावित प्रश्न है । देवीसिंह इसे कौतुक मात्र समझ कर साधारण उत्तर देते हैं—

"खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या ?
ऐसा कौन होगा कि जो रूठ जाय आप से ?"[५]

विजयसिंह के फिर पूछने पर देवीसिंह कहते हैं—

जीवन से हाथ धोवे और मरे मुझसे[६]

इस प्रकार वे कुतूहल-शान्ति का प्रयत्न करते हैं । किन्तु अब राजा एक बिल्कुल अप्रत्याशित प्रश्न कर बैठते हैं—

और तुम रूठ जाओ तो बताओ, क्या करो ?[७]

---

१. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १८
२. " " " , पृष्ठ १९
३. " " " , पृष्ठ १९
४. विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३
५. " " , पृष्ठ ३
६. " " , पृष्ठ ३
७. " " , पृष्ठ ३

इस पर—

देवीसिंह चौंके—"खमा पृथ्वीनाथ, यह क्या !"[1]

निश्चय ही यह चौंकने की बात है। राजा का अपने सरदार से ऐसा पूछना कौतुक मात्र नहीं माना जा सकता। न जाने किसी ने द्वेषवश राजा को कुछ सिखा-बहका दिया हो—इसीलिए देवीसिंह चौंक उठते हैं और जानना चाहते हैं कि 'पृथ्वीनाथ' के मन में ऐसा भाव क्यों आया ? विजयसिंह जी के यह बताने पर कि—

"मैंने पूछा है सहज ही,
यदि तुम रूठ जाओ तो बताओ, क्या करो ?"[2]

आश्वस्त देवीसिंह सहज सामन्तीय उत्तर देते हैं—

"खमा अन्नदाता, यह क्या ?
सेवक हूँ मैं तो और आप मेरे स्वामी हैं;
आपसे क्यों रूठूँगा भला मैं ? आप मुझको—
देते हैं टुकड़े और उनसे मैं जीता हूँ;
जाऊँगा कहाँ मैं फिर रूठकर आपसे ?"[3]

देवीसिंह जी के इस उत्तर में ग्रंथि-विश्लेषक शायद उनकी हीन-भावना और चापलूसी आदि का संधान करेंगे—किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। यह तो सामन्तीय सभ्यता और शिष्टाचार का निदर्शन है। आज भी जब कि वे सामन्त उखड़ गए हैं—बड़े-बड़े सामन्ती राज्य ढह गए हैं, राजस्थान में उन पद-च्युत राजाओं को भी 'अन्नदाता' कहा जाता है। उनके मुँह पर ही नहीं अपितु उनके पीछे भी ऐसा कहा जाता है—जनसाधारण तक उन उपाधिशेष राजाओं को 'अन्नदाता' कहते हैं।—और बड़ौदा-प्रदेश में तो लोग अभिवादन के समय तक 'जय सियाजी राव' कहते हैं। तात्पर्य कहने का यह कि सरदार देवीसिंह का उपर्युक्त वक्तव्य उनकी आत्मसम्मान-हीनता का नहीं वरन् तत्कालीन शिष्टाचार का ही परिचायक है।

लेकिन राजा विजयसिंह यह उत्तर सुनकर भी संतुष्ट नहीं हैं, आज उन पर कुछ और ही भूत सवार है। वे पुनः पुनः वही प्रश्न करते हैं कि यदि तुम मुझसे रुठ जाओ तो क्या करो ? राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसकी चूक भी सह्य है अतः देवीसिंह प्रश्न को टालते रहते हैं। पर धैर्य की भी एक सीमा होती है—अन्ततः देवीसिंह तिलमिला उठते हैं—

लाली दौड़ आई सौम्य, शान्त, गौर गात्र में,
वदन गभीर हुआ......................।[4]

परन्तु फिर भी वे मौन ही रहते हैं—जिसका नमक खाया है यथासंभव उससे

१. विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३
२. विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३-४
३. विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ४
४. विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ४

झगड़ा बचाना ही चाहिए। पर विजयसिंह इस मौन की गंभीरता को न समझकर—

बोले फिर····· —"देवीसिंहजी, कहा नहीं ?
यदि तुम रूठ जाओ मुझसे तो क्या करो ?"[१]

शायद वे आज कलह पर उतारू थे। निदान, वही होता है—वृद्ध वीर देवीसिंह के आत्म-सम्मान को ठेस लगती है और तब—

"पृथ्वीनाथ, मैं जो रूठ जाऊँ" कहा वीर ने—
"जोधपुर की तो फिर बात ही क्या, वह तो
रहता है मेरी कटारी की पर्तली में ही,
मैं यों 'नवकोटी मारवाड़' को उलट दूँ।"
कहते हुए यों ढाल सामने जो रक्खी थी,
बायें हाथ से उन्होंने उलटी पटक दी।[२]

इस तरह देवीसिंह क्रोधाभिभूत हो जाते हैं। राजपूतों के इतिहास में ऐसी असंख्य कथाएं मिल जाएंगी—ज़रा-ज़रा सी बात पर तलवारें खिंच जाना मामूली बात थी। पर विकट-भट-वर्णित देवीसिंह जी के क्रोध के इस मनोविज्ञान-सम्मत उद्‌भव और अभिवृद्धि में विचित्र मोहन भाव है।

नहुष-पतन

महाप्रतापी राजा नहुष को इन्द्र-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। किन्तु वहाँ की विशिष्ट प्रजा स्वयं सुशासित है—शासक को तनिक भी कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। सदैव श्रेय-सम्पादन-रत नहुष का मन भी रिक्त होने पर विलास की ओर दौड़ता है। स्वयं इन्द्राणी पर उनकी कुदृष्टि पड़ती है।—और तब उसकी प्रेरणा से वे सप्त-ऋषि-वाहित शिविका पर चढ़कर शची को लिवाने जाते हैं। वासनादग्ध नहुष को यह भी नहीं सूझता कि यह प्रस्ताव तो उनके अनिष्टार्थ किया जा रहा है—भोग-लिप्सा तपःपूत मन को भी कैसे वशीभूत कर लेती है। गीताकार ने ठीक ही कहा है—

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः[3]

कामुक मनुष्य अनिष्ट को भी इष्ट समझे रहता है। नहुष भी शची के इस प्रस्ताव को अनिष्टकारी न मानकर यही समझते हैं कि वह उन्हें नूतन वाहन-विनोद ही देना चाहती है।[४] —काम का प्रभाव भी कितना गहन-व्यापक है जो मानव की सारी चेतनाओं को पराभूत कर देता है, निश्चय ही उस समय मनुष्य को कुछ नहीं सूझता। उसकी प्रबलता के समक्ष बड़े-बड़े देवता भी विचलित हो जाते हैं, नहुष बिचारे तो मानव ही थे!

---

१. विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ४
२. विकट-भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ४, ५
३. गीता २।६०
४. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३५

हाँ, तो नहुष ऋषियों द्वारा उठाए गए अश्रुतपूर्व यान पर सवार हो इन्द्राणी के पास जा रहे हैं। अनेक लोग यह तमाशा देखते हैं। भार-धारण का ही व्यवसाय करने वाले यह अपूर्व दृश्य देखकर कहते हैं—

आज कुछ होगा सही, अच्छे नहीं रंग-ढंग[1]

अपने ही व्यवसाय को लोग कठिनतर समझा करते हैं तथा दूसरों को उसे करने में असमर्थ। 'सच्चे भारधारियों' की उक्त पंक्ति में इसी भाव की व्यंजना है। यही नहीं वे और भी करारा व्यंग्य करते हैं—

पालकी उठाना कुछ संहिता बनाना है[2]

कैसा सहज-परिचित व्यंग्य है। श्रमजीवी बुद्धिजीवियों पर ऐसे ही व्यंग्य तो किया करते हैं। कवि इससे भी आगे बढ़ता है और उन भारवाहियों से अग्रिम पंक्तियों में कहलाता है—

या कहीं निमन्त्रण में जाके जीम आना है[3]

पर हम समझते हैं कि यह ठीक नहीं हुआ—ऋषियों के गौरवानुकूल नहीं है। क्या ऋषि भी भोजन-भट्टैत ही थे ?······लहू का घूंट पीते हुए ऋषि बेचारे शनैः शनैः चलते हैं—अनभ्यस्त कंधों को बदलने के लिए वे बार-बार रुकते हैं। किन्तु कामातुर नहुष को तो एक-एक पल युग के समान लगता है, वे उन पर बरस पड़ते हैं—

बस क्या यही है बस, बैठ विधियाँ गढ़ो
अश्व से अड़ो न अरे, कुछ तो बढ़ो, बढ़ो।[4]

काम का प्रबल प्रभाव देखिए। वही राजा नहुष जो किसी समय विधियों का सम्मान करते थे और ऋषियों की चरणरेणु के स्पर्श को अपना अहोभाग्य मानते थे, वासनालिप्त होकर विधियों और उनके प्रणेता ऋषियों का अपमान कर रहे है। आतुरतावश वे सरोष पैर पटकने लगते हैं और संयोग से—

क्षिप्त पद हाय! एक ऋषि को जो जा लगा[5]

तब तो सातों ऋषि क्रोध से जल उठते हैं—आखिर सहिष्णुता की भी तो सीमा होती है!—और तब क्रुद्ध ऋषि नहुष को सर्प योनि में पड़ने का शाप देते हैं। शाप सुनते ही वे हततेज हो जाते हैं और होश ठिकाने आ जाते हैं।—काम का सारा नशा काफ़ूर हो जाता है। पर अब क्या हो सकता था ?—किन्तु यहीं पर कवि का आशावाद काम आता है—वह मानव की अदम्य शक्ति का विश्वासी है। अतः गुप्त जी के नहुष कहते हैं—

---

१. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३६
२. ,, ,, , पृष्ठ ३६
३. ,, ,, , पृष्ठ ३६
४. ,, ,, , पृष्ठ ३६
५. ,, ,, , पृष्ठ ३७

चलना मुझे है बस अन्त तक चलना;
गिरना ही मुख्य नहीं मुख्य है संभलना।

* * *

फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं।[1]

और उन्नति व्यष्टिगत नहीं समष्टिगत ही अपेक्षित है—

उठना मुझे ही नहीं एक मात्र रीते हाथ,
मेरी देवता भी और ऊँची उठे मेरे साथ।[2]

इस प्रकार पतन के इस प्रसङ्ग में उत्थान का भी उपक्रम हुआ है। नहुष काव्य के सबसे अधिक मार्मिक इस स्थल को संभालने के लिए ऐसी ही कुशलता की आवश्यकता थी।—और इसका स्वाभाविक चित्रण तो अपने आप में मनोरम है ही।

राजमाता मीलनदे का तीर्थयात्रा-स्थगन

जेता जयसिंह की माता मीलनदे राजमाता के अनुरूप गौरव के साथ सोमनाथ के दर्शनार्थ जा रही हैं। मार्ग में शिविर की स्थापना होती है। रात्रि का समय है—"दुहाई राजमाता की!"—शब्द सुनकर मीलनदे चौंकती हैं, और यह शब्द करने वालों को बुलाने का आदेश होता है। एक माता और उसका पुत्र राजविद्रोही के रूप में उनके समक्ष उपस्थित किए जाते हैं। राजमाता के कहने पर वह अपनी कहानी सुनाती है—सोमनाथ के दर्शनों पर लगने वाले कर का भी उल्लेख करती है—

राजकर लगता है यात्रियों से, उसको
दे जो नहीं सकते हैं, लौटा दिये जाते हैं—
दर्शन बिना ही।.....................[3]

देव-दर्शन पर भी राजकर की बात श्रवणकर उन्हें अपार दुःख होता है। और—

उस रात राजमाता नहीं सो सकी;
हो सकी न स्वस्थ ही विचारों के प्रवाह में।
लौटा दिया भोजन का थाल बिना खाए ही।[4]

वास्तव में धर्म-प्राण माता के लिए इससे अधिक दुःख की बात और क्या होगी कि उसके पुत्र के राज्य में भगवान् की प्रतिमा के दर्शन पर भी कर लगा दिया जाए। साथ चलने वाला मन्त्री भोजन न करने का कारण पूछता है। मीलनदे का उत्तर है—

---

१. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३६
२. ,, ,, , पृष्ठ ३६
३. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १०
४. ,, ,, , पृष्ठ १६

कैसे वह पाप-अन्न खाऊँ अब और मैं,
ऐसे पाप-कर से कमाते तुम हो जिसे ?[1]

आज तक तो राजमाता को इस बात का पता ही नहीं था--वे तो यही समझे बैठी थीं कि उनके राज्य में कहीं कोई 'अनरीति' नहीं है। और इसीलिए—'करती थी शान्तिमयी मृत्यु की ही कामना।'[2] किन्तु अब तो दीपक के नीचे ही यह अँधेरा देखकर उनकी भूख-प्यास-नींद सब नष्ट हो गई।—शोकातिरेक में यह सहज संभव है। मन्त्री उन्हें समझाता है। इसे पाप-कर नहीं वरन् यात्रियों को दी गई सुविधाओं के विनिमय-स्वरूप प्राप्त द्रव्य ही बताता है। किन्तु राजमाता इस स्थिति से संतुष्ट नहीं हैं, बल्कि सुविधाओं के प्रतिदानवाली बात पर व्यंग्य करती हैं—

देव, विप्र, वणिक, तुम्हारे सब उनसे
पाते हैं यथेष्ट पूजा, दान, लाभ, फिर क्यों
कोरे रह जाओ तुम्हीं करके भी इतना ![3]

और फिर देखिए उनकी क्षोभपूर्ण आत्मनिन्दा—

ओरे दीन मानवो, अकिंचन ओ साधुओ,
लौट जाओ, तुमको कहीं भी ठौर है नहीं।
भेंट गण-हेतु कुछ गाँठ में नहीं है तो
हरके यहाँ भी सुनवाई बस हो चुकी ![4]

यहाँ वास्तव में दीनों और अकिंचनों को सचेत करने का प्रयत्न नहीं है वरन् उनके प्रति किए गए अपने अथवा अपनों के दुर्व्यवहार के कारण मन में उत्पन्न क्षोभ तथा क्षोभजन्य आत्मनिन्दा की ही परिव्यक्ति है। मीलनदे को अपने पुत्र के राज्य में पाप-कर लगा देखकर घोर आत्म-ग्लानि होती है। साधारणतः ग्लानि किसी अपने कुकृत्य के कारण हुआ करती है पर निकट संबंधियों के दुष्कृत्य भी ग्लानिजनक होते हैं। अतः राजमाता देव-दर्शन किए बिना ही लौट पड़ती हैं।—और कारण पूछने पर मन्त्री से स्पष्ट कह देती हैं—

मन्दिर का द्वार जो खुलेगा सबके लिए,
होगी तभी मेरी वहाँ विश्वम्भर भावना।[5]

राजमाता के उपयुक्त ही यह कथन है—उनमें ऐसी उदार भावना होनी ही चाहिए।

सिद्धराज जयसिंह भी माता के पीछे-पीछे दर्शन के निमित्त आ रहे थे। किंतु उन्हें वापस लौटता देख बड़े विस्मय में पड़ जाते हैं। कारण से अभिज्ञ होने पर—

---

१. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १६
२. ,, ,, , पृष्ठ १७
३. ,, ,, , पृष्ठ १७
४. ,, ,, , पृष्ठ १७
५. ,, ,, , पृष्ठ २०

पंचकुल लोगों से मंगाया वहाँ उसने
कर का निदेश-पत्र और लेखा उसका
देखा, उससे है प्रतिवर्ष लाभ लाखों का।
फाड़ फेंका तो भी वह पत्र मातृभक्त ने,
माँ के चरणों पर चढ़ाया पत्र-पुष्प-सा ![1]

इस प्रकार 'पाप-कर' से मुक्ति मिलती है—राजमाता की अभिलाषा पूर्ण होती है। धन्य है वह पुत्र जिसकी माता में ऐसी प्रगाढ़ श्रद्धा है और धन्य है वह ममतामयी माता जिसमें ऐसी सदभिलाषा एवं औदार्य है। सोमनाथ मन्दिर के धनी और निर्धन, सभी दर्शक तो पुकार ही उठते हैं—

हर हर महादेव ! जै जै राजमाता की।[2]

विधृता का देह-त्याग

द्वापर का यह प्रसंग वास्तव में कवि की अपनी उद्भावना है। संकेत तो उसे श्रीमद्-भागवत से ही मिला है[3]—किन्तु इस रूप में उसका विस्तार कवि ने स्वयं किया है। कृष्ण-सखाओं को भोजन देने जाती हुई अपनी कृष्ण-अनुरक्ता पत्नी को एक याज्ञिक ब्राह्मण बलपूर्वक रोकता है। वह कृष्ण को 'छैल-छोकड़ा' तथा अपनी पत्नी के सात्विक अनुराग का पाप-वासना मानकर अनेक दुर्वचन कहता है। कृष्ण की अनन्य भक्तिन वह विधृता उसी समय भौतिक शरीर छोड़ अपने आराध्य से जा मिलती है। पर मरने से पहले कुछ मर्म वचन कहती है। इस प्रसंग में इन वचनों का ही विशेष महत्व है। पति-पत्नी एक दूसरे के सहयोगी हैं, उनमें अधिकारी और अधिकृत का सम्बन्ध नहीं है। पर जिसे मुट्ठी भर देने का भी अधिकार न हो उसकी सत्ता क्या दासी से अधिक है ? विधृता को इसी बात का दुःख है—

मुट्ठी भर भी जो न दे सके,
दासी थी, मैं आहा ![4]

—और फिर उसका पति याज्ञिक ब्राह्मण है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' आदि शास्त्रवाक्यों का निर्देश करता हुआ लोगों को नारी का आदर करने का उपदेश और प्रेरणा देता है। पर उसके अपने ही घर में यह काण्ड होता है—कैसी बिडम्बना है। विधृता इसी तथ्य को लेकर व्यंग्य करती है—

अहा ! 'यत्रनार्यस्तु'—वाक्य की पूर्ण सफलता पाकर,
क्यों न रमेंगे अमर तुम्हारे इस अध्वर में आकर ![5]

याज्ञिक महाशय बालकों को भोजन देने में भी वासना का संधान कर बैठते हैं।

---

१. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २३
२. ,, ,, ,, , पृष्ठ २३
३. दे० द्वापर का 'निवेदन'
४. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ २६
५. ,, ,, ,, ,, , पृष्ठ २६

विधृता इस लांछन से विचलित हो उठती है—क्या स्त्री के सब सम्बन्ध वासना-सम्बन्ध ही हैं ? 'तिरया चरित्र' के विशेषज्ञ तो शायद यही मानेंगे। किन्तु वे 'विशेषज्ञ' पारिवारिक जीवन के सहज सत्य को भुला बैठते हैं। विधृता के कटु-तीक्ष्ण शब्दों में सुनिए—

हाय ! वधू ने क्या वर-विषयक एक वासना पाई ?
नहीं और कोई क्या उसका पिता, पुत्र या भाई ?
नर के बाँटे क्या नारी की नग्न-मूर्ति ही आई ?
माँ, बेटी या बहिन हाय ! क्या संग नहीं वह लाई ?[1]

विधृता पर दुःशीलता का आरोपण करने वाला भी वह पाखण्डी याज्ञिक है जो व्रतियों की कुलस्त्रियों के प्रति अश्लील व्यवहार करता है। परन्तु फिर भी वह अपने को सुशील ही समझता है—होत्री जो ठहरा ! विधृता पति की इन कुचेष्टाओं से परिचित होने पर भी आज तक चुप थी—क्योंकि स्त्री पति की त्रुटियों को सदैव क्षम्य समझती रही है। परन्तु आज लांछित हो वह बौखला उठी है। उपर्युक्त तथ्य का उद्घाटन करने के बाद व्यंग्य करती है—

मैं भूखों को भोजन देने जाकर भी दुःशीला
ललना तो छलना है, ओ हो, धन्य तुम्हारी लीला।[2]

विधृता को चिर अविश्वसनीय नारीत्व के घोर अभिशाप पर अफ़सोस है—

अविश्वास, हा ! अविश्वास ही, नारी के प्रति नर का;
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं, स्वामी है वह घर का ![3]

निश्चय ही समाज के वर्तमान विधान में नारी की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है—पहले भी रही है। न जाने इस विपर्यास का कब शमन होगा ? विधृता तो यह अन्याय न सहकर प्राण त्याग देती है—किन्तु पता नहीं कितनी स्त्रियाँ जीवित ही इस अभिशाप का भार-वहन कर रही हैं। बहुत ही कारुणिक प्रसंग है !

सिद्धि-लाभ के पश्चात् गौतम का आगमन और यशोधरा का मान

वर्षों की तपस्या से अमृत तत्व प्राप्त कर शुद्ध बुद्ध भगवान् गौतम मूढ़ जगती के अभ्युदय एवं कल्याण-साधनार्थ फिर संसार में लौट आते हैं। चलते-चलते कपिलवस्तु के पार्श्ववर्ती मगध-प्रदेश में भी पहुँच जाते हैं। कतिपय व्यवसायियों द्वारा कपिलवस्तु में भी शीघ्र ही यह समाचार पहुँचता है। राज्य-भर में आनन्द की लहर दौड़ जाती है—लोग हर्षोत्फुल्ल हैं। जिस प्रियदर्शी राजकुमार के बिना—

खान-पान नीरस था, सोना बुरा स्वप्न था
रोना ही रहा था हाय ! जीवन मरण था।[4]

---

१. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ३०
२. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ३०
३. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ३६
४. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ११९

—उसका संधान कोई साधारण बात है ! अनेक प्रजाजन लोचनों और श्रवणों के लाभ के निमित्त तुरन्त मगध को चल देते हैं—राज और प्रजा वर्गों का यह सघन और प्रिय सम्बन्ध कितना भव्य रहा होगा। पर अब तो ये बातें कहानी मात्र हैं। जब प्रजा को ही अपार हर्ष था तब महाप्रजावती और शुद्धोधन—अभ्यागत के माता-पिता के आनन्द का क्या ठिकाना ! वे तो दौड़कर यशोधरा के पास आते हैं और उसे साथ ले मगध जाने के लिए उतावले हैं। उनके प्रस्ताव की उत्सुकता और उसमें व्यंग्य लालसा की तीव्रता दर्शनीय हैं—

अब क्यों विलम्ब किया जाय बेटी, शीघ्र तू
प्रस्तुत हो। यह रहा मगध, समीप ही,
उसके लिए तो हम जगती के पार भी
जाने को उपस्थित हैं और उसे पाने को
जीवन भी देने को समुद्यत हैं—सर्वदा।[1]

लक्ष्य कीजिए प्रथम पंक्ति में यशोधरा को धैर्य से समझाने के लिए तो थोड़ा-सा स्थैर्य है उसके पश्चात् तो वात्सल्य का दुर्धर प्रवाह संभाले नहीं संभलता। शब्द भी तीर की-सी तेज़ी से चलते हैं।

लेकिन यशोधरा जाने के लिए तैयार नहीं है। वह 'उनका' निदेश पाए बिना वह घर छोड़ने को प्रस्तुत नहीं है जहाँ वे उसे छोड़ गए थे। उसका तर्क है—

आप मुझे छोड़कर वे गये,
जब उन्हें इष्ट होगा आप आके अथवा
मुझको बुलाके, चरणों में स्थान देंगे वे।[2]

गौतम यशोधरा को सुप्तावस्था में छोड़ गए थे। उसे बताए बिना घर छोड़कर उन्होंने उसे लांछित किया—विश्वासपात्री नहीं समझा। पत्नी के लिए इससे बड़ी लज्जा की बात और क्या हो सकती है। तो क्या यशोधरा अपने को परित्यक्ता समझे ?—या कुछ और ? बिचारी किसी को कुछ कह भी तो नहीं सकती। कैसी परवशता है। महाप्रजावती यशोधरा के उपर्युक्त तर्क के उपरान्त भी चलने का आग्रह करती हैं—पूछती हैं तुम्हें वहाँ चलने में कौन-सी बाधा है ? कोई भी मानिनी (शास्त्रीय अर्थ में नहीं) पत्नी यशोधरा की बाधा को समझ सकती है। किन्तु महाप्रजावती आज उसे नहीं समझ पा रही हैं। वे भी पत्नी हैं—पत्नी की टीस का अनुभव कर सकती हैं। पर आज उनका मातृत्व उभरा हुआ है, वह पत्नीत्व पर हावी है। वास्तव में पुत्र-मिलन के आनन्द के महाप्रवाह में बाधाओं के तटवर्ती सिकताकण बहे जा रहे हैं। स्वयं उनके लिए तो कोई बाधा है ही नहीं—परन्तु हर्षातिरेक में उन्हें दूसरों की बाधाएं भी दृष्टिगत नहीं होतीं। जो हो यशोधरा गमन के लिए प्रस्तुत नहीं है। वह व्यञ्जना द्वारा अपना आशय—अपनी बाधा स्पष्ट करती है —

---

१. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १२४
२. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १२५

बाधा तो यही है, मुझे बाधा नहीं कोई भी !
विघ्न भी यही है, जहाँ जाने से जगत में
कोई मुझे रोक नहीं सकता है—धर्म से,
फिर भी जहाँ मैं आप इच्छा रहते हुए,
जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठ रहती मैं ?........................[1]

यह कहते-कहते तीव्र उद्वेग के कारण मूर्च्छित हो जाती है। अन्ततः शुद्धोदन और महाप्रजावती भी मगध को जाने का विचार छोड़ देते हैं। शुद्धोदन का कथन है—

गोपा-बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको !
जाओ, अरे, कोई उस निर्मम से यों कहो—
झूठे सब नाते सही, तू तो जीव मात्र का,
जीव-दया-भाव से ही हमको उबार जा ![2]

यह आर्त पुकार आखिर गौतम को खींच ही लाती है—वे कपिलवस्तु पधारते हैं। राजभवन में भी आते हैं। सब लोग उनके दर्शन करते हैं—प्रवचन सुनते हैं। पर गर्विणी गोपा अब भी बाहर नहीं आती—उसी कक्ष में स्थित है जहाँ 'वे' छोड़ गए थे। वह कक्ष में तो है—किन्तु मन उद्वेलित है। आज ही तो उसके मन की परीक्षा है। अब तक जो निग्रह था वह तो अभाव के कारण था—'लोभ न था, जब लाभ न यह था।'[3] उस निग्रह की वास्तविक परीक्षा तो आज है—जबकि 'सुधा-सिन्धु' सामने ही लहरा रहा है। यदि गौतम यशोधरा के समीप, उसके कक्ष तक आ जाते हैं तो उसकी लाज रह जाती है। जिसने त्यागा था यदि वह स्वयं अपनाले तो उसकी सम्पूर्ण तपस्या सफल समझिए। और यदि गोपा स्वयं दर्शन करने चली जाती है तो आज तक के सारे संयम पर पानी फिर जाता है। सारे कष्ट व्यर्थ हो जाते हैं। यशोधरा के हृदय में प्रवृत्ति और विवेक का यही संघर्ष चल रहा है कि इतने में गौतम स्वयं उसके द्वार पर आ जाते हैं और कहते हैं—

मानिनि, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान ![4]

निश्चय ही यशोधरा की 'बान' रह गई। उसका सारा तप-संयम सार्थक हुआ। इस मिलन से यशोधरा की गौरव-रक्षा ही नहीं हुई, गौतम की गौरव-वृद्धि भी हुई है—उनके व्यक्तित्व में विचित्र आकर्षण आ गया है।

साकेत का एक स्थल

साकेत गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ कृति है। यदि केवल एक पुस्तक पढ़कर उनकी समृद्ध भावुकता से परिचित होना है तो हम साकेत के ही अध्ययन का परामर्श देंगे। साकेत में

---

१. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १२५-१२६
२. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १२६
३. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १४०
४. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १४३

अनेक भावुकतापूर्ण प्रसंग हैं। वास्तव में वह है ही मार्मिक प्रसंगों का संकलन ! प्रोफ़ेसर नगेन्द्र ने अपने साकेत : एक अध्ययन के तीन परिच्छेदों—साकेत के गार्हस्थ्य चित्र, साकेत में विरह और साकेत के भावपूर्ण स्थल—में बड़ी विद्वत्ता से उन प्रसंगों का विशद विवेचन किया है। मैं समझता हूँ कि उनका पुनराख्यान अनपेक्षित कलेवर-वृद्धि और पिष्ट-पेषण मात्र होगा। लेकिन आलोच्य कवि का कोई भी अध्ययन साकेत के एकाध भाव-रमणीय स्थल के व्याख्यान के बिना अपूर्ण ही कहा जाएगा। इसी भावना से प्रेरित होकर यहाँ एक स्थल उपस्थित किया जाता है :

भरत-मिलाप और चित्रकूट-सभा

रामकथा का यह अद्वितीय प्रसंग है, इसका सौंदर्य अपूर्व है। तुलसीदास ने अपने करस्पर्श से इसे जीवन्त बनाया—और तब से इसका माहात्म्य अक्षुण्ण है। साकेत के भी महत्वपूर्ण स्थलों में से यह एक है। चित्रकूट-प्रदेश में जब राम, लक्ष्मण और सीता ठहरे थे एक दिन उन्हें दूर से उठती हुई धूलि, भयभीत भागते हुए खग, मृग आदि दिखाई देते है। लक्ष्मण को पता लगता है कि ससैन्य भरत आ रहे हैं। बस, फिर क्या था वे युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं—राम का प्रतिषेध भी उन्हें स्वीकार्य नहीं है। किन्तु उनका यह अनुमान गलत था। कुछ क्षण पश्चात् ही भरत और शत्रुघ्न धूलि-पटल से बाहर निकल आते है तथा—

दोनों आगत आ गिरे दण्डवत् नीचे,
दोनों से दोनों गये हृदय पर खींचे।[1]

भरत तो हृदय पर खींचे जाने पर भी धूलि में ही लोटना चाहते हैं। राम का कथन है—

रोकर रज में लोटो न भरत, आ भाई,
यह छाती ठण्डी करो सुमुख सुखदायी।[2]

किन्तु भरत का दुःख तो अपार है। उन्हें इस संसार में अनुताप, तिरस्कार, लांछन और ग्लानि के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता। इसीलिए उत्तर देते हैं—

हा आर्य, भरत का भाग्य रजोमय ही है[3]

पर संसार उन्हें चाहे जो कहे। सब से अधिक खेद तो भरत को इस बात पर है कि आर्य दुष्टा कैकेयी की बात तो मानते हैं—किन्तु साधु भरत की भावनाओं का कुछ मूल्य और महत्व नहीं समझते—

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७२
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७२
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७२

उस जड़ जननी का विकृत वचन तो पाला
तुमने इस जन की ओर न देखा-भाला ![1]

राम निरुत्तर हो जाते हैं। निश्चय ही वे कैकेयी के तुष्ट्यर्थ यह निष्क्रमण करते हैं, भरत की 'भायप भगति' का तो विचार भी मन में नहीं उठता। राम अपने को अपराधी अनुभव करते हैं परन्तु फिर अपने कठोर कर्त्तव्य का उल्लेख करके अपने मन को तथा भरत को सांत्वना देते हैं। इतने में ही गुरुजन, पुरजन, परिजन, सचिव, माताएँ तथा प्रजाजन पहुँच जाते हैं।

रात्रि में चित्रकूट-सभा का आयोजन होता है—भरत के प्रस्ताव पर विचार-विमर्श करने के लिए ! सभा तो जुड़ जाती है पर बात कौन चलाए ! कौन किस प्रकार इस अप्रिय प्रसंग को प्रारंभ करे ? आखिर राम ही मौन-भंग कर प्रश्न करते हैं—

हे भरत भद्र अब कहो अभीप्सित अपना[2]

राम की गंभीर गिरा सुनते ही सब सजग हो जाते हैं—सबका स्वप्न-सा भंग हो जाता है। और भरत को तो यह प्रश्न मर्म-स्थल की चोट के समान विकल ही कर देता है। उनकी उद्रिक्त ग्लानि फूट पड़ती है—

हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु-तले अरण्य-बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
हा ! इसी अयश के हेतु जनन था मेरा,
निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा।
अब कौन अभीप्सित और आर्य वह किसका ?
संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका।
मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुँह फेरा,
हे आर्य बतादो तुम्हीं अभीप्सित मेरा।[3]

यहाँ भरत अपने ऊपर ही व्यंग्य कर रहे हैं—क्योंकि उन्हें आत्म-ग्लानि है। ऐसे व्यक्ति को आत्म-निन्दा में ही राहत मिला करती है। यद्यपि उन्होंने स्वयं कोई पाप नहीं किया किन्तु पापकर्मा कैकेयी से उनका घनिष्ठ संबंध है। इसीलिए उनके मन में ग्लानि है, और वे कहते भी हैं—'निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा।' ग्लानि के साथ ही भरत के इन शब्दों में निश्छल भ्रातृ-प्रेम, दैन्य तथा करुणा भी व्यंजित हैं।—और ये सब भावनाएँ दीप्त

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७२
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७२
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७७

हैं आवेग से ! निश्चय ही यहाँ कवि और भरत एकाकार हो गए हैं ।

पूर्वोक्त उद्धरण की अन्तिम पंक्ति में भरत अपने पर व्यंग्य करते हुए राम से अपना अभीप्सित पूछते हैं । राम के पास भी ग्लानि-गलित भरत को ढाढ़स बँधाने का अचूक मन्त्र है—

उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जनकर जननी ही जान न पाई जिसको ![1]

भरत तो मानो डूबते हुए बचते हैं, अब और क्या कहें ! परन्तु इन शब्दों से कैकेयी को बोलने का अवसर मिलता है, उस कैकेयी को जिसे—'महि न बीचु, विधि मीचु न देई ।' वह एक साथ उठती है और अटल स्वर में कहती है—

यह सच है तो तुम लौट चलो अब घर को
हां जन कर भी मैंने न भरत को जाना
सब सुनलें तुमने स्वयं अभी यह माना
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया ।[2]

—और माता के कृत्यों पर पक्षपातपूर्ण विचार होना ही चाहिए । वास्तव में कैकेयी का मातृत्व सदैव मुखर है वरन् यों कहिए कि उसे अपने मातृत्व का ही गर्व है । वही उसके प्राणों का सम्बल है । किन्तु भरत को निर्विकार सिद्ध करने के लिए तो वह मातृत्व की कठोर परीक्षा—पुत्र की शपथ (जिसे प्रत्येक माता बचाना चाहती है)—तक के लिए प्रस्तुत है—

यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ[3]

वस्तुतः यहाँ उसके मन की घोर व्यथा ही व्यंजित है । वह सारा अपराध अपना ही मानती है—मंथरा तक को कोई दोष नहीं देना चाहती, क्योंकि—

क्या कर सकती थी मरी मंथरा दासी
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी[4]

कैकेयी की ग्लानि उभर आती है, वह अपने मन को दुख-दग्ध करने में ही सांत्वना पाती है । और आगे बढ़कर वह प्रसिद्ध लोकोक्ति 'पुत्रो कुपुत्रो न च माता कुमाता'—का अवलम्ब लेकर घोर आत्मनिन्दा करती है—

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७८
२. ,, ,, ,, ,, , पृष्ठ १७८
३. ,, ,, ,, ,, , पृष्ठ १७८
४. ,, ,, ,, ,, , पृष्ठ १७९

कहते आते थे यही अभी नरदेही,
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।'
अब कहें सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता,—
'है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।'[1]

इससे अधिक आत्मनिन्दा और क्या होगी ! किन्तु कैकेयी के मन को चैन नहीं। वह तो अपने घोर पाप की शान्ति के लिए युग-युगों तक धिक्कार सुनना चाहती है—

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।'
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'[2]

आत्मग्लानि की पराकाष्ठा है। किन्तु शीलसमुद्र राम माता की ग्लानि-जन्य आत्म-निन्दा कब तक सुनते। वस्तुतः राम की गरिमा इसी में है कि वे इस काण्ड की मूल अपनी विमाता के मन में भी आत्मग्लानि न रहने दें। अतः वे उसे अपने को गौरवान्वित अनुभव करने के लिए उसके चिरमजग मातृत्व को ही सहलाते हैं—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।[3]

गलदश्रु कैकेयी के दयनीय पश्चात्ताप को देखकर उसके प्रति अन्य उपस्थितगणों की घनीभूत घृणा भी विलीन हो जाती है। अतः वे भावोन्मत्त हो राम के साथ ही चिल्ला उठते हैं—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई

कैकेयी को इन शब्दों से कितनी सान्त्वना मिली होगी। यहाँ कवि ने अपने मनोविज्ञान-पाण्डित्य एवं अतलस्पर्शी अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। हमारे विचार में कैकेयी के मातृत्व-गौरव की स्वीकृति के उपर्युक्त प्रयत्न के अतिरिक्त यदि कुछ और किया जाता तो वह अपर्याप्त किंवा व्यर्थ ही रहता। निस्संदेह इन शब्दों का सम्बल पाकर वह गरिमा-मण्डित हो उठी होगी। थोड़ी देर बाद—कुछ ग्लानि एवं परिताप-व्यंजक करुण उद्‌गारों के पश्चात्—तो हम इनका वांछित प्रभाव स्पष्ट ही देखते हैं, कैकेयी कहती है—

मैं रहूँ पंकिला, पद्‌मकोष है मेरा[4]

इस प्रकार राम के प्रशंसनीय शील-सौष्ठव के प्रभाव से चिर अनुतप्त कैकेयी भी गौरव भावना से भर उठती है। यही तो राम का पतितपावन अथवा 'अधम-उधारण' रूप है।—और इस प्रसंग को उपस्थित करनेवाला कवि भी स्रष्टा कलाकारों की पंक्ति में स्थान

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७६
२. ,, ,, ,, ,, , पृष्ठ १८०
३. ,, ,, ,, ,, , पृष्ठ १८०
४. ,, ,, ,, ,, , पृष्ठ १८१

पाने का अधिकारी है। साकेत के इस स्थल का महत्त्व असाधारण है जिसके पाठ के पश्चात् चिर अभिशंसित कैकेयी के प्रति पाठक के मन में युग-युग से संचित सारी दुर्भावनाएँ निःशेष हो जाती हैं।

पाण्डव-देहपात

जय भारत में संग्रथित एक प्रकरण नहुष-पतन का विवेचन पहले ही किया जा चुका है। बस, अब एक और—देहपात-प्रसंग—के दिग्दर्शन के पश्चात् इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ।

धर्मराज युधिष्ठिर को महाभारत का महानरमेध देख अत्यधिक ग्लानि होती है। फिर भी लोगों के आग्रह से सिंहासन संभालते हैं। किन्तु धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा कुन्ती भी जब वन को चले जाते हैं तब तो उनका धैर्य ही टूट जाता है। वे भी युयुत्सु को सब कुछ सँभाल अनुज और कृष्णा सहित प्रस्थान करते हैं—

बल से भूमण्डल-जय करके
ये स्वर्ग-विजय के हेतु चले।[1]

ये सब वल्कल वस्त्र धारण किए हैं—तन से ही नहीं मन से भी तपस्वी हैं—

जो रत्न जड़ित-से थे तन में,
ये तृण-सा उन्हें उखाड़ चले,
बाहर ही बल्कल धरे नहीं,
भीतर से राजस झाड़ चले।[2]

अब चिरसंगी शस्त्र भी निरर्थक हैं—यहाँ कौन किसी का शत्रु है?—

निस्सार समझ शस्त्रों को भी
कर चले विसर्जित ये जल में।[3]

खेद का विषय है कि पाण्डवों द्वारा जल-विसर्जित ये शस्त्र मूढ़ मानव फिर-फिर निकाल लाता है।

अन्ततः देह-पात का समय भी आ जाता है। यह गुप्त-काव्य के भव्यतम प्रसंगों में से एक है। वास्तव में 'मैथिलीशरण की प्रतिभा ऐसे प्रसंगों में ही खुल खेलती है।'[4] सबसे पहले द्रौपदी गिरती है। अनुजों के सामने अंधकार छा जाता है। किन्तु युधिष्ठिर तो इसे अपने मोक्ष का प्रथम सोपान मानते हैं, उनका कथन है—

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४२६
२. ,, ,, , पृष्ठ ४२७
३. ,, ,, , पृष्ठ ४२८
४. विचार और विश्लेषण—डा० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२६

तुम नहीं, गिरी अर्जुन के प्रति
यह पक्षपाति[illegible] ।[1]

इसके पश्चात्—

बोले सहदेव तनिक चलकर
हे आर्य, अचल अब गात हुआ ।[2]

किन्तु युधिष्ठिर बिना रुके ही उत्तर देते हैं कि यह तुम नहीं मेरा रूप-गर्व खर्वित हुआ है : फिर नकुल गिरते हैं—

कुछ आगे कहा नकुल ने यों
"गिरता हूँ अब मैं अवश निरा ।"[3]

उसे युधिष्ठिर अपनी मति-गति के गर्व का ही नाश मानते है । थोड़ा और आगे चल अर्जुन भी धराशायी हो जाते हैं । उनके गिरने को धर्मराज अपने मानी मद का झड़ना ही समझते हैं—

तुम नहीं गिरे, झड़ गिरा यहाँ
तुममें मेरा मानी मद ही[4]

और फिर—

बोले गिर भीम अन्त में यों—
"हे आर्य, यहाँ मैं भी टूटा ।"[5]

भीम से महापराक्रमी भाई के पतन को अग्रज पाण्डव अपने औद्धत्य का शमन ही बताते है। अब वे स्वच्छन्द दीख पडते है। एक-एक करके उनके सभी भौतिक बन्धन कट जाते हैं। कृष्णा और अनुजों के देह-पात पर निःशेष-बंधन युधिष्ठिर निर्विकार आत्मा रह जाते हैं—

खुल गए सभी बन्धन मानो,
अब आप-आप वे व्यक्त हुए[6]

जैसा कि अन्यत्र निवेदन किया गया है महाभारत के इस प्रसंग में द्रौपदी एवं अनुजों के देह-पात के समय युधिष्ठिर उनके दोषों का उल्लेख करते हैं जो अनुपयुक्त है। किन्तु आलोच्य कवि ने इस पुनराख्यान में वांछित संशोधन कर दिया है ।

मार्मिक प्रसंगों की यह संक्षिप्त पर्यालोचना है । ये सभी प्रसंग विभिन्न पुस्तकों से लिए गए हैं । इन सबका रचनाकाल भी एक नहीं है—वह ४०-५० वर्ष तक विस्तीर्ण है ।

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३१
२. ,, ,, , पृष्ठ ४३१
३. ,, ,, , पृष्ठ ४३१
४. ,, ,, , पृष्ठ ४३१
५. ,, ,, , पृष्ठ ४३१
६. ,, ,, , पृष्ठ ४३२

दूसरे इन प्रकरणों के चयन में मैंने परिस्थिति-भिन्नता का विशेष ध्यान रखा है जिससे कवि की व्यापक मर्मग्राहिणी तथा सूक्ष्म पर्यवेक्षणी अन्तर्दृष्टि का सम्यक् परिचय मिल सके। इस उपखण्ड के प्रारंभ में दी गई मैथिलीशरण जी की रचनाओं के मुख्य मर्मस्थलों की सूची से कुछ की ही व्याख्या की जा सकी है—सबका व्याख्यान तो आवश्यक भी नहीं है। पर इतने से ही उनकी मार्मिक प्रसंगों के चयन और व्याख्यान की शक्ति हृदयंगम हो जाती है। हमारे कवि का मानव-जीवन के व्यवहारों, व्यापारों और शिष्टाचार का व्यापक ज्ञान उसमें सहायक सिद्ध हुआ है।—और 'ग्रंथपरिचय' के अन्तर्गत उल्लिखित नूतन उद्भावनाएँ भी मर्म-ग्राहकता की ही द्योतक हैं।

सब मिलाकर प्रस्तुत कवि में मर्मस्थलों को पहचानने की अद्भुत क्षमता है। अनेक स्थलों का पुनराख्यान और नवोद्भावना उसे निश्चय ही स्रष्टा-कवियों की प्रथम पंक्ति में समासीन कर देती है।

(घ) कल्पना द्वारा भावना का उत्कर्ष

चेतना की अन्यान्य सूक्ष्म क्रियाओं के समान ही कल्पना के विषय में भी अनेक भ्रान्तियाँ एवं परस्पर भिन्न तथा विरोधी मान्यताएं हैं। उसे परिभाषाबद्ध करना असम्भव है। इसीलिए कुछ लोग तो उसे अलौकिक अथवा ऐन्द्रजालिक कहकर ही संतुष्ट हो रहते हैं। लेकिन मेधावियों का चिरविश्लेषणरत मस्तिष्क इस विषय में निरन्तर यत्नशील है। विदेश के व्युत्पन्न पण्डित एवं प्रौढ़ आलोचक डा० आई० ए० रिचर्ड्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स आफ़् लिट्रेरी क्रिटिसिज़म' में इस शक्ति के छः विभिन्न प्रयोगों का निर्देश किया है।[१] कोलरिज, एडीसन, रस्किन आदि विद्वान् उनसे पहले भी इस विषय पर प्रकाश डाल चुके हैं। वस्तुतः विदेश के काव्य-शास्त्र में कल्पना का काफ़ी महत्त्व है—वह भी काव्य के प्रमुख तत्त्वों में से एक है। लेकिन संस्कृत साहित्य-शास्त्र में विदेशी काव्य-शास्त्र के समान उसका पृथक् विवेचन उपलब्ध नहीं है। फिर भी उसकी सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। ध्वनि, लक्षणा-व्यंजना तथा अधिकांश अलंकार कल्पना-आधृत ही हैं। वास्तव में 'काव्य के अंग-प्रत्यंग में कल्पना ओत-प्रोत है—उसके बिना काव्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं—इसी कारण कदाचित् उसका पृथक् निर्देश अनावश्यक समझा गया हो।'[२] बात भी ठीक है, कल्पना-प्राचुर्य ही तो कवि और जनसाधारण का भेदक तत्त्व है। तब फिर काव्य-शास्त्र में कल्पना के अभाव की तो कल्पना भी असह्य है। हाँ, प्रतिपादन की पद्धति भिन्न

---

१. दे० Sixth impression, pp. 239-243.

२. विचार और अनुभूति, प्रोफ़ेसर नगेन्द्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २०

हो सकती है। देशी और विदेशी साहित्य में कल्पना के अनिर्दिष्ट और निर्दिष्ट रहने का यही रहस्य है।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार कल्पना शब्द की मूल धातु है—क्लृप्—जिसका अर्थ है सृजन की सामर्थ्य। अतः कल्पना शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ हुआ सृजन-शक्ति। शायद इसीलिए अपने यहाँ कवि को प्रजापति का गौरव प्रदान किया गया है। लेकिन आज कल्पना में केवल सृजन नहीं वरन् और भी बहुत कुछ सम्मिलित है। उसके प्रयोग के कम से कम छः विभिन्न रूप तो हैं ही।—इन षड्रूपों का विवेचन हिन्दी में प्रोफ़ेसर नगेन्द्र लिखित निबन्ध 'साहित्य में कल्पना का उपयोग'[१] तथा अंग्रेज़ी में रिचर्ड्स विरचित 'प्रिंसिपल्स आफ़् लिट्रेरी क्रिटिसिज़्म' नामक पुस्तक में देखा जा सकता है।[२] —और यदि कल्पना के व्युत्पत्त्यर्थ—सृजन—को बहुत दूर तक खींचा जाए तो उसमें इन सभी रूपों का समाहार किया जा सकता है।

मैथिलीशरण जी के काव्य में प्रायः कल्पना के सभी प्रयोग मिल जाएंगे। इसका सबसे पहला कार्य है चित्र की सजीव उपस्थिति। सजीव उपस्थितीकरण के लिए आवश्यक है कि वर्ण्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यों को उपस्थित न करके कुछ प्रमुख तत्त्वों को ही सामने लाया जाए जो सम्पूर्ण का बिंबग्रहण कराने में सक्षम हों। कुशल कलाकार पदार्थ का अनुभव करने के बाद उसे खंडित कर कुछ का त्याग तथा कुछ का ग्रहण करता है। और फिर अन्त में, गृहीत खण्डों की इस प्रकार योजना करता है कि एक नवीन, पर पूर्ण चित्र बन जाता है।[3] इस विषय का विस्तृत विवेचन चित्रण कला के अन्तर्गत किया जाएगा। यहाँ केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

> **गोदावरी नदी का तट वह ताल दे रहा है अब भी**
> **चंचल जल कल-कल कर मानों तान ले रहा है अब भी!**
> **नाच रहे हैं अब भी पत्ते मन-से सुमन महकते हैं,**
> **चन्द्र और नक्षत्र ललककर लालच भरे लहकते हैं॥**
> **वैतालिक विहंग भाभी के सम्प्रति ध्यानलग्न-से हैं,**
> **नये गान की रचना में वे कवि-कुल-तुल्य मग्न-से हैं।**
> **बीच-बीच में नर्तक केकी मानों यह कह देता है—**
> **मैं तो प्रस्तुत हूँ, देखें कल कौन बड़ाई लेता है॥**[४]

१. **विचार और अनुभूति में सङ्कलित**

2. Sixth impression, pp. 239-253

3. The great artist, seeing a landscape, breaks it up, accepts this and rejects that, and finally brings the pieces together again to make a new whole.

—Ruskin as Literary Critic (Selections)
edited by A. H. R. Ball, ed. 1928 pp. 18

४. **पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १०-११**

पंचवटी की निस्तब्ध रात्रि का चित्र है। असंख्य प्राकृतिक पदार्थों का मौन सौन्दर्य द्रष्टव्य रहा होगा। किन्तु कवि सभी वस्तुओं का उल्लेख नहीं करता। वह केवल पत्तों के नाचने, फूलों के महकने, नक्षत्र और चंद्रमा के लहकने तथा पक्षियों के निद्रामग्न होने का ही वर्णन करता है। इन तीन-चार चीज़ों के उल्लेख से ही रात्रि की घोर निस्तब्धता, एकांत नीरवता व्यंजित है। शेष रही गोदावरी नदी के तट की ताल तथा मयूर-ध्वनि। यह ताल और ध्वनि नीरवता-भंजक प्रतीत हो सकती है—किन्तु ऐसी बात नहीं है। गोदावरी के तट की दूरागत ताल तथा बीच-बीच में उठने वाली मोर की आवाज़ क्या निस्तब्ध नीरवता को बढ़ानेवाली नहीं हैं! वस्तुतः यह ध्वनि चित्र में वास्तविकता और सजीवता का समावेश ही करती है। यह तो हुआ प्राकृतिक दृश्य। सिद्धराज, साकेत और जय भारत आदि में उत्कृष्ट मानवीय चित्र भी देखे जा सकते हैं। इस विषय में यह उल्लेख्य है कि कवि ने बड़े कौशल से प्रायः उन सबको पाठक के लिए ग्राह्य बना दिया है। यह सब कल्पना के द्वारा ही हो सका है, यद्यपि डा० रिचर्ड्स के अनुसार यह कल्पना का सबसे कम रोचक एवं सामान्यतम प्रयोग है।[1]

अप्रस्तुत-विधान का मूलाधार भी कल्पना ही है। साम्य एवं वैषम्यमूलक अलंकारों तथा रूपकों की योजना में इसका विशेष प्रयोग हुआ करता है। कविगण अपनी भावनाओं को प्रवणता सहित प्रेषित करने के लिए आलंकारिक भाषा का प्रयोग करते हैं। निश्चय ही अलंकरण का समुचित उपयोग—उपयुक्त अप्रस्तुत का प्रयोग—कवि की अनुभूति को स्पष्टतर एवं संवेद्य बनाता है। यही उसकी उपादेयता है। लेकिन जब अप्रस्तुत की योजना में कवि दूर की कौड़ी लाने लगते हैं, ज़मीन और आसमान के क़ुलाबे मिलाने लगते हैं तब वह व्यर्थ खिलवाड़, और काव्य के लिए भार बन जाती है। हमारे कवि में खिलवाड़ की यह प्रवृत्ति आपको नहीं मिलेगी। उसके अप्रस्तुत-विधान का विशेष विवेचन तो कलापक्ष के अन्तर्गत होगा, यहाँ पर केवल तीन उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

(१) **चिर नव यौवना शची क्या हँसी खेद से**
निकली क्षणिक धूप वर्षा के विभेद से।[2]

(२) **आ गया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत-सा,**
भीरुओं की कल्पना का सच्चा भय-भूत-सा![3]

(३) **उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,**
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से,

---

1. The production of vivid images......is the commonest and the leas interesting thing which is referred to by imagination.
—Principles of Literary Criticism,
Sixth impression, page 239.

२. **नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ १०**

३. **हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १८**

वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के ?[१]

यहाँ प्रथम उद्धरण में शोक-संतप्त इन्द्राणी के क्षणिक हास्य को संवेद्य बनाने के लिए वर्षा के उपरांत किंवा पावस को विदीर्ण कर फूट उठनेवाली धूप को अप्रस्तुत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय में हिडिम्ब के विषय में अपने मन में उत्थित भाव को कवि ने प्रेष्य बनाया है यमदूत और भीरुओं की कल्पना के सच्चे भय-भूत का उल्लेख करके। यमदूत बहुत विरूप और विकराल माने जाते हैं। किन्तु चिर परिचय के कारण अब इसमें भाव संवेदन की सामर्थ्य नहीं रही। अतः कवि संवेदनीयता के निमित्त एक और कल्पना-प्रचुर उदाहरण देता है। ज़रा-सा खटका होते ही भीरुओं के मन में अनेक आशंकाएँ उठने लगती हैं—उनके मन का भय भीषण रूप धारण करके उनकी कल्पना में घूमा करता है। भूत,डाकू अथवा ऐसा ही कोई और क्रूर-कराल नाम सुनते ही मन में जमी हुई वह भीषण मूर्ति ही उभर आया करती है। उस काल्पनिक भीषण मूर्ति को ही क्रूरकर्मा हिडिम्ब का उपमान बनाया गया है।

तीसरे उदाहरण में भाववरिष्ठ रूपक की योजना है। ताम्र के स्वर्ण बनने की रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा उर्मिला के विरह की गरिमा और उस विरह का वर्णन करने वाली कवि की शब्दावली की महिमा का बखान हुआ है। आप देखेंगे कि इन तीनों उद्धरणों में कल्पना-गृहीत अप्रस्तुत पाठक में अभिलषित भावना के उद्बोधन में समर्थ हैं। अप्रस्तुत के विधान में कल्पना का वास्तविक उपयोग भी यही है।

दूसरों की मानसिक अवस्था का साक्षात्कार—उसको अनुभव करने की शक्ति भी कल्पना के नाम से अभिहित की जाती है। यद्यपि यह कल्पना का काफ़ी संकुचित अर्थ है,[२] परन्तु फिर भी कवि—विशेषतः प्रबन्धकवि—में इसका होना आवश्यक है। मैथिलीशरण कुशल प्रबन्धकार हैं, उनमें यह प्रभूत परिमाण में विद्यमान है। शतशः पात्रों से वे सहज ही तादात्म्य स्थापित कर सके हैं। संवेदनीयता के प्रसंग में पहले ही इस विषय पर विचार कर आए हैं। यहाँ केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

मानता हूँ तुमने निभाया निज धर्म है।
किन्तु इस कारण अधीन नहीं हूँगा मैं,
जीवन-मरण दोनों एक से हैं वीरों को।
अब भी स्वतन्त्र है अवन्ती निज शक्ति से,

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६५

2. A narrower sense (of imagination) is that in which sympathetic reproducing of other people's states of mind, particularly their emotional states is what is meant.

—Principles of Literary Criticism by I. A. Richards, 6th impression, page 241.

मेरी यह जन्मभूमि जननी जगत में
मेरे प्राण रहते रहेगी महारानी ही,
किंकरी न होगी किसी और नरपाल की।
पंचतत्व मेरी पुण्यभूमि के हैं मुझमें,
कहला रहे हैं यही मुझसे पुकार के—
हम परतन्त्र नहीं सर्वथा स्वतन्त्र हैं।[1]

यह वीरवर जगद्देव की उक्ति है जेता जयसिंह के प्रति। मातृभूमि के प्रति कितना सबल अनुराग है ! यद्यपि यहाँ जन्मभूमि बहुत संकुचित अर्थ में गृहीत है—केवल अवन्ती प्रदेश तक ही वह सीमित है। किन्तु मध्ययुग में उसका यही अभिप्राय था। जगद्देव की इस सबल देशभक्ति का कवि ने अनुभव किया—अपनी कल्पना शक्ति के बल पर उसकी मनोदशा का भावन किया है। तभी तो इस उद्धरण में भाव-प्रवणता आ सकी है।

आविष्कार के अर्थ में भी कल्पना शब्द का प्रयोग हुआ करता है। साधारणतः कल्पना के इस रूप का उपयोग अद्भुत एवं असंभाव्य के विधान में किया जाता है जैसा कि देवकीनन्दन खत्री के चन्द्रकान्ता संतति में हुआ है। किन्तु आद्भुत्य में हमारे कवि का विश्वास नहीं है। उसने तो यथासंभव सभी पात्रों एवं घटनाओं को मानवीय रूप देने का प्रयास किया है। हाँ, उसने आविष्कार किया है नवीन पात्रों, परिस्थितियों एवं घटनाओं का। 'विभिन्न काव्य-रूपों का प्रयोग' तथा 'ग्रंथ-परिचय' में इन बातों पर विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ पर इस विषय में इतना ही निवेदन करना चाहूँगा कि उन उद्भावनाओं में कवि ने सदैव भाव की सरसता और उत्कर्ष का ध्यान रखा है। यशोधरा और राहुल का निम्न वार्तालाप देखिए—

"अम्ब, यह पंछी कौन, बोलता है मीठा बड़ा,
जिसके प्रवाह में तू डूबती है बहती।"
"बेटा, यह चातक है।" "मां, क्या कहता है यह ?"
"पी-पी, किन्तु दूध की तुझे क्या सुध रहती ?"
"और यह पंछी कौन बोला वाह !" "कोयल है"
"माँ, क्यों इस कूक की तू हूक-सी है सहती ?
कहती—उमंग से है मेरे संग-संग अहो !
'कहो-कहो' किन्तु तू कहानी नहीं कहती !"[2]

कवि-कल्पना-प्रसूत यह वार्तालाप कथा-प्रसंग में रोचकता का संपादन करनेवाला तथा रस का उपकारक है। इसी प्रकार अर्णोराज के प्रथम दर्शन पर राजकुमारी कांचनदे का कल्पना-चित्र भी दर्शनीय है—

---

१. सिद्धराज, संस्करण संवत् २००३, **पृष्ठ** ४३
२. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, **पृष्ठ** ५२

पहुँची परन्तु ज्यों ही मन्दिर में सुन्दरी
दीखा आप अर्णोराज सम्मुख अलिन्द में,

* * *

संकुचित होके कहाँ जाती राजनन्दिनी ?
बन्दी के समक्ष स्वयं बन्दिनी-सी हो उठी !
आके जड़ता ने उसे जकड़ लिया वहीं,
स्तम्भ वह भी था, अवलम्ब लिया जिसका !
हो गये अचल एक पल को पलक भी,
किन्तु वह रूप-भार कब तक झिलता ?
आहा ! दूसरे ही क्षण दृष्टि नत हो गई।[1]

सिद्धराज का वृत्त ऐतिहासिक है। पर उपर्युक्त अनुभावों का विवरण तो किसी भी इतिहास में नहीं मिल सकता। इनकी योजना कवि ने अपनी कल्पना द्वारा की है, और यह योजना निश्चय ही भाव को उद्‌बुद्ध करती है।

रिक्त स्थानों को भरने तथा लुप्त एवं विस्मृत कारणों का संधान करनेवाली कल्पना का अन्तर्भाव भी आविष्कर्त्री कल्पना के अन्तर्गत ही किया जा सकता है। मैथिलीशरण जी में कल्पना का यह रूप भी उपलब्ध है। दशरथ-पत्नियों के सहमरण-प्रस्ताव, चित्रकूट-सभा में कैकेयी के सफ़ाई पेश करने तथा सिद्धराज में राजमाता मीलनदे से खड्ग प्राप्त करने वाले बालक एवं जयसिंह से मिलनेवाले महोत्रे के गृहसचिव को एक ही व्यक्ति मानने आदि में इसी शक्ति का प्रभाव है।

अब लीजिए कल्पना का सबसे महत्वपूर्ण एवं सशक्त प्रयोग जो कि कवि-आलोचक कोलरिज की साहित्य-शास्त्र को सबसे बड़ी देन है। वह यह कि विषम और विरोधी तत्वों को पचा लेना—नाना भावों को आत्मसात् कर लेना किसी कलाकार की विराट् कल्पना शक्ति का परिचायक है। कोलरिज इसे समन्वय एवं जादू की शक्ति (Synthetic and magical power) कहते हैं। आलोच्य कवि में समन्वय और जादू की यह शक्ति खूब बढ़ी-चढ़ी है। रंग में भंग से लेकर जय भारत तक न जाने उसने कितने प्रकार के पात्रों से तादात्म्य स्थापित किया, न जाने कितनी परिस्थितियों में मन रमाया। राम और रावण, युधिष्ठिर और दुर्योधन, सीता और शूर्पणखा जैसे विरोधी पात्रों का एक-सी तन्मयता से चित्रण साधारण बात नहीं है। सिक्ख गुरुओं और मुसलमानों के धार्मिक नेता हसन और हुसैन को भी उन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया। इससे एक ओर जहाँ कवि की हृद्‌गत विशालता की सूचना मिलती है वहाँ दूसरी ओर उसकी अद्‌भुत कल्पनाशक्ति का परिचय भी। परिस्थितियाँ भी जितनी जीवन और जगत् में सम्भव है सभी मिल जाएंगी। मानव-जीवन में सम्भव सभी सम्बन्धों में रमनेवाला तो तुलसी के बाद यह अकेला ही कवि है। सबसे बड़ी बात यह है कि उसने इन सभी विषमताओं और विभिन्नताओं को पूर्ण भावुकता

१. सिद्धराज, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ९३-९४

के साथ अपनाया है, वह इन सब में रम सका है।

अंग्रेज़ आलोचक एडीसन तो मानवीकरण को भी कल्पना के प्रयोगों में परिगणित करते हैं।[1] किन्तु हमने इसका विवेचन अभिव्यंजना-कौशल के अन्तर्गत किया है। वास्तव में इसका उचित स्थान भी वही है। अन्यथा यों तो काव्य के अंग-प्रत्यंग में कल्पना की न्यूनाधिक खोज की जा सकती है। अस्तु !

मैथिलीशरणकृत कल्पना के विभिन्न रूपों के प्रयोग के उपर्युक्त दिग्दर्शन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि उनकी प्रतिभा इस शक्ति के प्रायः सभी रूपों से पुष्ट है।—और उन्होंने इसका भरपूर उपयोग किया है। किन्तु उनके काव्य में कल्पना का यह उपयोग तमाशा खड़ा करने के लिए नहीं वरन् भावोत्कर्षक बनकर आया है। वह सदैव भावप्रवण ही है। एकाध दोष भी मिल सकता है जैसे पूर्वोल्लिखित मकड़े और मक्खी वाले रूपक[2] में न अनुपात है—और न ही लालित्य। पर ऐसे स्थल अत्यन्त न्यून और नगण्य हैं। कुल मिलाकर इस कवि की कल्पना काफ़ी सशक्त, विराट् और सृजनात्मक है। विराट्ता उसकी कल्पना में अद्भुत है, जीवित कवियों में तो सबसे अधिक है। राम का अनन्य भक्त होते हुए भी यह कवि रावण की सहृदयता पर मुग्ध हो सकता है।[3] मेघनाद-वध अनूदित होने पर भी कवि की विषम एवं विरोधी तत्वों को ग्रहण करने की क्षमता का सूचक है। निश्चय ही "इस प्रकार के समन्वय की क्षमता उन्हीं विश्वदर्शी कलाकारों में हो सकती है जिनके हृदय विशाल हों, जो जगत् की विभिन्नताओं को पचा सकें।"[4]

(च) भाव-चित्रण में उद्देश्य : भोग अथवा उन्नयन

गुप्त जी के काव्य में विभिन्न भावों की व्यक्ति पर विचार किया जा चुका है। किन्तु इस भाव-व्यंजना में अन्तर्निहित उद्देश्य क्या है?—भोग अथवा उन्नयन? जहाँ भाव का तन्मय चित्रण मात्र होता है, किसी महत्तर लक्ष्य में उसकी परिणति नहीं होती वहाँ उसका भोग होता है। लेकिन जब कवि भाव के चित्रण पर ही बस नहीं कर देता, उसका आदर्शी-

---

1. There is another sort of imaginary beings, that we sometimes meet with among the poets, when the author represents any passion, appetite, virtue or vice, under a visible shape, and makes it a person or an actor in his poem.

—Loci Critici by Saintsbury
edition 1931; page 200.

२. वहाँ सूर्य और पृथ्वी का रूपक मकड़े और मक्खी से बाँधा गया है।

३. दे० साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २९२

४. विचार और अनुभूति—प्रोफ़ेसर नगेन्द्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २४

करण करता है तब भाव का उन्नयन हुआ करता है। भाव का यह उन्नयन ही 'मनुष्यता की उच्च भूमि' है।—यही शिवत्व और श्रेयस् है। मनोविकारों का आदर्शीकरण निश्चय ही हमें परिमिति के क्षेत्र से, व्यक्तिगत जीवन के संकोच और सीमाओं से बाहर ला खड़ा करता है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में—"आदर्श की स्थिति ऊर्जस्वित जीवन की मान्यता में है।"[१] 'ऊर्जस्वित जीवन' ही तो कविता का काम्य है, उसका चर्म ध्येय है। आचार्य शुक्ल ठीक ही कहते हैं—"कविता भावों या मनोविकारों के क्षेत्र को विस्तृत करती हुई उनका प्रसार करती है।"[२] अपने सुख-साधन की चिन्ता, व्यक्तिगत राग-द्वेष की परितुष्टि तो पशु भी कर लेते हैं। परन्तु मानव—'मनुष्यता की उच्च भूमि' पर पहुँचा हुआ मानव—वही है जिसकी भावना का प्रसार हो गया हो। जिसका व्यक्तित्व इतना विशद, विशाल एवं व्यापक हो गया हो कि उसमें स्वजन-परिजन, बन्धु-बान्धव, देशवासी ही नहीं मनुष्य मात्र, वरन् उससे भी बढ़कर प्राणी मात्र का समाहार हो जाए। जो काव्य भाव के ऐसे प्रसरण की, हृदय और दृष्टिकोण के इस व्यापकत्व की प्रेरणा देता है वही सच्चा और श्रेष्ठ काव्य है। बाक़ी सब तो मनोरंजन अथवा वाणी का विलास मात्र है।

आलोच्य कवि सदैव शिवत्व का पक्षपाती रहा है। भाव के भोग में नहीं उन्नयन में ही उसका विश्वास रहा है। इसीलिए उसकी अधिकांश कृतियों में उदात्त जीवन अथवा मनुष्यता की उच्च भूमि के दर्शन हो जाते हैं। आदर्शीकरण पर विशेष ध्यान रहने के कारण ही मैथिलीशरण जी के विपुल-परिमाण काव्य में संयोग श्रृंगार, जो सदैव भोग-प्रधान ही हुआ करता है, बहुत कम मिलता है। उसकी स्थिति सिंधु में बिंदु के समान है। इसके विपरीत भोगवादी कवियों में उसीका प्रामुख्य मिला करता है। किन्तु उन्होंने श्रृंगार के विप्रलंभ पक्ष का ही अधिक चित्रण किया है—क्योंकि उसमें भाव के उन्नयन का अधिक अवकाश रहता है। विरह विह्वल यशोधरा की रति का ऊर्ध्वायिन देखिए—

जायं, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से?—
आज अधिक वे भाते![३]

गौतम के महाभिनिष्क्रमण पर यशोधरा दुखी है—किन्तु उनमें उस दुःख की प्रतिच्छाया देखना नहीं चाहती वरन् उनकी सिद्धि की ही कामना करती है। उसे तो वे आज और भी अधिक भाते हैं क्योंकि लोक का कल्याण इसी में है। परार्थ और परमार्थ के लिए वह सहर्ष स्वार्थ का त्याग करती है—

१. साहित्य शास्त्र, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५५-५६
२. रस-मीमांसा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २३
३. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ २५

मेरे दुख में भरा विश्वसुख, क्यों न भरूँ फिर मैं हामी !
बुद्धं शरणं, धर्मं शरणं, संघं शरणं गच्छामिऽ।[1]

भाव का कैसा अनुकरणीय उन्नयन है। विश्वसुख के निमित्त अपने जीवनाधार के चिर-अभिलषित संपर्क के त्याग से बढ़कर और क्या त्याग हो सकता है ? सुधांशु जी तो शायद इसके मूल में भी स्वार्थ की खोज करना चाहेंगे।[2] पर विश्वबन्धुत्व का प्रतिष्ठापक यह स्वार्थ भी स्तुत्य है। नव-वय में ही विश्लिष्ट उर्मिला-विरह में भी स्वार्थ-लोप का सौंदर्य देखा जा सकता है—

मुझे भूल कर ही विभु-वन में विचरें मेरे नाथ,
मुझे न भूले उनका ध्यान।[3]

यहाँ प्रेम की सात्विकता दर्शनीय है—प्रतिदान की लेशमात्र भी आकांक्षा नहीं। "सच्चा प्रेमी", जैसा कि बाबू गुलाबराय कहते हैं, "प्रेमास्पद को पाना नहीं चाहता है वरन् अपने को उसमें खो देना चाहता है।"[4] उर्मिला के विषय में भी यही सत्य है। वह स्वयं तो लक्ष्मण के ध्यान में डूब जाना चाहती है, किन्तु यह नहीं चाहती कि उसकी स्मृति एक क्षण के लिए भी उनके कार्यकलाप में बाधक बने। सात्विकता के साथ ही उर्मिला के वियोग में 'आदर्श का गौरव' भी है। स्वप्न में भी उसे अवधि से पूर्व लक्ष्मण का आगमन सह्य नहीं, इसकी कल्पना से ही वह अस्थिर हो उठती है—

वह नहीं फिरे क्या तुम्हीं फिरे ?
हम गिरे अहो ! तो गिरे, गिरे।[5]

विश्वप्रेम भी उर्मिला में विकसित हुआ है, पर यशोधरा जैसा नहीं। हरित-भरित, उल्लसित-आनन्दित वस्तुएं प्रायः विरहिणियों को रुचिकर नहीं होतीं वरन् अपने जीवन से मेल न खाने के कारण वे उन्हें ईर्ष्या-दग्ध किया करती हैं। सूरदास की गोपियाँ इसीलिए तो मधुवन पर बरस पड़ी थीं—

मधुवन तुम कत रहत हरे !
आदि।

१. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १४७

२. मूलरूप में मनुष्य स्वार्थी है, इसी कारण परार्थ और परमार्थ के अन्तर्गत कहीं न कहीं स्वार्थ अवश्य छिपा बैठा पाया जाता है। जब तक स्वार्थ की प्रेरणा न हो तब तक जीवन में कोई क्रिया, कोई द्वन्द्व लक्षित नहीं होता।
—जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६२

३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २४८

४. सिद्धांत और अध्ययन, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०१

५. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २४३

किन्तु उर्मिला के विरह में यह बात नहीं है। वह दूसरों के सुख को देख दुखी नहीं होती अपितु उन्हें ही हर्ष-विभोर रहने को कहती है—

हँसो, हँसो हे शशि, फूल, फूलो,
हँसो, हिंडोरे पर बैठ झूलो।
यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूँ,
झड़ी लगा दूँ, इतना पिये हूँ।[1]

इतना ही नहीं वह तो अपने अतिरिक्त और किसी को दुखी देखना ही नहीं चाहती। उसका तो विश्वास है कि जब सभी सुखी होंगे तो एक-न-एक दिन उसके सुखी होने का भी अवसर आ ही जाएगा—

तरसूं मुझ-सी मैं ही, सरसे-हरसे-हँसे प्रकृति प्यारी,
सबको सुख होगा तो मेरी भी आयगी बारी।[2]

उर्मिला की यह व्यापक सुख-भावना उसके विकसित व्यक्तित्व की ही सूचक है। यद्यपि, जैसा कि प्रोफ़ेसर नगेन्द्र का भी मन्तव्य है, उर्मिला का व्यक्तित्व लुप्त नहीं हो पाया है।[3] फिर भी उसकी दृष्टि और हृदय के व्यापकत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। प्राकृतिक पदार्थों तक विस्तीर्ण उर्मिला का यह 'हृदय-प्रसार' अभिनन्दनीय है। अस्तु !

ऊपर दाम्पत्य प्रेम के उन्नयन का दिग्दर्शन हुआ है। पर रति भाव यहीं तक सीमित नहीं उसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। वस्तुतः व्यापक अर्थों में सभी प्रेम-संबंध उसमें समा जाते हैं। इनमें से देव-विषयक रति तो स्वय एक उन्नत भाव है। किन्तु गुप्त जी ने अन्यान्य प्रकारों को भी उन्नमित किया है। धर्मराज युधिष्ठिर को बन्धुओं के बिना स्वर्ग भी स्वीकार्य नहीं है। नरक से कर्ण, भीमार्जुन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी का करुण चीत्कार सुन वे स्वयं भी वहीं रहने का निश्चय कर लेते हैं। देवदूत को कह देते है—

जाओ तुम यहीं रहूंगा मैं
इन आत्मीयों के साथ सदा
स्वर्गाधिक नरक सहूंगा मैं
जाकर सुरेन्द्र को तुम मेरे
सादर सौ धन्यवाद देना
कहना, मैं हूं सन्तुष्ट यहीं
मुझ को वह स्वर्ग नहीं लेना ![4]

आत्मीयों के साथ सुख-दुःख भोगने के लिए योगियों और तपस्वियों के काम्य स्वर्ग का भी तिरस्कार !—कितना विशाल हृदय चाहिए ऐसे महार्घ त्याग के लिए ! परन्तु ये तो

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २१६
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २१२
३. दे० साकेत : एक अध्ययन, पंचम संस्करण, पृष्ठ ७४
४. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४४१

फिर भी बन्धु थे—अपने थे। युधिष्ठिर तो सहचर श्वान को भी छोड़ने को प्रस्तुत नहीं। स्वर्गारोहण-प्रसंग में मातलि ऐन्द्रिक स्यन्दन लेकर आता है, और युधिष्ठिर से उसमें बैठ बैकुण्ठ को चलने की प्रार्थना करता है। लेकिन जब वह साथी कुत्ते को साथ न ले चलने का परामर्श देता है तब युधिष्ठिर स्वयं भी जाने से इन्कार कर देते हैं—

तुम जाओ मेरा भाग्य नहीं,
जो मैं सुदेव-दर्शन पाऊं,
शरणागत, अनुजाधिक सहचर
यह श्वान छोड़ क्योंकर जाऊं ?[1]

व्यक्तित्व का इससे अधिक और क्या विकास होगा ?—सर्वभूतहितकामना का इससे बढ़कर और क्या निदर्शन हो सकता है ? यद्यपि वह श्वान स्वयं धर्म ही था—किन्तु युधिष्ठिर तो इस रहस्य से अपरिचित थे। अत: निर्विवाद रूप से यहां धर्मराज के मनोगत भाव का उन्नयन-सौन्दर्य ही उद्भासित है। रंग में भंग के हाड़ा कुंभ में यही भावना देशप्रेम बनकर आई है। बून्दी के दुर्ग की प्रतिकृति के दर्शन से भी वह भाव-गद्‌गद हो उठता है।—अपने प्राणों का भी मोह त्याग उसकी रक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाता है—

यदपि मेरा काल अब मेरे निकट आता चला,
किन्तु जीने की अपेक्षा मान पर मरना भला।
जबकि एक न एक दिन मरना सभी को है यहाँ,
फिर मुझे अवसर मिलेगा आज के जैसा कहाँ ?[2]

यहाँ देशप्रेम की वरिष्ठ भावना के साथ-साथ वीर का उन्नयन भी दर्शनीय है। यदि उत्साह की उद्‌बोधक भावना भूमि अथवा धन-हरण या फिर विजय-यश की लालसा होती तो वह उसका भोग होता। पर यहाँ इनमें से कोई भी बात नहीं है। मान-रक्षा—वह भी व्यक्तिगत नहीं जाति और देशगत मान की रक्षा—ही उसे इस कर्म में प्रवृत्त करती है। बस, यहीं भावना का उन्नयन हो जाता है। सचमुच हाड़ा कुंभ के इस सात्विक उत्साह में अद्‌भुत आकर्षण है।—और अब देखिए कुन्ती के स्त्री-हृदय का ऊर्जस्वित ओज—

तो एक यह भी कार्य है,
यह भी उन्हें अनिवार्य है,
आशीष दो करलें इसे भी सिद्ध वे।
या तो असुर को मारकर ?
हों धन्य पुर-उपकार कर;
या कीर्त्ति लें कर सूर्य-मण्डल विद्ध वे ![3]

वक-संहार प्रसंग में वक के खाने के लिए एक मनुष्य भेजने की बारी जब पाण्डवों

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३६
२. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २६
३. वक-संहार, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ३१

के आश्रयदाता ब्राह्मण-परिवार की आजाती है, तब कुन्ती उन्हें शोकाकुल देख अपना एक पुत्र भेजने की बात कहती हैं। ब्राह्मण उन्हें मना करता है। उसका कथन है कि तुम्हारे पुत्रों को अभी बहुत से सत्कार्य करने हैं। इसी का उत्तर कुन्ती उपर्युक्त पंक्तियों में दे रही हैं। उनका क्षत्रियत्व—लोक-रक्षक रूप—उनके मातृत्व पर हावी है। स्वार्थ को त्याग परार्थ और परमार्थ की इस कामना में निस्संदेह भाव का औदात्त्य है। आश्रयदाता ब्राह्मण-परिवार के ही नहीं समस्त पुरवासियों के कल्याण की इस व्यापक भावना का उदय किसी उन्नतमना उदाराशय व्यक्ति के हृदय में ही संभव है।

करुण के मूल में प्रायः व्यक्तिगत इष्टनाश अथवा अनिष्ट की प्राप्ति रहा करती है। किन्तु इस भाव का उन्नयन वहाँ होता है जहाँ इसका आधार व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत होता है। जयद्रथ-वध मे उत्तरा का विलाप प्रथम प्रकार का है—वहां करुण का भोग हुआ है। किन्तु भारत-भारती में उसका उन्नयन मिलता है क्योंकि उसकी मूल प्रेरणा—

हम कौन थे, क्या होगये हैं और क्या होंगे अभी।[1]

—देशव्यापी इष्टनाश और अनिष्टाप्ति है। उसमें कवि का शोक उन्नत और उदात्त रूप में प्रकट हुआ है। गौतम की करुणा में तो इससे भी अधिक व्यापकत्व है—वह देश और काल की सीमाओं में भी बद्ध नहीं है—

बता जीव, क्या इसीलिए है
यह जीवन का फूल हाय!
पका और कच्चा फल इसका
तोड़ तोड़ कर काल खाय?[2]

इस व्यापक सहानुभूति के कारण ही तो वे सर्वत्र कल्याण-केतु उडाना चाहते हैं।[3]

क्रोध ऐसा भाव है जिसका साधारणतः भोग ही हुआ करता है। केवल पर-कल्याण के निमित्त क्रोध करनेवाले बहुत कम मिला करते हैं। क्रोध का यह रूप निश्चिय ही दैवी सम्पद् है।[4] लक्ष्मण का क्रोध ऐसा ही श्रेयस्कर क्रोध है—

भरत होकर यहाँ क्या आज करते।
* * *
भला वे कौन हैं जो राज्य लेवें,
पिता भी कौन हैं जो राज्य देवें?
प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा,
मुकुट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा।
* * *

---

१. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ ४

२. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १५

३. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १६

४. दे० जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६६

"रहूं ?"—सौमित्रि बोले—"चुप रहूं मैं ?
तथा अन्याय चुप रह कर सहूं मैं ?
असम्भव है कभी होगा न ऐसा,
वही होगा कि है कुल-धर्म जैसा।"[1]

राम को वनवास और भरत को राज्य देने की बात सुनकर लक्ष्मण उबल पड़े। यह क्रोध का उन्नयन है जिसमें स्वार्थ-रक्षा की नहीं परहित तथा मर्यादा-रक्षा की भावना अन्तर्निहित है।

सारांश यह कि आलोच्य कवि भाव की व्यंजना मात्र से सन्तुष्ट नहीं है। वह उच्चतर लक्ष्य में उसकी परिणति का प्रयास करता है। और स्पष्ट शब्दों में उसके काव्य मे भाव का भोग नहीं वरन् उन्नयन ही मिलता है।

मूल्यांकन

गुप्त जी के भाव-पक्ष के सांगोपांग विवेचन-विश्लेषण के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उनका भाव-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है। उनके काव्य में जीवन में संभव सभी भावनाएँ और भावनाओं के विभिन्न स्तर गृहीत हैं। प्रधान मनोविकारों का चित्रण तो साधारण कवियों में भी मिल जाता है—किन्तु आलोच्य कवि की रचनाओं मे सभी संचारी भी सहज प्राप्य हैं।—और शास्त्र-बाह्य संचारी तो मानव-जीवन में उसकी गहरी पैठ के परिचायक हैं। आलम्बनों और उद्दीपनों में भी अपार वैविध्य है तथा परिस्थिति-योजना में तो इस कवि को कमाल ही हासिल है। उधर आलम्बन और उद्दीपन का अकृत्रिम सामंजस्य भी दर्शनीय है।

विस्तार और वैविध्य के साथ ही मैथिलीशरण जी में अदम्य प्राबल्य है। यद्यपि सूक्ष्मता अधिक नहीं है—किन्तु उसका सर्वथा अभाव भी नहीं। नवीन अर्थात् शास्त्र में अनुल्लिखित संचारी अन्तर्प्रवेशिनी सूक्ष्म दृष्टि के ही तो प्रमाण हैं। फिर भी उनकी भावना को संवेद्य बनानेवाला सबसे बड़ा तत्व तीव्र प्रबलता ही है—भाव की प्रबल अनुभूति के कारण ही वे बिम्ब-ग्रहण कराने में समर्थ हो सके हैं। और मार्मिक प्रसङ्गों को पहचानने की तो इस कवि में अद्भुत क्षमता है।—मर्मस्थलों का सन्धान और चयन ही तो प्रबन्ध कवि की गौरव-कसौटी है। हमने गुप्त जी की रचनाओं में प्राप्त केवल कुछ मार्मिक स्थलों की व्याख्या की है, बड़ी मुश्किल से वे दशमांश ही होंगे। प्रवृद्ध भावुकता के परिचय के निमित्त इतना ही पर्याप्त है। यहीं पर यह भी उल्लेख्य है कि उनमें भावुक क्षणों और प्रसंग

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ५६-६०

के चयन की ही नहीं सृजन की भी प्रतिभा है जिसके आधार पर उनकी गणना स्रष्टा कलाकारों में की जा सकती है। चयन-सृजन-सक्षम इस सघन भावुकता को कल्पना ने और भी दीप्ति एवं औज्ज्वल्य प्रदान किया है। यद्यपि कल्पना की विस्मयकारी उड़ान और रंगीन विलासिता इस कवि में नहीं मिलेगी पर उसकी विशदता एवं विराट्ता निश्चित रूप से प्रशंसनीय है। इसके अतिरिक्त भाव के भोग की अपेक्षा उन्नयन के आग्रह ने उसे—उसकी भावुकता को—श्रेयस्कर, शिवत्व की महिमा से मण्डित भी कर दिया है।

सब मिलाकर मैथिलीशरण जी का भाव-पक्ष काफ़ी समृद्ध है। उनके भाव-क्षेत्र का अपरिमित विस्तार, भावना का अनियन्त्रित प्राबल्य, मार्मिक प्रसङ्गों के चयन और सृजन की अमोघ शक्ति, कल्पना की अनुपम विराट्ता तथा भाव के आदर्शीकरण की अभिनन्दनीय प्रवृत्ति उन्हें विश्व के अग्रणी कवियों में स्थान दिलाती है। यदि हिन्दी के कवियों में प्रस्तुत कवि का स्थान निर्धारित करना हो तो केवल दो—तुलसी और प्रसाद ही उसके समक्ष रखे जा सकते हैं। और यदि केवल विस्तार-वैविध्य की ही दृष्टि से देखा जाए (यह भी गौरव और महत्व की एक मान्य और विश्वसनीय कसौटी है) तब तो शायद उक्त दोनों कवि भी पीछे रह जाएँगे।

कला-पक्ष

अपने व्यापक अर्थ में कला सम्पूर्ण कवि-व्यापार की द्योतक है—अनुभूति से लेकर अभिव्यक्ति तक की सारी प्रक्रियाएँ उसके अन्तर्गत आती हैं। कवि-व्यापार ही क्यों, लालित्य से संबद्ध सभी कुछ कला के नाम से अभिहित किया जाता है। वास्तव में उन सभी के मूल में सहजानुभूति रहती है—अन्तर है केवल माध्यम का। सहजानुभूति को यदि शब्दबद्ध कर दिया जाए तो वह काव्य बन जाता है, ध्वनिबद्ध किया जाए तो संगीत बन जाता है—और रंग और रेखा के माध्यम से प्रकट किया जाए तो चित्र अथवा मूर्ति का निर्माण होता है। यह तो हुआ कला का व्यापक रूप जिसमें कि सहजानुभूति से लेकर उसकी अभिव्यंजना तक का सम्पूर्ण व्यापार आ जाता है। लेकिन कला का एक स्थूल रूप भी है। जहाँ वह केवल बाह्य प्रयत्न की द्योतक है। और स्पष्ट शब्दों में कला का प्रयोग कौशल के अर्थ में भी होता है। वास्तव में कला शब्द का उच्चारण करते ही प्रकृति-भिन्न किसी वस्तु का भान होता है। यहाँ पर हम कला शब्द का प्रयोग इसी संकुचित अथवा स्थूल अर्थ में कर रहे हैं। कुछ विद्वान् कला के इस रूप को महत्वहीन मानते हैं—लेकिन यह सर्वथा नगण्य अथवा एकदम सारहीन नहीं है। यह काव्य को प्रभावक्षम बनाने का अनिवार्य साधन है। अतः इसका अध्ययन भी आवश्यक है, ठीक उसी तरह जैसे आत्मा के स्वरूप को सम्यक् रूपेण हृदयंगम करने के लिए शरीर का ज्ञान अनिवार्य है।

अभी तक गुप्त जी के भाव-पक्ष का अध्ययन किया गया है। अब कला-पक्ष पर विचार करेंगे :

(क) विभिन्न काव्य-रूपों का प्रयोग

काव्य-प्रतिभा का कलात्मक प्रकाशन यथारुचि तथा आवश्यकतानुसार अनेक सरणियों में होता है—इन सरणियों को ही काव्यशास्त्र में विधा कहा गया है। स्थूलतः आचार्यों ने इन सब विधाओं को प्रबन्ध, नाट्य एवं गीति में विभक्त किया है। यह विभाजन आत्यन्तिक तथा सर्वथा निर्दोष नहीं है, और न कोई प्रकृत कवि इनके कठोर नियमों में आबद्ध रहता है। फिर भी व्यावहारिकता की दृष्टि से ऐसा विभाजन उपादेय अतएव आवश्यक है—

और अतुल प्रतिभासम्पन्न कवि भी इस बात का तो थोड़ा-बहुत ध्यान रखता ही है कि वह उपर्युक्त विभागों में से किस प्रकार की रचना कर रहा है। इन स्थूल विभागों के फिर अनेक भेद-प्रभेद किए गए हैं। मैथिलीशरण जी पिछले पचास वर्ष से निरन्तर साहित्य-साधना कर रहे हैं—उन्होंने प्रायः इन सभी काव्य-रूपों का कुशल प्रयोग किया है। आगे उसी पर विचार किया जाएगा।

महाकाव्य

जीवन और जगत् के जातिगत अनुभवों पर आधृत कल्पान्तरस्थायी बृहत्काय प्रबन्ध-काव्य को महाकाव्य के नाम से अभिहित किया जाता है। दृश्य काव्य के अतिरिक्त साहित्य की इस विधा का स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत विवेचन-विश्लेषण किया है। कारण स्पष्ट है—दृश्य काव्य अभिनेय होने से जनता की चीज़ है। जन साधारण अमूर्त की अपेक्षा मूर्त से अधिक प्रभावित होते हैं फलतः दृश्य काव्य का प्रभावक्षेत्र श्रव्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अतएव साहित्यशास्त्रियों ने उसके महत्व के अनुरूप ही उसका प्रतिपादन किया है। महत्ता एवं प्रभावक्षमता की दृष्टि से श्रव्य काव्य के विभिन्न रूपों में महाकाव्य का अनन्य स्थान है। अतएव साहित्याचार्यों ने उन सब में इसी पर सर्वाधिक ध्यान दिया है।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अनुसार महाकाव्य का स्वरूप

सर्गबन्धोमहाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्॥
नगरार्णवशैलर्त्तु चन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीड़ामधुपानरतोत्सवैः॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि।
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजकम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलंकृति॥[1]

आचार्य दण्डी के उपर्युक्त पद्यों में संस्कृत काव्यशास्त्र में स्वीकृत महाकाव्य के लक्षणों का सार निहित है। भारतीय आचार्य के अनुसार महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार हैं—

१. महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए अर्थात् उसका विभाजन खण्डों अथवा अध्यायों में होना चाहिए। आचार्यों ने प्रकथन की सुविधा के लिए ऐसा विधान किया है। इससे

---

१. काव्यादर्श १।१४-१९

भिन्न है फ़ारसी की मसनवी शैली जहां प्रबंधकाव्य सर्गों में विभक्त नहीं होता वरन् बीच-बीच में मुख्य घटना के अनुसार शीर्षक दे दिया जाता है। ऐसी दशा में एक दृश्य अथवा स्थान से दूसरे दृश्य अथवा घटना तक पहुँचने के लिए किसी माध्यम की कल्पना करनी पड़ती है जो कि सर्वथा अस्वाभाविक और कई स्थानों पर हास्यास्पद होती है जैसी कि पद्मावत में हीरामन तोते की कथा। किन्तु सर्गबद्ध रचना में एक दृश्य से दूसरे दृश्य तक किसी माध्य अथवा अस्वाभाविक कल्पना के बिना ही पहुँचा जा सकता है। अतः बृहत् कथाओं का सर्गों अथवा अध्यायों में ही विभाजन होना चाहिए।

सर्ग असंक्षिप्त तथा अनतिविस्तीर्ण अर्थात् न अधिक बड़े और न अधिक छोटे ही होने चाहिएँ। ये दोनों ही सापेक्ष शब्द हैं—अतः कोई निश्चित पृष्ठ संख्या आदि नहीं बताई जा सकती तथापि उद्देश्य स्पष्ट है—चार-चार, पांच-पांच पृष्ठ के सर्ग न हों जिससे कि सर्ग एक मज़ाक ही बन जाए और बार-बार मोड़ आने से कथा का गांभीर्य ही नष्ट हो जाए।—और न ही सर्ग दो-दो सौ, ढाई-ढाई सौ पृष्ठों के हों जिससे कि वे किसी महत्कथा के अंश न रहकर अपने आप में पूर्ण अतएव स्वतन्त्र बन जाएं। दण्डी सर्ग संख्या के बारे में कुछ नहीं कहते, अग्निपुराणकार भी इस विषय में मौन हैं—किन्तु आचार्य विश्वनाथ महाकाव्य के लिए अष्टाधिक सर्ग अनिवार्य मानते हैं।[1] मेरे विचार में उनका अभिप्राय केवल विस्तार की ओर संकेत करने का है—इससे अधिक और कुछ नहीं। यदि किसी प्रबन्धकाव्य में 'नातिस्वल्पाः नातिदीर्घाः'[2] आठ सर्ग भी नहीं होंगे तो वह क्या महाकाव्य होगा? उसमें बृहत्कथा के लिए आवश्यक विस्तार कैसे आएगा—और सम्पूर्ण मानव-व्यापारों का चित्रण कहां से होगा? किन्तु यदि कोई लेखक आठ सर्गों के बिना ही ऐसा कर सकता है—आचार्य विश्वनाथ के निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण किए बिना ही गन्तव्य स्थल तक पहुँच सकता है तो उसके लिए इस नियम का पालन अनिवार्यतः आवश्यक नहीं। यदि इसका कठोरता से पालन करना चाहें तो आदिकवि वाल्मीकि और तुलसीदास के सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वमान्य महाकाव्य ही अपदस्थ हो जाते हैं। अतएव 'नातिस्वल्पाः नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह' से कथा की व्यापकता ही अभिप्रेत है।

२. महाकाव्य का प्रारम्भ किसी भी प्रकार के—नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक—मंगलाचरण से होना चाहिए। आस्तिक आचार्य विश्वनाथ ने भी इसको ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।[3] महाकाव्य ही क्यों अन्य विधाओं में भी यह अपेक्षित है—किन्तु इसे महाकाव्य का अनिवार्य तत्व नहीं माना जा सकता। अग्निपुराण में महाकाव्य के संबंध में मंगलाचरण का कुछ भी उल्लेख नहीं है। वस्तुतः लक्षणों का निर्धारण निगमन शैली पर हुआ करता है। दण्डी एवं विश्वनाथ के समय तक कई काव्य महाकाव्य रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे—और उन सब में किसी न किसी प्रकार का मंगलाचरण अवश्य था

---

१. **सर्गा अष्टाधिका इह—साहित्यदर्पण ६।३२०**
२. **साहित्यदर्पण ६।३२०**
३. **आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा—साहित्यदर्पण ६।३१९**

अतएव उन्होंने इसे भी नियम बना डाला। परंपरा का अनुसरण करने वाले हिन्दी कवियों ने भी अपनी सभी कृतियों में इसे स्थान दिया—वे लोग ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए इसे आवश्यक समझते थे। किन्तु मूल्यों की अराजकता के इस युग में मंगलाचरण में उतना विश्वास नहीं रह गया है। अतएव साहित्य की सभी विधाओं से मंगलाचरण की प्रथा का लोप हो रहा है—मैथिलीशरण जी से दो-एक व्यक्तियों को छोड़कर शेष कवि इसकी चिन्ता नहीं करते। आज का आलोचक भी इस ओर ध्यान नहीं देता किन्तु शास्त्रनिष्ठ पण्डित इस स्थिति से बहुत उद्विग्न हैं—

"माना कि किसी महाकाव्य में मंगलाचरण न हो तो उसकी प्रकृत शोभा की क्षति नहीं होती, पर अपनी परम्परा भी कोई वस्तु है। और नहीं तो परम्परा के ही नाते इसका कम से कम महाकाव्यों में बना रहना अच्छा ही है। नाटकों से हटा दीजिये, पर कहीं तो उसे रहने दीजिये।"[1]

सच है माया काटे नहीं कटती—किन्तु मिश्र जी जब स्वयं स्वीकार करते हैं—"किसी महाकाव्य में मंगलाचरण न हो तो उसकी प्रकृत शोभा की क्षति नहीं होती"—तब आज के कवि से केवल परंपरा-पालन के नाम पर उसकी आशा करना दुराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हाँ, परंपरा के पुजारी अब भी ऐसा कर ही रहे हैं।

३. महाकाव्य की कथा ऐतिहासिक अथवा लोक-प्रसिद्ध होनी चाहिए क्योंकि उसका साधारणीकरण सहज होता है, अतएव वह अधिक प्रभावक्षम भी होती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि कवि अपनी कल्पना शक्ति का उपयोग नहीं कर सकता वरन् उसकी कथा सर्वथा काल्पनिक अथवा उत्पादित नहीं होनी चाहिए। कल्पित कथा द्वारा साधारणीकरण अथवा रसोद्रेक यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। प्रसिद्धि के साथ-साथ आचार्यों ने सदाश्रयत्व का भी प्रतिबन्ध लगाया अर्थात् अन्त में सत् की जय और असत् की पराजय का प्रदर्शन होना चाहिए। यह महाकाव्य का ही नहीं सभी काव्य-रूपों का काम्य है।

४. कथानक नाटक की पाँचों संधियों से युक्त होना चाहिए अर्थात् उसमें उतार-चढ़ाव सम्यक् रूपेण होने चाहिएं। और स्पष्ट शब्दों में तात्पर्य यह कि कथा का विकास क्रमिक होना चाहिए—इससे तो नवीन-प्राचीन किसी भी विद्वान् का मतभेद नहीं हो सकता।

५. नायक उदात्त एवं चतुर अर्थात् कार्यदक्ष होना चाहिए। दूसरे शब्दों में तात्पर्य आचार्य दण्डी का यह है कि नायक उदात्त एवं सद्धर्म-परायण होना चाहिए। आगे चलकर विश्वनाथ ने इसे और भी स्पष्ट लिखा है—'धीरोदात्तगुणसमन्वितः।'[2] केवल उदात्तता काम्य नहीं—क्योंकि उदात्त तो रावण भी है। इसीलिए धीरता को भी आवश्यक ठहराया गया

१. वाङ्मय-विमर्श, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४०-४१

२. साहित्यदर्पण ६।३१६

जो कि राम में ही है रावण में नहीं। किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने धीरोदात्तता को कुलीन व्यक्तियों तक ही सीमित कर दिया है—

·········तत्रैको नायकः सुरः

सद्वंशः क्षत्रियो वापि·········।[1]

इस प्रकार विश्वनाथ सुरत्व एवं सद्वंश के बिना धीरोदात्त की परिकल्पना को पूर्ण नहीं मानते। अग्निपुराणकार तथा दण्डी की ओर से ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं। कारण स्पष्ट है— विश्वनाथ के समय तक जातीय विचार बहुत दृढ़ हो चुके थे। श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए श्रेष्ठ कुल अनिवार्य माना जाता था।—और किसी हद तक यह ठीक भी है, वस्तुत :—

यह विधि है विपरीत दशा में कारण होंगे अन्य

—मैथिलीशरण गुप्त

अर्थात् कुलीनता के अभाव में भी उदात्तता रह सकती है—किन्तु यह अपवाद होगा नियम नहीं, तथापि कुलीनता को नियम बनाना व्यर्थ है। नायक के लिए केवल 'धीरोदात्त-गुणसमन्वितः' ही काफ़ी है—क्योंकि जो धीरोदात्त होगा वह प्रायः कुलीन ही होगा और यदि नहीं होगा तो वह अपवाद-स्वरूप होगा।

विश्वनाथ ने एक ही कुल के एकाधिक प्रतापी राजाओं को भी नायक माना है।[2] रघुवंश के आधार पर उन्होंने ऐसा लिखा है किन्तु यह आदर्शरूप नहीं। क्योंकि एकाधिक नायक होने से कथा विशृंखल हो जाएगी—संकलनत्रय निश्चित रूप से भंग होगा। स्वयं रघुवंश में भी वास्तविक नायक राम ही हैं— और सबका चित्रण उन्हीं के चरित्र के परि-दर्शनार्थ हुआ है। महाभारत में भी कुरुकुल का वर्णन आदि पुरुष से प्रारंभ हुआ है—किन्तु नायक तो युधिष्ठिर ही हैं। तात्पर्य यह कि महाकाव्य में नायक का वंश-वृक्ष आ सकता है पर नायक अनेक नहीं हो सकते। अन्यथा किसी के भी चरित्र का पूर्ण विकास नहीं होगा और यह महाकाव्य में एक दोष होगा।

६. महाकाव्य में रस का अविरोध संचार होना चाहिए। अग्निपुराण में सभी भावों एवं रसों का समावेश अनिवार्य माना गया है।[3] किन्तु शर्त यह है कि कोई एक रस प्रमुख होना चाहिए—विषयगत वैविध्य की अवस्थिति में भी कोई एक प्रधान रस होना चाहिए, जिसमें कि सबका पर्यवसान हो।[4] स्पष्ट है कि अग्निपुराणकार किसी भी एक रस को एक-

---

१. साहित्यदर्पण ६।३१५-३१६

२. एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा—साहित्यदर्पण ६।३१६

३. सर्ववृत्तिप्रवृत्तं च सर्वभावप्रभावितं—सर्वरीतिरसैः स्पृष्टं पुष्टं गुणविभूषणैः।

4. One predominant sentiment, should run through the entire length of the poem, even in the midst of such a diversity of topics discussed therein.

—A prose English Translation of Agni Puran Edited and Published by Manmath Nath Dutt. Vol II edition 1904.

सूत्रता के निमित्त मुख्यता देने को तैयार हैं—किन्तु किसी विशिष्ट रस को नहीं जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने किया है। आचार्य विश्वनाथ शृंगार, वीर एवं शांत में से किसी एक को अंगी तथा शेष सब रसों को अंग-रूप में चाहते हैं।[1] इन तीनों में शृंगार का काम अर्थात् जीवनेच्छा से, वीर का उत्साहमूलक होने के कारण जीवन के विकास से और शांत का निर्वेदात्मक होने से जीवन के अन्तिम लक्ष्य से सहज सम्बन्ध है। इस प्रकार जीवन की मूलवृत्तियों एवं परमपुरुषार्थों से सम्बद्ध होने के कारण इन तीन रसों को ही आचार्य विश्वनाथ ने अंगी-पद प्रदान किया है—उनका यह निर्णय अनुभवसिद्ध अवश्य है, किन्तु सर्वथा निर्दोष नहीं। करुण को मुख्य रस न मानना अनुचित है। संभवतः उन्होंने इसे शोकांत अतएव अस्वस्थ मानकर छोड़ दिया परन्तु करुण का स्थायी वस्तुतः शोक न होकर मानव-सुलभ सहानुभूति है। ऐसी उदात्त सामाजिक भावनासंवलित करुण को भी अंगी रस के रूप में स्वीकार करना श्रेयस्कर ही होगा—आदि महाकाव्य (वाल्मीकि रामायण) का मुख्य रस भी तो करुण ही है !

७. धर्मार्थकाममोक्ष अर्थात् जीवन के पार्थिव तथा अपार्थिव फलों की प्राप्ति महाकाव्य का लक्ष्य होनी चाहिए। अग्निपुराणकार ने भी 'चतुर्वर्गफलं'[2] इत्यादि में महाकाव्य का यही लक्ष्य माना है—किन्तु साहित्यदर्पणकार चतुर्वर्ग में से केवल एक को महाकाव्य का लक्ष्य मानते हैं—

चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्[3]

पता नहीं आचार्य फल-चतुष्टय में से कैसे केवल एक को महाकाव्य का लक्ष्य मान बैठे ? भला केवल काम कैसे महाकाव्य का उद्देश्य हो सकता है ? अथवा मात्र अर्थ को कौन महाकाव्य का ध्येय स्वीकार कर लेगा ?—और फिर स्वयं विश्वनाथ लिखते हैं—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥[4]

जब काव्य मात्र का उद्देश्य 'चतुर्वर्गफलप्राप्तिः' है तब उसी के एक विशिष्ट रूप—महाकाव्य का 'तेष्वेकं च फलं' कैसे हो सकता है ? निस्संदेह महाकाव्य-सी महार्घ विधा का लक्ष्य एकान्त न होकर लौकिक तथा अलौकिक दोनों ही होना चाहिए—इसीलिए आचार्य दण्डी ने 'चतुर्वर्गफलोपेतं' का निर्देश किया है।

८. प्रत्येक सर्ग में भिन्न छन्द का प्रयोग होना चाहिए। प्रत्येक सर्ग का अपना पृथक् विषय होता है, अतएव उसके सम्यक् निरूपणार्थ तदुपयुक्त भिन्न छन्द की ही आवश्यकता है—किन्तु यदि किन्हीं सर्गों के प्रतिपाद्य का कुशल अंकन किसी एक ही विशिष्ट छन्द में हो

---

१. शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते—साहित्यदर्पण ६।३१७

२. अग्निपुराणम्—काव्यादिलक्षणकथनं नाम अध्यायः

३. साहित्यदर्पण ६।३१८

४. साहित्यदर्पण १।२

सके तो छन्द बदलने की भी आवश्यकता नहीं जैसे कि रामचरितमानसकार ने केवल दोहा-चौपाई में ही सम्पूर्ण ग्रंथ समाप्त कर दिया है—फिर भी उसका सौंदर्य अनिंद्य है । वस्तुतः तुलसीदास बड़े निपुण एवं मर्मज्ञ कवि थे । उन्होंने चौपाई की अन्तिम मात्राओं को लघु-गुरु करके ही अनेक छन्दों का काम ले लिया है—यथावश्यकता अन्य को तो अपनाया ही है । हाँ, एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग आवश्यक है । महाकाव्य के गाम्भीर्य के लिए यह नियम अनिवार्य है—बार-बार छन्द-परिवर्तन चांचल्य का द्योतक है जो कि महाकाव्य के लिए त्याज्य है । छन्द-परिवर्तन के आग्रह ने ही रामचन्द्रिका के महाकाव्यत्व पर अपरिहार्य आघात किया है ।

विश्वनाथ ने सर्ग के अन्तिम दो-तीन छन्द बदलने की बात भी कही है ।[1] वस्तुतः यह कथा के मोड़ का संकेत करने के लिए है अर्थात् अगले सर्ग की कथा की सूचना देने के लिए है[2]—जिससे कि सर्गों की अन्विति और पाठक की उत्सुकता बनी रहे । किन्तु ये सब महाकाव्य के साधक तत्त्व हैं अनिवार्य अंग नहीं—तात्पर्य यह कि साध्य के प्राप्त्यर्थ समर्थ कवि स्वेच्छानुसार इनमें परिवर्तन कर सकता है—महाकवि ऐसा करते भी रहे हैं । तब लक्ष्य ग्रंथों को दृष्टि में रखते हुए लक्षण ग्रंथों में भी संशोधन हो जाया करता है । प्रत्येक सर्ग में एक छन्द की ही बात लीजिए—महाकवि माघ ने अपने शिशुपाल-वध के चतुर्थ सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग किया अतएव साहित्यदर्पणकार को व्यवस्था देनी पड़ी—

नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते[3]

किन्तु इस संबन्ध में यह स्मरणीय है कि यह अपवाद है—नियम नहीं । यदि अपवाद को ही नियम बना लिया जाएगा तो जैसा कि पहिले ही निवेदन किया जा चुका है केशवकृत रामचन्द्रिका के समान वह ग्रंथ खिलवाड़ बन जाएगा—वह महाकाव्य न रहकर पिंगल-ग्रंथ होगा ।

९. महाकाव्य में संध्या-सूर्य, नगर-नदीश, संयोग-वियोग, पुत्र-कलत्र, सैर-शिकार आदि का यथास्थान सांगोपांग वर्णन होना चाहिए । तात्पर्य यह कि जीवन और जगत् के वैविध्य का चित्रण अपेक्षित है—सभी अवस्थाओं एवं परिस्थितियों का आलेखन आवश्यक है । आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में—

संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥
संभोग विप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह ।[4]

---

१. एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः—साहित्यदर्पण ६।३२०
२. सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्—साहित्यदर्पण ६।३२१
३. साहित्यदर्पण ६।३२१
४. साहित्यदर्पण ६।३२२-३२४

१०. काव्यादर्शकार ने तो नहीं पर साहित्यदर्पणकार ने महाकाव्य के नाम के विषय में लिखा है कि उसका नाम कवि के नाम पर, वृत्त के अनुसार अथवा नायक (इसके अन्तर्गत नायिका भी परिगणित है) के नाम पर रखा जाता है—किन्तु कोई और नाम भी सम्भव है।[1] स्पष्ट है कि इससे बाहर कोई नाम हो ही नहीं सकता। पर इसे प्रासंगिक होते हुए भी महाकाव्य का तत्त्व नहीं माना जा सकता।

अब संस्कृत साहित्यशास्त्र में स्वीकृत महाकाव्य के वास्तविक तत्त्वों का सहज ही संधान किया जा सकता है :—

मुख्य

१. कथावस्तु लोक-प्रख्यात, महदाकार तथा क्रमबद्ध होनी चाहिए।
२. नायक अथवा मुख्य पात्र धीरोदात्त अर्थात् धीरता, गंभीरता तथा ओज आदि महनीय गुणों से सम्पन्न होना चाहिए।
३. शृंगार, वीर, शान्त (तथा करुण) में से कोई एक अंगी तथा शेष सभी रस अंग-रूप में आने चाहिएं।
४. महाकाव्य का लक्ष्य फल-चतुष्टय—धर्मार्थकाममोक्ष होना चाहिए।
५. शैली विस्तारगर्भा, नानावर्णनक्षमा, गाम्भीर्यपूरिता तथा अलंकार-सज्जिता होनी चाहिए।

गौण

१. महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए।
२. सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए।
३. प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए।
४. सर्ग के अन्तिम दो-तीन छन्द परिवर्तित और उनमें भावी कथा की ओर संकेत होना चाहिए।
५. सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, मध्याह्न, मृगया, संग्राम, यात्रा, विवाह, मुनि, स्वर्ग, नगर आदि का वर्णन होना चाहिए।
६. महाकाव्य का आरम्भ मंगलाचरण से होना चाहिए।

विदेश में भी अपने ढंग पर काव्यशास्त्र का गम्भीर अध्ययन हुआ—वहाँ महाकाव्य की समानान्तर विधा को एपिक पोइट्री (Epic Poetry) के नाम से अभिहित किया गया है। अरिस्टॉटल[2] (Aristotle) के अनुसार उसके मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं—

1. It is narrative in form—massive and dignified.
2. The plot manifestly ought to be constructed on dramatic principles.

---

१. कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा—साहित्यदर्पण ६।३२४
2. The poetics of Aristotle edited with critical notes and a Translation by S.H. Butcher—Fourth edition pp. 21-23 and 91-95.

3. It is an immitation in verse of characters of a higher type.
4. It should have for its subject a single action, whole and complete, with a beginning, a middle and an end.
5. It must be simple or complex or ethical or pathetic.
6. Employs a single metre—stateliest and most massive.
7. The element of wonderful has wider (than drama) scope in epic poetry.

१. काव्य की यह विधा विशालकाय, शालीन—किन्तु प्रकथनात्मक होती है। तात्पर्य यह नहीं कि महाकाव्य में संवादों की योजना नहीं हो सकती वरन् कथोपकथन इसका अनिवार्य तत्त्व नहीं है। नाटक तो वार्तालाप के बिना चल ही नहीं सकता परन्तु महाकाव्य में ऐसी बात नहीं। हाँ, सौंदर्य-वर्द्धन के लिए कहीं-कहीं संवादों की अवतारणा उपादेय ही होगी। वस्तुतः महाकाव्य नाटक की अपेक्षा प्रकथनात्मक होता है अतएव उसे (Narrative in form) कहा गया है। परवर्ती शताब्दियों में विशालता एवं गरिमा के अतिरिक्त राष्ट्रीयता के तत्त्व का भी समावेश हुआ अर्थात् महाकाव्य का कथानक राष्ट्र की ऐतिहासिक, पौराणिक गाथाओं पर अवलम्बित होना चाहिए।[1]

२. वस्तु का निर्माण नाटकीय सिद्धान्तों पर होना चाहिए—आचार्य विश्वनाथ ने भी 'सर्वे नाटकसंधयः'[2] में यही बात कही है। अभिप्राय यह कि कथा का विकास क्रमिक होना चाहिए। देश-विदेश के सभी आचार्यों ने प्रायः नाट्यकला का विवेचन महाकाव्य से पहिले किया है। इसीलिए महाकाव्य की वस्तु का विश्लेषण करते समय पुनरुक्ति के निवारणार्थ नाटकीय वस्तु के नियमों का उल्लेख कर देते हैं। पौरस्त्य तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इसी कारण महाकाव्यगत वस्तु के क्रमशः विकास के लिए एक ही शब्दावली का प्रयोग हुआ है।

३. इसमें श्रेष्ठ पात्रों का पद्यात्मक वर्णन होता है—अर्थात् महाकाव्य के पात्र, कम से कम विजयी पात्र, गुण-सम्पन्न होते हैं। अपने यहाँ इसी को धीरोदात्त कहा गया है।

४. महाकाव्य का विषय एक होना चाहिए—इसमें वैविध्य रह सकता है पर उसके तल में एकता का सूत्र अनुस्यूत रहना चाहिए। अन्यथा कथा के विशृङ्खल होने की आशंका है। इसीलिए अरिस्टॉटल कहते हैं कि कथा के आदि, मध्य और अवसान स्पष्ट होने चाहिएं

---

1. (i) The Prime material of the epic poet, then must be real and not invented.

—The Epic by Abercrombie
Edition 1922, page 55

(ii) (Epic Poet) is bound to the past, in one way; it is laid upon him to tell the stories of the greatmen of his own race.

—Epic and Romance, W. P. Ker
Edition 1926, page 25

२. साहित्यदर्पण ६।३१७

अर्थात् कथा विस्तृत होने पर भी सुशृंखल होनी चाहिए।

५. यह सरल (simple), जटिल (complex), भावप्रवण (pathetic) अथवा नैतिक (Ethical) होगी। यहाँ अरिस्टॉटल ने दो बातों—कथा के प्रकार और उद्देश्य को मिला दिया है। जहाँ कथा स्पष्ट और द्विधारहित होगी वह सरल—और जहाँ पर संशय एवं आकस्मिकताजन्य कुतूहल का आधिक्य होगा वह जटिल होगी। भारतीय आचार्यों ने इस प्रकार का कोई भेद नहीं किया।

महाकाव्य का उद्देश्य होगा नैतिक सत्यों की स्थापना अथवा भावोद्दीपन। नैतिकता तथा भावोद्दीपन विरोधी नहीं हैं—एक के भाव में दूसरे का अत्यन्ताभाव नहीं है। पर प्रश्न प्राधान्य का है। जिस महाकाव्य में नीति पर अधिक बल दिया जाएगा वह नीति-प्रधान और जिसमें भावना पर अधिक बल दिया जाएगा वह भाव-प्रधान होगा। वैसे ये दोनों ही तत्त्व एक-दूसरे के प्रतियोगी न होकर सहयोगी हैं। पौरस्त्य काव्यशास्त्र में दोनों का ही मणिकांचन संयोग है—आचार्य दण्डी के 'रसभावनिरन्तरम्' तथा 'चतुर्वर्गफलोपेतं' इसके साक्षी हैं।

६. आद्यंत एक ही प्रबल तथा उदात्त छन्द का व्यवहार होता है। विषय की गौरव-गरिमा तथा गाम्भीर्य के रक्षणार्थ यह अत्यन्तावश्यक है। तथापि सम्पूर्ण काव्य में एक ही छन्द से काम चलाना—एक ही वृत्त में समग्र भावभंगिमाओं की कुशल अभिव्यक्ति तुलसीदास अथवा होमर जैसे समर्थ कवियों के ही बूते की बात है। अतएव भारतीय आचार्य ने कई छन्दों के प्रयोग की अनुमति दे दी है, किन्तु उसके अनुसार भी कम से कम एक सर्ग अथवा खण्ड में तो एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए। क्योंकि कई वृत्तों के मिश्रण से तो वस्तु-सौंदर्य ही नष्ट हो जाएगा।

७. अतिमानवी-तत्त्वों के संयोजन को भी विदेश में महाकाव्य का अंग मान लिया गया है—किन्तु यह अनिवार्य नहीं है। इसके बिना भी महाकाव्य की रचना हो सकती है पर किसी महाकाव्यकार ने ऐसा प्रयास नहीं किया है।[1] इसका कारण भी स्पष्ट है—महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक-पौराणिक होता है। कुछ काल व्यतीत हो जाने पर लोकप्रसिद्ध व्यक्तियों में अतिमानवीय शक्तियों का आरोप कर दिया जाता है—कृतज्ञ मानवता इसी प्रकार अपने उद्धारकों से उऋण होती है। परिणामस्वरूप महाकाव्यों में अतिमानवीयता का समावेश हो जाता है। भारतीय आचार्यों के इस प्रकार का कोई तत्त्व न मानने पर भी भारतीयों के सभी महाकाव्यों में इसका समावेश है।

तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है—दोनों ने शब्द-भेद से एक ही बात कही है। दोनों का साध्य निश्चित रूप से एक ही है—यदि कुछ मत-भेद है तो केवल साधनों के विषय में—विशेषतः

1. ....Very few epic poets have ventured to do without supernatural machinery of some sort.

—The Epic, Abercrombie

साधनों की वर्णन-शैली में। सारतः महाकाव्य के सर्वस्वीकृत लक्षण अधोलिखित हैं—

१. महाकाव्य एक बृहत्काय, विशद एवं व्यापक काव्य होता है। इसकी कथावस्तु महान्, ऐतिहासिक, क्रमबद्ध, सरस, सजीव तथा वैविध्यपूर्ण होनी चाहिए। और स्पष्ट शब्दों में महाकाव्य में व्यष्टि का जीवन न होकर समष्टि के जीवन का अन्तरंग-बहिरंग होना चाहिए।
२. इसके प्रमुख पात्र धीरोदात्त अर्थात् धीरता, गंभीरता तथा ओजसम्पन्न होने चाहिएं।
३. पार्थिव तथा पारमार्थिक जीवन-पुरुषार्थों की उपलब्धि महाकाव्य का उद्देश्य होता है।
४. महामहिम प्रतिपाद्य के अनुरूप शैली भी अत्यन्त शालीन, विभूतिमति तथा गरिमावरिष्ठ होनी चाहिए।

मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य : मूल धारणाएँ

सिद्धान्त रूप में मैथिलीशरण जी ने कहीं किसी प्रसंग में भी इस काव्य-रूप के विषय में अपने विचार प्रकट नहीं किए हैं। किन्तु उन्होंने महाकाव्यों का प्रणयन अवश्य किया है—साकेत और जय भारत निश्चित रूप से महाकाव्य हैं। इन दोनों के आधार पर उनकी महाकाव्य सम्बन्धी धारणाओं की कल्पना की जा सकती है। इनमें बाह्य रूप-रचना की दृष्टि से असमानता होने पर भी मूल अन्तर्तत्त्वों में विशेष भेद नहीं है। इनकी वस्तु, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य और रस-व्यंजना आदि में सूक्ष्म मौलिक साम्य है।

वस्तु

किसी साहित्यिक कृति के कथानक को वस्तु अथवा कथावस्तु कहा जाता है। महाकाव्य अन्ततः कथा-काव्य है—वस्तु उसका महत्वपूर्ण अंग है। इसीलिए स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने काव्य की इस विधा की कथावस्तु का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। महाकाव्य की कथा ऐतिहासिक अथवा लोक-प्रसिद्ध होनी चाहिए। कवि को अपनी कल्पना शक्ति के उपयोग का अधिकार अवश्य है—किन्तु उसकी कथा सर्वथा उत्पादित नहीं होनी चाहिए। क्योंकि कल्पित कथा द्वारा साधारणीकरण अथवा रसोद्रेक अपेक्षाकृत कठिन हो जाते हैं। अतएव मैथिलीशरण महाकाव्य के लिए सुविख्यात कथानक ही अपनाते हैं।

मूल-स्रोत

राम एवं युधिष्ठिर आदि के पावन चरित न जाने कब से प्रचलित हैं—रामायण और महाभारत भारतवर्ष के दो श्रेष्ठ और समादृत महाकाव्य हैं। सहस्रों वर्ष उपरान्त आज भी इनका महाकाव्यत्व अक्षुण्ण है। गुप्त जी ने इन चिरपुरातन महाकाव्यों के कथानकों को ही वस्तु-रूप में ग्रहण किया है—अन्य ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथाओं को नहीं। कारण स्पष्ट है—ऐतिहासिक कथाओं में कवि का अभीष्ट आदर नहीं है और पौराणिक गाथाएँ

इतनी प्रतीकात्मक हैं कि उनमें ऐहिक जीवन की कर्मण्यता का अभाव है। दिव्य जीवन का आदर्श और ऐहिक जीवन की कर्मण्यता—इन दोनों का समन्वय उपलब्ध है रामायण तथा महाभारत में अतएव मैथिलीशरण केवल इन दो कथानकों को महाकाव्य के उपयुक्त मानते हैं।

परिमाण और प्रभाव

रामायण और महाभारत की वस्तु को ग्रहण करने का दूसरा कारण है उनका विपुल परिमाण और पुष्कल प्रभाव। महाकाव्य की कथा बृहदाकार तथा सप्रभाव होनी चाहिए। गुप्त जी के महाकाव्यों की वस्तु भी अत्यन्त विशद एवं विशाल है। साकेत में स्पष्ट रूप से लक्ष्मण-उर्मिला एवं राम-सीता के दो सम्बद्ध पर भिन्न कथानकों का अन्तर-आयोजन हुआ है—कवि ने इन दोनों को एक ही में समाहित करने का प्रयास किया है। इतना जटिल कथानक स्वयं वाल्मीकि एवं तुलसी ने भी नहीं अपनाया था। जय भारत में भी यही हुआ है—महाराज नहुष के वृत्तान्त से लेकर पाण्डवों के स्वर्गारोहण तक की एक भी बात छूटने नहीं पाई है। महाभारत पर आधृत—किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध—आदि जितने भी महाकाव्य आज तक लिखे गए हैं उन सबमें इस कथा के किसी एक अंश को ही वस्तु-रूप में अपनाया गया है। किन्तु जय भारतकार ने उसे समग्र रूप में ग्रहण करने का प्रयास किया है।—और प्रभावक्षमता तो इन कथानकों की निर्विवाद ही है। भारतीय जनमानस पर साकेत के आधार रामायण का प्रभाव स्वयंसिद्ध है। उधर जय भारत के मूल-स्रोत महाभारत को पंचम वेद अथवा भारतीय संस्कृति का विश्वकोष तक माना जाता है। मैं समझता हूँ इनके प्रभूत प्रभाव की सिद्धि के लिए किसी साक्षी की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार मैथिलीशरण महाकाव्यों के लिए अत्यन्त लोक-प्रसिद्ध, विस्तृत तथा प्रभावक्षम वस्तु का चयन करते हैं।

मूलवर्ती दृष्टिकोण

पूर्वोक्त दोनों कथाएँ भारतवर्ष में शताब्दियों से गाई जा रही हैं—और प्रत्येक युग अपने विश्वासों एवं मान्यताओं के अनुसार उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन करता आया है। गुप्त जी ने भी उनमें युगधर्म की प्रतिष्ठा की है। वे जहाँ भी जाते हैं अपने युग का वातावरण लेकर जाते हैं। उनके महाकाव्यों में वर्तमान युग के विचार-व्यवहार का समावेश हुआ है—साकेत में राम वन-प्रयाण के अवसर पर अयोध्यावासी उनके रथ के आगे लेट जाते हैं।[1] इसी प्रकार जय भारत के नहुष पतन के समय भी मानवोत्थान के विश्वासी हैं।[2] भारतेन्दु युग में आरब्ध तथा द्विवेदी-काल में परिपुष्ट जनजागरण के प्रभाव से हमारे देश में व्यापक राजनैतिक सजगता ही नहीं बौद्धिक उद्‌बोधन भी हुआ। श्रद्धा की अपेक्षा वैज्ञानिकता की ओर झुकाव हुआ। फलस्वरूप प्राचीन कथानकों का बौद्धिक व्याख्यान किया गया। स्वाभाविक

---

१. साकेत, संस्करण सम्वत् २००५, पृष्ठ ८९

२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १४

तथा विवेकसम्मत घटना-विधान की प्रवृत्ति बढ़ी और मानवीयता एवं राष्ट्रीयता का समावेश किया जाने लगा। मैथिलीशरण भी अतिप्राकृत तत्व का निराकरण कर वस्तु को तर्कसंगत रूप प्रदान करते हैं। अतएव उनके महाकाव्यों में राम और कृष्ण की अलौकिक शक्तियों का प्रयोग प्रायः नहीं है। हरण से पूर्व साकेत की सीता अग्नि-प्रवेश नहीं करती, और न ही जय भारत में पद्मनालस्थित इन्द्र के पास उपश्रुति के साथ इन्द्राणी के जाने का उल्लेख है। मानवीयता एवं राष्ट्रीयता आदि की प्रतिष्ठा के लिए भी उन्होंने काफ़ी परिवर्तन किए हैं : जय भारत की हिडिम्बा राक्षसी होने पर भी काम-पीड़ा की दुहाई नहीं देती, राम पर आपत्ति का समाचार सुनते ही शत्रुघ्न सेना-संकलन करते हैं।[1] किन्तु गुप्त जी दीर्घ परम्पराओं एवं विश्वासों की अवहेलना सहज ही नहीं कर पाते। वे कथानक को विवेकसम्मत रूप भी देना चाहते हैं और परम्परागत विश्वासों की रक्षा भी। वे श्रद्धा एवं नवीन दृष्टिकोण के समन्वय का प्रयत्न करते हैं। जय भारतकार के युधिष्ठिर द्रौपदी-पंचपत्नीत्व समस्या का समाधान करते हैं—

बोले धर्मात्मज धृतिशाली
वर पार्थ वधू है पांचाली
दो वर ज्येष्ठ का पद पावें
दो देवरत्व पर बलि जावें
भोगें यों पाँचों सुख इसका।[2]

इस प्रकार कवि का श्रद्धा-समन्वित संस्कारी हृदय युग-युगान्तरों के विश्वास की अवहेलना नहीं कर सका है। निदान व्यासकृत व्यवस्था ही स्वीकार करनी पड़ती है और उसकी पुष्टि में प्रसिद्ध पौराणिक कल्पना।[3] साकेत में हृदय और बुद्धि का, विवेक और संस्कारिता का तथा श्रद्धा और नवीन दृष्टिकोण का यह समन्वय और भी स्पष्ट है।

नूतन उद्‌भावनाएं

विवेकसम्मत घटना-विधान, मानववाद की प्रतिष्ठा तथा राष्ट्रीयता आदि के कारण ही गुप्त जी के महाकाव्यों में अनेक उद्‌भावनाएं हुई हैं जिनमें से संक्षेपतः कुछ इस प्रकार हैं:—

१. अयोध्यावासियों की शस्त्र-सज्जा

हनुमान द्वारा लक्ष्मण के शक्ति-प्रहार से मूर्च्छित होने की बात श्रवण कर शत्रुघ्न शंख बजा देते हैं। अयोध्या में आशंका की लहर-सी दौड़ जाती है, और तब सम्पूर्ण अयोध्या लंका-प्रयाण को प्रस्तुत हो जाती है। यह प्रसंग राम-काव्य के लिए अपरिचित है—किन्तु राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत कवि के लिए सर्वथा अनिवार्य! वाल्मीकि रामायण में तो

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३०५, ३०६

२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११०

३. कहते हैं पांच बार बर था महेश का

—जय भारत, प्र० सं०, पृष्ठ ११०

यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता—वहाँ तो न हनुमान संजीवनी लाते हैं और न अयोध्या-वासियों को इस आपत्ति का समाचार मिलता है। किन्तु रामचरितमानस के भरत इस तथ्य से अवगत होकर भी तटस्थ हैं। यद्यपि उन्हें इसका शोक काफ़ी है—

अहह देव मैं कत जग जायउं।
प्रभु के एकहु काज न आयउं॥[1]

तथापि वे हैं सर्वथा निश्चेष्ट। तुलसीदास हनुमान के मुख से भरत की रामभक्ति का गुणगान करते हुए उसके लंका-प्रस्थान का उल्लेख कर—

भरत-बाहु-बल-सील-गुन प्रभु-प्रद-प्रीति अपार।
जात सराहत मनहि मन पुनि पुनि पवन कुमार॥[2]

सीधे लंका-स्थित राम-लक्ष्मण का वर्णन करने लगते हैं—

उहां राम लछिमनहि निहारी।
बोले बचन मनुज अनुसारी॥
अर्धराति गइ कपि नहिं आयउ।
राम उठाइ अनुज उर लायउ॥[3]

कितनी असंगत बात है कि जिसका वियोग भरत तथा अन्य अयोध्यावासियों को असह्य है उसी प्रिय राष्ट्रनायक को आपद्ग्रस्त देखकर भी वे लोग निष्क्रिय हैं। स्वयं तुलसीदास अपनी गीतावली के इसी प्रसंग में सुमित्रा से शत्रुघ्न को लंका-प्रयाण का आदेश दिलाते हैं और वे भी अपने को धन्य मानते हैं—

तात ! जाहु कपि संग रिपुसूदन उठि करि जोरि खरे हैं।
पमुदित पुलकि पैंत पूरे, जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं॥[4]

किन्तु इस आज्ञा का परिपालन कहीं दृष्टिगत नहीं होता (कदाचित् प्रबन्धकाव्य न होने के कारण)। लंका-प्रस्थान की निष्पत्ति तो साकेत में भी नहीं होती पर वहाँ तर्कसंगत समाधान तो है—

शान्त, शान्त ! सब सुनो कहाँ जाते हो ठहरो,
लंका विजितप्राय, तनिक तुम धीरज धारो॥[5]

—वसिष्ठ

इसके पश्चात् मुनि वसिष्ठ अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा लंका का दृश्य दिखा सबका रोष-शमन करते हैं। इस प्रकार कवि ने बड़ी योग्यता से इस असंगति का निवारण किया

---

१. **रामचरितमानस—लंकाकाण्ड, पृष्ठ ८८३** (ना० प्र० स० सं०)
२. **रामचरितमानस—लंकाकाण्ड, पृष्ठ ८८३** (ना० प्र० स० सं०)
३. „ „ „ ८८४ („ „ „ „)
४. **गीतावली—लंकाकांड**
५. **साकेत, संस्करण संवत्** २००५, **पृष्ठ** ३१६

है।—और अयोध्यावासियों में वांछित राष्ट्रीयता की स्थापना की है। भरत तो सीता के लंका-निरोध को भारत-लक्ष्मी का बन्धन ही मानते हैं—

भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में।
सिन्धु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।।[1]

यहाँ स्पष्टतः समकालीन प्रभाव है—यह तत्कालीन भावना कदापि नहीं हो सकती।

२. द्रौपदी-चीरहरण

यह महाभारत का अत्यन्त लोमहर्षक प्रसंग है। सभाभवन में पंचपांडवों की धर्मपत्नी पांचाली को नग्न करने का प्रयत्न क्या कोई छोटी-सी बात है? यह जघन्य कर्म गुरुजनों के समक्ष होता है अतः उसकी भीषणता और भी बढ़ जाती है। फिर द्रौपदी की लज्जा की रक्षा भी अस्वाभाविक ढंग से ही होती है। द्रुपदसुता भगवत्-स्मरण करती है—धर्म कपड़ा बनकर बढ़ने लगता है। धर्म-प्रताप और कृष्ण-कृपा से वह चीर समाप्त नहीं होता।[2] कपड़ा खींचते-खींचते जब दुःशासन थक जाता है तब लज्जित होकर बैठ जाता है। गुप्त जी ने इस प्रसंग की भीषणता और अस्वाभाविकता को दूर करने का सफल प्रयत्न किया है। सर्वप्रथम तो उस धिक्कृत सभा से उन भीष्म, द्रोण और विदुर को हटाया जो क्रुद्ध भीमसेन को तो शान्त करते हैं—

तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च।
क्षम्यतामिदमित्येव सर्वं संभाव्यते त्वयि।।[3]

—किन्तु दुष्कर्मा दुःशासन को रोकने में असमर्थ हैं। एक ओर तो इससे उन पुण्यात्माओं के आत्म-सम्मान एवं गौरव की रक्षा होती है और दूसरे इस घोर कर्म की भीषणता भी अपेक्षाकृत कम हो जाती है। अतिप्राकृत तत्त्व का भी सप्रयत्न निराकरण हुआ है। जय भारत में भी द्रौपदी भगवान् का स्मरण तो करती हैं पर उससे उनका कपड़ा नहीं बढ़ता। वरन् वे दुःशासन की प्रतारणा करती हैं और तब—

सहसा दुःशासन ने देखा अन्धकार-सा चारों ओर
जान पड़ा अम्बर-सा वह पट जिसका कोई ओर न छोर
आकर अकस्मात् अति भय-सा उसके भीतर पैठ गया
कर जड़ हुए और पद कांपे, गिरता-सा वह बैठ गया।।[4]

अपनी बात को और अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए कवि वहाँ गांधारी को भी उपस्थित करता है जिससे—

चौंक संभल कर पाप-सभा ने पुनः सभ्यता-सी पाई

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २९७
२. महाभारत, सभापर्व ६८।४६-४८
३. महाभारत, सभापर्व ७०।१८
४. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३८
५. " " " " " "

३. कृष्ण दौत्य

कृष्ण पाण्डवों की ओर से सन्धि-संदेश लेकर जाते हैं--किन्तु दुर्मति दुर्योधन किसी प्रकार भी नहीं मानता वरन् दूतवेषधारी कृष्ण को बन्दी बनाने का अवैध कर्म करने को उद्यत होता है। तब वे अपना विश्वरूप प्रकट करते हैं। उनके शरीर से ज्योतिष्पुञ्ज तथा अंगूठे के बराबर देवता निकलने लगते हैं। उनके मस्तक पर ब्रह्मा, वक्षस्थल पर रुद्र दृष्टिगत होते हैं, यही नहीं युधिष्ठिर, भीमार्जुन, नकुल-सहदेव और बलराम भी शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित दिखाई देने लगते है।[१] कृष्ण के नेत्रों, नासिका-रन्ध्रों और कानों से सधूम अग्नि निकलने लगती है--

नेत्राभ्यां नस्ततश्चैव श्रोत्राभ्यां च समन्ततः।
प्रादुरासन्महारौद्राः सधूमाः पावकार्चिषः॥[२]

उनके इस रूप के दर्शन कर भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर, संजय और तपस्वियों के अतिरिक्त सब डर जाते हैं। कृष्ण षोडश कला अवतार हैं—फिर भी जब उन्होंने मानवावतार लिया है तो कर्म भी मानवीय ही करने होंगे। वे महामानव भले ही बन जाएं—किन्तु मानवेतर नहीं। उक्त प्रसंग को हृदयंगम करने के लिए अंध-विश्वास अथवा अतर्क्य श्रद्धा की अपेक्षा है। आज का पाठक इसे गले से उतारने में असमर्थ है। अतः जय भारतकार ने इसे विवेक-सम्मत रूप देकर प्रस्तुत किया है—

दुर्योधन की ओर न जाने देखा कैसे
परिकर समेत वह कांप कर वहीं लड़खड़ाता रहा
वे गये विदुर के गेह, वह बैठ बड़बड़ाता रहा।[3]

यह विवरण अत्यन्त संक्षिप्त होने पर भी बुद्धि-संगत एवं मनोवैज्ञानिक है।

४. चित्रकूट की सभा में कैकेयी का सफ़ाई पेश करना

वाल्मीकि और तुलसी दोनों ही दुष्कर्मा कैकेयी को अपनी बात कहने का पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं देते। भरत द्वारा उसकी प्रतारणा अवश्य कराई जाती है—

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा विश दण्डकान्।
रज्जुं बद्ध्वाथवा कण्ठे नहि तेऽन्यत्परायणम्॥[४]

तुलसी की कैकेयी ग्लानि-गलित भी है किन्तु उसे कुछ बोलने का मौका नहीं दिया जाता। वह मृत्यु का आवाहन तो करती है पर राम से प्रत्यावर्तन का आग्रह नहीं।[५] गुप्त जी

---

१. **महाभारत, उद्योगपर्व १३१।४-९**
२. **महाभारत, उद्योगपर्व १३१।१२**
३. **जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३२४**
४. **वाल्मीकीय रामायण—अयोध्याकाण्ड ७४।३३**
५. **अवनि जमहिं जांचति कैकेई।**
महि न बीचु विधि मीचु न देई॥ रामचरितमानस—अयोध्या काण्ड

सर्वप्रथम उसे अपनी सफ़ाई पेश करने का सुयोग प्रदान करते हैं—

हाँ जन कर भी मैंने न भरत को जाना
सब सुन लें तुमने स्वयं अभी यह माना
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया
अपराधिन मैं हूँ तात तुम्हारी मैया ॥[1]

इस प्रकार मानववादी कवि ने प्रायश्चित्त के द्वारा कैकेयी के दोष-परिहार का प्रयत्न किया है।

इनके अतिरिक्त वक-संहार, नहुष, हिडिम्बा आदि खण्डों से संबद्ध उद्‌भावनाएँ भी उल्लेखनीय हैं किन्तु उनका आलेखन मैं पहले ही कर चुका हूँ। ये नूतन कल्पनाएं गुप्त जी के महाकाव्यों को मौलिकता प्रदान करने में सहायक हैं।

मौलिकता

वास्तव में किसी भी काव्य के लिए मौलिकता अनिवार्यत: अपेक्षित है। इसके अभाव में रचना की सम्पूर्ण साज-सज्जा, उसका समग्र भाव-वैभव व्यर्थ है।—और फिर मैथिलीशरण के कथानक तो बहुश्रुत थे। यदि कवि नूतन रूप न दे पाता तो उन्हें बार-बार कौन पढ़ता ? यद्यपि संस्कारी कवि मैथिलीशरण गुप्त के हृदय में प्राचीनता के प्रति महती श्रद्धा है तथापि उनके दोनों महाकाव्य मौलिक हैं। सर्वप्रथम तो उनमें मौलिकता है राष्ट्रीय-मानवीय दृष्टिकोण की जिसके कारण कि आदर्श एवं विवेक-सम्मत घटना-विधान हुआ है। दूसरे कवि मूल कथानक के रस में परिवर्तन भी करता है। वाल्मीकीय रामायण का मुख्य रस करुण और रामचरितमानस का प्रधान रस शान्त है—किन्तु साकेत का अंगी रस इन दोनों में से कोई न होकर शृङ्गार है। इसी प्रकार महाभारत का प्रधान रस शान्त माना जाता है पर गुप्त जी के जय भारत का मुख्य रस वीर है। यह रस-परिवृत्ति विशेष चमत्कार की उत्पादक एवं उत्कृष्ट कवित्व शक्ति की परिचायक है। प्रबन्धवक्रता का यह श्रेष्ठ रूप है। प्रबन्धवक्रता के साथ-साथ इन काव्यों में प्रकरणवक्रता भी विद्यमान है। गुप्त जी बड़ी योग्यता से नीरस का त्याग करते हैं: लंकाकाण्ड के चिर-परिचित इतिवृत्त का संक्षेप तथा जय भारत में आदिपर्व की अधिकांश घटनाओं की उपेक्षा इसी कारण हुई है। इसके विपरीत वे रसपेशलता के निमित्त मूल में अविद्यमान प्रकरणों की परिकल्पना करते हैं। उदाहरणत: उर्मिला-लक्ष्मण प्रेम-परिहास, उर्मिला-विरह, भरत-माण्डवी संवाद आदि, रामकाव्य के लिए नूतन प्रसंग हैं। और कुन्ती में सहज मातृहृदय एवं हिडिम्बा में नारी स्वभाव की स्थापना आदि महाभारत के लिए सर्वथा अपरिचित प्रकरण हैं। किन्तु रस-संचार में समर्थ होने के कारण महाकाव्यों को अपूर्व दीप्ति एवं मौलिकता प्रदान करते हैं और पूर्वोल्लिखित उद्‌भावनाएँ तो नूतन अतएव मौलिक हैं ही। इसके अतिरिक्त कवि घटनाओं के क्रम में भी परिवर्तन करता है। महाभारत में नहुष-चरित अधिकांशत:

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७८

उद्योगपर्व के अन्तर्गत आता है पर जय भारत में उसे सर्वप्रथम स्थान मिला है। साकेत में यह व्यतिक्रम और भी अधिक है। रामायणों के बालकाण्ड की कथा उसके दशम सर्ग में आती है—उर्मिला स्मृति-रूप में सरयू को पूर्वकथाएँ सुनाती है। इस प्रकार गुप्त जी विश्व-विख्यात एवं परम्परागत कथानकों में भी मौलिकता के दुष्कर समावेश में कृतकार्य हैं। और यह कृतकार्यता निश्चित रूप से उनकी सफल प्रबन्ध-कल्पना की परिचायक है।

वस्तु-संघटना

मौलिकता के साथ ही कथानक की क्रमबद्धता भी अनिवार्य है। महाकाव्य चाहे घटना-प्रधान हो और चाहे चरित्र-प्रधान उसमें वस्तु का विशेष महत्व है अतएव स्वदेश-विदेश के आचार्यों ने उसकी संघटना की ओर विशेषतः ध्यान आकृष्ट कराया है। कथानक की सुव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि उसके आदि, मध्य, अवसान स्पष्ट हों। और संपूर्ण घटनाएँ एक ही मुख्य घटना में पर्यवसित हो जाएँ। आलोच्य कवि के महाकाव्यों में सर्वथा स्पष्ट न होने पर भी आदि, मध्य एवं अवसान का सन्धान असंभव नहीं। साकेत के प्रथम आठ सर्गों को आदि, नवम और दशम को मध्य तथा शेष दो को अवसान के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है। इसी तरह जय भारत में नहुष से लेकर लक्ष-वेध तक के १३ प्रकरणों को आदि, इन्द्रप्रस्थ से बृहन्नला तक के १७ खण्डों को मध्य और शेष कथा को अवसान मान सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि सम्पूर्ण कथा की व्यवस्था का बराबर ध्यान रखता है। साथ ही वह घटना-ऐक्य को अनिवार्यतः अपेक्षित मानता है। उसके दोनों महाकाव्य मेरे इस कथन के साक्षी हैं। साकेत का मुख्य कार्य है लक्ष्मण-उर्मिला-मिलन—प्रायः सब घटनाएँ उसी से संबद्ध हैं। प्रथम सर्ग का प्रेमालाप बाद के विरह की तीव्रानुभूति में सहायक है। मंथरा-कैकेयी संवाद, और फिर राम-वनवास तो वियोग के कारण है ही। इसके पश्चात् भरतागमन वर्णित है जिससे कि चित्रकूट-सभा का आयोजन होता है—उस आयोजन से एक बार आशा होती है कि शायद राम और उनके साथ ही लक्ष्मण लौट आएँ। नवम-दशम सर्गों में उर्मिला-विरह है जो उसकी प्रेमानुभूति का व्यंजक है। शेष दो सर्गों में लंका-युद्ध का कथन है—जिसमें विजय-प्राप्ति पर लक्ष्मण-उर्मिला का संयोग निश्चित है। अन्त में दोनों के मिलन पर पुस्तक समाप्त होती है। उधर जय भारत का कार्य है दुर्योधन पर युधिष्ठिर की विजय। उसमें प्रथम चार प्रकरण युधिष्ठिर एवं दुर्योधन की वंश-परम्परा के परिचायक हैं। पंचम खण्ड बन्धु-विद्वेष में वर्णित कौरवों और पाण्डवों का जन्मजात वैरभाव जय भारत के कार्य का प्रवर्त्तक है ही। द्रोणाचार्य और एकलव्य प्रसङ्गों में दुर्योधन का द्वेष और भी स्पष्ट हो जाता है। इसके आगे की मुख्य घटनाओं—परीक्षा के अवसर पर अपमानित कर्ण से दुर्योधन की मित्रता, द्रोण द्वारा अनादृत द्रुपद की तपस्या से द्रौपदी और धृष्टद्युम्न की उत्पत्ति तथा लाक्षागृह प्रसंग आदि का युद्ध से सहज सम्बन्ध है। लक्ष-वेध, इन्द्रप्रस्थ-स्थापन, एवं राजसूय से दुर्योधन के मन में ईर्ष्या होती है जिससे द्यूत का आयोजन होता है—यह द्यूत ही तो कलह-मूल है। वनवास में पाण्डव दिव्यास्त्र प्राप्त करते हैं, अनेक कष्ट भोगते हैं—इनसे युद्ध निश्चित हो जाता है। फिर भी दूत भेजे जाते हैं, कृष्ण शान्ति-संदेश

लेकर जाते हैं—किन्तु सब निष्फल। यह असफलता भी युद्ध से संबद्ध है। युद्ध होता है और उसके परिणामस्वरूप ही बाद में हत्या, विलाप तथा पाण्डवों में विरक्ति की प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार जय भारत का मुख्य कार्य महाभारत का युद्ध ही है, और प्रायः अन्य सभी घटनाएँ उससे संबद्ध हैं।

घटना की एकता का विशेष ध्यान रखने के कारण उक्त महाकाव्यों में घटना-ऐक्य सिद्ध तो होता है—किन्तु सर्वथा निर्दोष नहीं। बहुत से प्रसंगों का मनोयोगपूर्वक अंकन होने पर भी कार्य से सहज सम्बन्ध नहीं है, जैसे साकेत में दशरथ-मरण, भरत-आगमन, गुहराज-मिलन, चित्रकूटस्थ राम-सीता की गृहस्थी का वर्णन आदि प्रत्यक्षतः मुख्य कार्य से सम्बद्ध नहीं हैं। जय भारत के वक-संहार, द्रौपदी और सत्यभामा, सैरन्ध्री आदि खण्डों की भी यही दशा है। सर्वप्रथम अध्याय नहुष का अनपेक्षित विस्तार भी खटकता है। नहुष निस्संदेह कुरुकुल के पूर्वपुरुष हैं अतः वंश-वृक्ष-आलेखन के नाते उनका संक्षिप्त विवरण अवश्य आ सकता था—१३ पृष्ठ का आख्यान-प्रणयन नहीं। स्वरचित प्रबंधों में इन त्रुटियों की अवस्थिति में भी गुप्त जी का प्रयास यही रहता है कि प्रत्येक घटना मुख्य कार्य में बाधक अथवा साधक बनकर आए उससे सर्वथा असम्पृक्त नहीं। इसके निराकरणार्थ ही तो उन्होंने रामायणों के बालकांड की कथा का प्रारम्भ में अंकन न कर उर्मिला-स्मृति रूप में उपयोग किया है। और महाभारत के आदिपर्व के प्रारंभिक कई प्रसंगों का सर्वथा त्याग ही कर दिया है।

वस्तु-संघटना के विषय में यह भी उल्लेख्य है कि मैथिलीशरण महाकाव्य में स्थान-ऐक्य को अनिवार्य नहीं मानते। चौबीस-पच्चीस वर्ष पूर्व अर्थात् साकेत की रचना के समय तो वे इसे भी आवश्यक समझते थे। इसीलिए साकेत में बलात् स्थल-ऐक्य सिद्ध किया था—उसके लिए सम्पूर्ण साकेत समाज को चित्रकूट उठा ले गए थे।[1] किन्तु अब उनकी इस धारणा में परिवर्तन हो गया है। आज वे महाकाव्य के लिए स्थान-ऐक्य को अनिवार्यतः आवश्यक नहीं मानते। जय भारत इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

रोचकता और औत्सुक्य

किसी भी कथाश्रित काव्य के लिए रोचकता परम अपेक्षित गुण है जिससे उसमें पाठक की उत्सुकता बनी रहे।—और रोचकता का आधार है कौतूहल। आद्यंत कौतूहल बनाए रखने के लिए मैथिलीशरण पर्याप्त प्रयत्न करते हैं। साकेत एवं जय भारत के चिर-परिचित कथानकों में कौतूहल की प्रतिष्ठा दुस्साध्य थी। किन्तु हमारे कवि ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं एवं नवीन व्याख्याओं द्वारा उसका सफल समावेश किया है: लक्ष्मण-उर्मिला के रुचिर संयोग, चित्रकूट-सभा में कैकेयी की सफ़ाई, अयोध्यावासियों की रण-सज्जा आदि प्रसंगों ने तथा द्रौपदी-पंचपत्नीत्व, द्रौपदी-चीरहरण, कृष्ण-दौत्य आदि प्रकरणों के पुनर्व्याख्यान ने वस्तु को काफ़ी रोचक बना दिया है। इन नवीन कल्पनाओं के अतिरिक्त कौतूहल की

---

१. साकेत—अष्टम सर्ग

सृष्टि के लिए कवि कई युक्तियों का प्रयोग करता है :

१. तीव्र आलोकमय उपस्थिति

कवि कभी-कभी इस नाटकीय कौशल से दृश्य उपस्थित करता है कि विचार-प्रवाह की दिशा ही एकदम परिवर्तित हो जाती है। इस अकस्मात् परिवृत्ति को पाठक देखता ही रह जाता है। एक उदाहरण लीजिए—शान्ति-संदेश लेकर दुर्योधन के पास जाने के लिए प्रस्तुत कृष्ण को युधिष्ठिर कहते हैं कि हम केवल पाँच गाँव लेकर ही संतुष्ट हो सकते हैं। यह बात चल ही रही थी कि इतने में—

सहसा सभा की भाव-गति में एक भन्नाटा हुआ
झंझागमन के पूर्व का-सा घोर सन्नाटा हुआ
तत्काल बिजली-सी चमक चौंकी वहाँ कृष्णा कृशा।[1]

शम्पा सदृश इस तीव्र उद्‌भास से अभिभूत पाठक की चेतना को एक सुखद झटका लगता है जिससे उसे एकरसता-जन्य अरुचि के स्थान पर मधुर तारल्य का अनुभव होता है।

२. संभाव्य का असंभावित प्रस्ताव

इन पूर्वपरिचित कथाओं की जानी-बूझी घटनाओं को भी मैथिलीशरण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं मानो वे आकस्मिक हों। साकेत के द्वितीय सर्ग में राम-अभिषेक के समाचार से सुसज्जित साकेत-नगरी के अपरिमित उल्लास का वर्णन करता हुआ कवि कह रहा है—

मोद का आज न ओर न छोर,
आम्रवन-सा फूला सब ओर।[2]

पाठक मन्त्रमुग्ध हो कवि के साथ-साथ झूम रहा है पर अगली ही पंक्तियाँ—

किन्तु हा! फला न सुमन-क्षेत्र,
कीट बन गए मंथरा - नेत्र।[3]

पढ़कर वह चमक उठता है। यद्यपि यह बात निश्चित है—और वह इसे जानता भी है। फिर भी इसका असंभावित उपस्थितीकरण सर्वथा नवीन अतएव कथा की रोचकता का अभिवर्द्धक है।

३. नाटकीय वैषम्य—

कौतुहल बनाए रखने के लिए मैथिलीशरण नाटकीय विषमता का भी प्रयोग करते हैं। साकेत के अष्टम सर्ग में चित्रकूट-स्थित राम-सीता दम्पति आनन्द-मग्न हैं। राम को लक्ष्य कर सीता कहती हैं—

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३०४
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३२
३. „ „ „ „ ३२

हो सचमुच क्या आनन्द छिपूं मैं वन में,
तुम मुझे खोजते फिरो गभीर गहन में।[१]

इसके काफ़ी देर बाद हनुमान द्वारा सीता-हरण का समाचार मिलने पर सीता की यह उक्ति अनायास ही याद आ जाती है जो निश्चित रूप से विस्मयकारी है। यह तो हुई शाब्दिक विषमता। अब जय भारत से परिस्थिति की विषमता का एक उदाहरण लीजिए। 'परीक्षा' खंड में अर्जुन की प्रशंसा श्रवण कर कर्ण प्रतियोगी के रूप में मैदान में उतर आते हैं—तब युधिष्ठिर अपने मन में सोचने लगते हैं कि यह कैसा वैषम्य है—'इसमे[२] ईर्ष्या जगी किन्तु मुझ में क्यों ममता।'[3] युधिष्ठिर की इस अप्रत्याशित ममता का भेद कुन्ती के मूर्च्छित होने पर कवि की निम्न उक्ति से स्पष्ट होता है—

कर्ण उसी का[४] पूत सूत के यहाँ पला था
धर्मराज से बड़ा भाग्य ने जिसे छला था।[५]

पाठक तो इस रहस्य से यहीं परिचित हो जाता है किन्तु युधिष्ठिर वर्षों अनभिज्ञ रहते हैं। उन्हें तो 'अन्त' में दाहकर्म के अवसर पर इस बात का पता चलता है। कुन्ती कहती हैं—'वत्स कर्ण को भी अंजलि दो निज अग्रज के नाते।'[६] यह सुनते ही युधिष्ठिर को तो मानो काठ मार जाता है, किन्तु पाठक इस बात को पहले से ही जानता है। परिस्थिति की यह विषमता कितनी करुण-मधुर है।

इस प्रकार गुप्त जी अपनी उद्भावनाओं एवं युक्तियों द्वारा परम्परागत कथानकों में भी रोचकता के सृजन में सफल हुए हैं। अपेक्षाकृत साकेत अधिक रोचक है। उसमें उर्मिला के अपरिचित व्यक्तित्व के संस्पर्श से मधुर तरलता आ गई है—किन्तु जय भारत में ऐसी कोई परिकल्पना नहीं है। दूसरे उसकी घटना-संकुलता भी रोचकता में बाधक हुई है।

गति और अनुपात

रोचकता के साथ ही वस्तु की गति एवं अनुपात का प्रश्न सामने आता है। यहाँ गति से तात्पर्य है कथा-प्रवाह और अनुपात से अभिप्रेत है कथानक के विभिन्न अवयवों के परिमाण में सापेक्षिक सम्बन्ध। सफल प्रबन्धकाव्य में गति तथा अनुपात औचित्य की सीमा में रहने चाहिएं अर्थात् वस्तु के भिन्न-भिन्न अंगों की गति और अनुपात में अतर्क्य वैषम्य नहीं होना चाहिए। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मैथिलीशरण इनके प्रति सचेत नहीं हैं। उनके दोनों महाकाव्यों की गति में अत्यधिक विषमता है। साकेत के आरंभिक आठ सर्गों

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६३
२. कर्ण में
३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५२
४. कुन्ती का
५. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५३
६. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४१९

में अत्यन्त मन्थरता तथा अन्तिम दो सर्गों में अत्यधिक तीव्रता है। इसी प्रकार जय भारत के प्रथम दो खंडों—'नहुष' तथा 'यदु और पुरु' की गति में आकाश-पाताल का अन्तर है यद्यपि वे दोनों ही वंश-परम्परा के परिदर्शनार्थ आए हैं। गति के साथ ही अनुपात भी असम है। एक ओर तो सम्पूर्ण नहुष आख्यान है दूसरी ओर मत्स्यगंधा एवं पराशर मुनि का वृत्तान्त एक ही पंक्ति में उल्लिखित है—

नया जन्म सा दिया पराशर मुनि ने मुझे[1] किया धन्या[2]

इसी तरह हिडिम्ब-वध, वक-संहार, सैरन्ध्री-कीचक आदि प्रसंगों का विस्तृत विवेचन है—किन्तु अर्जुन-उलूपी तथा चित्रांगदा-अर्जुन ये दो वृत्त केवल छः पंक्तियों में आबद्ध हैं।[3] साकेत की भी यही दशा है—प्रथम आठ सर्गों में केवल कुछ दिन की कथा है। और चौदह लम्बे वर्षों का वृत्तान्त कुल चार सर्गों में समाहित है। गति और अनुपात का यह वैषम्य सर्वथा अकारण नहीं है। किन्तु इस विषमता के लिए अनेक कारणों के उत्तरदायी होने पर भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि गुप्त जी इस ओर से सावधान नहीं हैं और स्पष्ट शब्दों में वे गति एवं अनुपात के साम्य-असाम्य की विशेष चिन्ता नहीं करते।

मूल्यांकन

उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से स्पष्ट है कि प्रस्तुत कवि की वस्तु-विषयक प्रायः सभी धारणाएँ शास्त्र-सम्मत हैं। वह लोक-प्रख्यात, विस्तृत और सदाश्रित कथानक अपनाता है। किन्तु उसकी प्रकृति अतिरिक्त प्रसिद्ध कथानक की ओर है। साकेत और जय भारत की कथाएँ प्रसिद्ध ही नहीं प्रत्येक भारतीय पाठक की जिह्वा पर किंवा उसकी रग-रग में समाई हुई हैं। साथ ही उनके विषय में वाल्मीकि, तुलसी और व्यास अपने ढंग पर अन्तिम बात कह चुके थे। इन विषयों पर अपेक्षाकृत कम लिखा जाना मेरे इस कथन का प्रमाण है। ऐसी लब्धख्याति एवं चरम विकसित कथा-वस्तु में मौलिकता तथा रोचकता का सृजन दुष्कर होता है। तथापि कवि ने इन्हें मौलिक रूप देने के लिए अतुल प्रयास किया है। कविकृत प्रबन्ध एवं प्रकरण की वक्रता तथा अन्य अनेक युक्तियों का प्रयोग स्तुत्य ही है। निश्चित रूप से वह मौलिकता माइकेल मधुसूदनकृत मेघनाद-वध जैसी नहीं है—यह कवि का अपना दृष्टिकोण है। युगधर्म के अनुसार कथा का पुनर्व्याख्यान होने पर भी उनके परम्परागत रूप की क्षति नहीं हुई है—साथ ही रक्षा हुई है विषय की गरिमा की जिसका कि मेघनाद-वध में अभाव है। तात्पर्य यह कि गुप्त जी मौलिकता अथवा नूतनता के चक्कर में मूलभूत गरिमा की उपेक्षा नहीं करते।—और रोचकता तो इनमें पूर्वकथाओं से किसी प्रकार भी कम नहीं है वरन् उर्मिला-वृत्त के संश्लेषण से साकेत रामायणों की अपेक्षा अधिक कौतूहलपूर्ण अतएव रोचक बन गया है। निष्कर्षतः मैथिलीशरण द्वारा स्वीकृत इन कथानकों में महाकाव्योचित विराट्ता, व्यापकता एवं गाम्भीर्य है।

---

१. मत्स्यगंधा को

२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २३

३. ,, ,, , पृष्ठ १२४

किन्तु गुप्त जी का वस्तु-विधान सर्वथा निर्दोष नहीं है। उदाहरण के लिए सबसे पहले तो महाकाव्यों की वस्तु का अनियन्त्रित विस्तार ही खटकता है। वे अत्यन्त विशद एवं विशाल घटनाचक्र का चयन करते हैं। साकेत की वस्तु दो महाकाव्यों के लिए पर्याप्त है—उसमें लक्ष्मण-उर्मिला तथा राम-सीता की दो बृहत् कथाएँ आबद्ध हैं—और जय भारत के मूलस्रोत महाभारत की कथावस्तु से तो निर्विवादतः अनेक महाकाव्यों का निर्माण हो सकता है वरन् किसी ने सम्पूर्ण कथानक को अपनी कृति का विषय बनाया ही नहीं। किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध आदि सभी महाकाव्यों में इस महत् कथा से कोई एक महत्वपूर्ण घटना गृहीत है—किन्तु मैथिलीशरण जी ने जय भारत में उसे प्रायः समग्र रूप में अपनाया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी वस्तु-परिमाण-विषयक धारणा निर्भ्रान्त नहीं है। 'उसका (वस्तु का) परिमाण इतना होना चाहिए जितना कि स्मरणशक्ति वा मनश्चक्षु स्वीकार अथवा धारण कर सके।'[1] परन्तु व्यापकता के अन्वेषी मैथिलीशरण इस बात का ध्यान नहीं रखते। इसीलिए उनके महाकाव्यों की वस्तु में अनपेक्षित विस्तार एवं जटिलता है। कथानक के इस विस्तार और जटिलता एवं तज्जन्य शैथिल्य के लिए आंशिक रूप में कवि की श्रद्धा भी उत्तरदायी है। यदि वह रामकथा-आलेखन और महाभारत के सम्पूर्ण कथा-वर्णन का लोभ संवरण कर पाता तो निश्चित रूप से अधिक व्यवस्थित, सुसंघटित एवं कलापूर्ण महाकाव्य दे पाता।

महाकाव्य की वस्तु में समुचित गति और अनुपात के प्रति उदासीनता प्रबन्ध काव्यकार के लिए दोष है—कुछ प्रसंगों में रम जाना और कुछ को चलता कर देना अपरिहार्य त्रुटि है। किन्तु गुप्त जी इन बातों की चिन्ता नहीं करते। साकेत के दशरथ-मरण, गुहराज-मिलन, भरत-शत्रुघ्न-आगमन, वनवासी राम-सीता की गृहस्थी तथा जय भारत के नहुष-आख्यान, वन-वैभव, वक-संहार, सैरन्ध्री-कीचक आदि प्रसंगों में उनकी वृत्ति ऐसी रमी कि वे कुछ स्वतन्त्र से प्रतीत होते हैं—उनका अपना महत्व हो गया है। अन्य अनेक प्रकरण—बालि-वध, अर्जुन-उलूपी प्रसंग तथा अर्जुन चित्रांगदा वृत्त आदि—चलते कर दिए गए हैं। यह असन्तुलन महाकाव्य की प्रकृत शोभा के लिए हानिकर है। वस्तुतः उपर्युक्त प्रसंगों में कवि 'रस के प्रवाह में ठीक उसी प्रकार बह गया है जिस प्रकार प्रेमचन्द जी रंगभूमि के कुछ प्रासंगिक स्थलों में।'[2] यह कवि की अपनी सीमा है—और शक्ति भी! क्योंकि यदि इन प्रसंगों को छोड़ या संक्षिप्त कर दिया जाए तो साकेत और जय भारत का अधिकांश काव्य-वैभव निःशेष हो जाए।

अब रही कवि की स्थान-ऐक्य विषयक धारणा। वह वास्तव में आवश्यक नहीं है और

---

1. The whole, he (Aristotle) says, must be of such dimensions that the memory or mind's eye can embrace or retain it.

Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts, S. H. Butcher. ed. 1932, p. 278

२. डा० नगेन्द्र—साकेत : एक अध्ययन, पंचम संस्करण, पृष्ठ १६

मैथिलीशरण जी भी उस महाकाव्य के लिए अनिवार्य नहीं समझते । यूरोप के आचार्यों ने भी स्थल-ऐक्य का निर्देश केवल नाटकों के लिए किया था—क्योंकि उनके देश में रंगमंच पर पट आदि की व्यवस्था न होने से दृश्य-परिवर्तन असंभव था । किन्तु आज तो नाटकों के लिए भी यह नियम अनिवार्य नहीं रहा फिर महाकाव्य पर जिसका कि मंच से कोई सम्बन्ध ही नहीं है—यह कैसे लागू किया जा सकता है । उसमें तो अनेक स्थलों से सम्बद्ध घटनाओं का प्रकथन सुगमता से हो सकता है । अभिप्राय यह कि स्थान-ऐक्य के अभाव को महाकाव्य में दोष नहीं कहा जा सकता । हाँ, घटना-ऐक्य अनिवार्यतः आवश्यक है उसका मैथिलीशरण यथाशक्ति निर्वाह करते ही हैं ।

इस प्रकार गुप्त जी के कथानक उदात्त एवं ऐतिहासिक तो है उनमें अपेक्षित गम्भीरता और गरिमा भी है, साथ ही रोचकता भी । किन्तु उनमें वांछित अनुपात की कमी है : कवि ने यद्यपि अन्विति-सूत्र को सप्रयास अक्षुण्ण रखा है पर वस्तु के अंगों में कसावट नहीं है । फिर भी सब मिलाकर वाल्मीकि-तुलसी और व्यास के कथानकों को लेकर इतनी सफलता भी श्लाघनीय प्रबन्ध-कौशल की द्योतक है ।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण महाकाव्य का महत्वपूर्ण अंग है । काव्य की इस विधा मे आदर्श जीवन का पूर्ण विश्लेषण होता है । उसमें महच्चरित्रों का अंकन होता है । अतः महाकाव्य के प्रमुख पात्र गम्भीर एवं ओजस्वी होने चाहिएँ जिनका मानव-जीवन पर स्वस्थ प्रभाव पड़े । इसीलिए आचार्य विश्वनाथ महाकाव्य के लिए 'धीरोदात्त' गुण-समन्वित नायक अनिवार्य मानते हैं । वस्तुतः सच्चरित्र महान पात्रों की सर्जना में ही महाकाव्यकार की सफलता अन्तर्निहित है । किन्तु चरित्र-चित्रण में मैथिलीशरण जी के समक्ष बड़ी जटिल समस्या थी । उनके सभी पात्र पूर्वकल्पित थे अर्थात् अपने गुण-अवगुणों के लिए चिर-काल से प्रसिद्ध थे । यदि कवि उन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार करता है तो मौलिकता का प्रश्न सामने आता है—और यदि उन पात्रों को छोड़ता है तो ऐतिहासिकता एवं लोकप्रसिद्धि पर आघात होता है । ऐसी दशा में समाधान है केवल पुनस्सृजन एवं पुनस्स्पर्श । गुप्त जी इन्हीं का आश्रय ग्रहण करते हैं । पुनर्निर्माण के अतिरिक्त वे चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता, सहज मानवीयता, पूज्य पात्रों की गौरव-रक्षा एवं प्रमुख पात्रों की धीरोदात्तता आदि का भी विशेष ध्यान रखते हैं ।

पुनस्स्पर्श

परम्परागत ऐतिहासिक चरित्रों में मैथिलीशरण परिवर्तन प्रायः नही करते फिर भी पुनस्स्पर्श अवश्य करते हैं । राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, उर्मिला, माण्डवी, कैकेयी, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, द्रौपदी, दुर्योधन, कुन्ती और कर्ण आदि मैथिलीशरण के महाकाव्यों के प्रमुख पात्र हैं । इनमें से उर्मिला, कैकेयी, माण्डवी एवं दुर्योधन के अतिरिक्त शेष सभी पात्र परम्परामुक्त हैं तथापि पुनस्स्पर्श से पर्याप्त अन्तर आ गया है । वाल्मीकि के राम महामानव हैं—और तुलसी के आराध्य नर होते हुए भी नारायण हैं । उनका अवतार ही 'विनाशाय च दुष्कृताम्' हुआ था—किन्तु गुप्त जी के राम निश्चित रूप से भगवान् हैं—

राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?[१]

उक्त पंक्ति में परिव्यक्त जिज्ञासा मेरे इस कथन की परिचायक है। पर वे भगवान् होते हुए भी मनुष्य कर्म करते हैं। वे कबीर के समान साहब का सन्देश नहीं लाए वरन् 'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने'[२] आए हैं। लक्ष्मण का व्यक्तित्व कुछ अधिक तीखा हो गया है। यदि उनकी कुछ पंक्तियों—

खड़ी है माँ बनी जो नागिनी यह
अनार्या की जनी हतभागिनी यह
अभी विषदन्त इसके तोड़ दूँगा
न रोको तुम तभी मैं शान्त हूँगा।[3]

—को प्रकरण से पृथक् करके देखा जाए तो कदाचित् उनके प्रति अश्रद्धा ही उत्पन्न होगी। किन्तु ये विषमय विषम वचन भी प्रसंग-प्राप्त हैं—और यहाँ पर निश्चित रूप से पाठक का लक्ष्मण से साधारणीकरण हो जाता है। भरत की साधुता में वृद्धि हो जाती है और साकेत के शत्रुघ्न भी अन्य रामायणों से अधिक क्रियाशील हैं। युधिष्ठिर परम्परा से श्रेष्ठ पात्र हैं किन्तु जय भारत में उनका चरित्र और भी निखर आया है। भीम महाभारत के काफ़ी उद्दण्ड पात्र हैं—शायद यह शारीरिक बल की अनिवार्य सीमा है। जय भारत में भी उद्दण्डता बनी हुई है पर वह अमर्यादित नहीं है। पाण्डवों एवं द्रौपदी के चरित्रों में सर्वाधिक परिवर्तन हुआ है देहपात प्रसंग में। महाभारतकार ने तो यहाँ युधिष्ठिर के अतिरिक्त सभी को सदोष बताया है। उदाहरणतः अर्जुन के पतन पर युधिष्ठिर कहते हैं—

एकाह्ना निर्दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत्
न चतत्कृतवानेष शूरमानी ततोऽपतत्[४]

ऐसे सर्वसहा व्यक्तियों को भी अन्त में दोषी बताया जाता है—उनके प्रति पाठक के मन में जमी हुई पूज्य भावना मानों खरोंच दी जाती है। किन्तु गुप्त जी के युधिष्ठिर देह-पात के कारणों के चक्कर में न पड़कर अपने को बन्धनमुक्त देखते हैं, जैसे द्रौपदी के गिरने पर उनका कथन है—

तुम नहीं गिरी अर्जुन के प्रति यह पक्षपातिता मेरी ही[५]

—और सब के पतन पर वे शुद्ध-बुद्ध आत्मा रह जाते हैं। इससे एक तो पांचाली तथा अनुजों के चरित्र अधिक उज्ज्वल बन जाते हैं, दूसरे युधिष्ठिर की उदार भावना का परिचय मिलता है। गुप्त जी के धृतराष्ट्र एक विवश पिता हैं—पुत्र जिनकी सुनता ही नहीं वरन् मनमानी करता है। महाभारत में धृतराष्ट्र कपटी हैं, अनेक दुरभिसन्धियों में उनका भी

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ९
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६७
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ६१
४. महाभारत, महाप्रस्थानिक पर्व २।२१
५. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३१

हाथ है। जय भारत में वे मोहान्ध तो अवश्य हैं पर छल-कपट से सर्वथा शून्य हैं।

स्त्री पात्रों में उर्मिला तो कवि की अपनी उर्वर कल्पना की ही सृष्टि है—कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता का परिहार भी तो साकेत का उद्देश्य था। सीता परम्परागत आर्या-रूप में ही प्रतिष्ठित हैं—किन्तु जगदम्बा होते हुए भी उनमें मानवीयता का कुछ अधिक समावेश हो गया है। देखिए कितना सहज-सात्विक पर सर्वथा मानवीय चित्रण है—

गोट जड़ाऊँ घूँघट की—बिजली जलदोपम पट की,
परिधि बनी थी विधु-मुख की, सीमा थी सुषमा सुख की।[1]

—तथापि उनका आर्यत्व अखण्ड है। माण्डवी का सम्पूर्ण वृत्त कल्पना-प्रसूत है। पूर्व रामायणों में कहीं भी उनका चित्रण नहीं—गुप्त जी ने भरत के अनुरूप ही उनकी चरित्र-सर्जना की है। कुन्ती में उन्होंने क्षत्रियत्व के साथ-साथ मातृ-हृदय की भी प्रतिष्ठा की है—'वक-संहार' प्रसंग में मैं पहले ही इसका उल्लेख कर चुका हूँ। द्रौपदी केवल भावमयी नहीं रहीं—उनके व्यक्तित्व में बौद्धिकता का भी समावेश हुआ है। अतएव दो-एक स्थलों पर उनके तर्क में पर्याप्त तीक्ष्णता है।

संगति

पात्रों के पुनर्निर्माण में कवि की दृष्टि स्वाभाविकता एवं संगति की ओर भी रही है। इस युग में चरित्रगत अस्वाभाविकता एवं असंगति ही कवि को सर्वाधिक अखरती है। गुप्त जी उनका विवेक-सम्मत परिहार करते हैं। उदाहरणतः रामायणों में लक्ष्मण को एक ओर तो अत्यन्त क्रोधी और कर्मठ तथा दूसरी ओर राम-सीता के समक्ष निर्जीव एवं निष्क्रिय कठ-पुतली-सा प्रदर्शित किया गया है—कैसी विचित्र बात है! साकेतकार सर्वप्रथम इस असंगति को पहचानता है। राम के सम्मुख नतशिर तो साकेत के लक्ष्मण भी हैं किन्तु वे अवसर आने पर—

प्रतिषेध आपका भी न सुनूँगा रण में।[2]

—की घोषणा भी कर सकते हैं। मैं समझता हूँ यह उक्ति लक्ष्मण के चरित्र के अनुरूप ही है और उसे स्वाभाविकता प्रदान करती है। ऐसी ही एक असंगति थी युधिष्ठिर के चरित्र में। महाभारत में वे सहगामी श्वान को तो त्याग कर स्वर्गारोहण के लिए राज़ी नहीं होते। पर स्वर्गस्थ दुर्योधन को देखते ही उबल पड़ते हैं—दुर्योधन के साथ उन्हें स्वर्ग में रहना भी स्वीकार्य नहीं—

अस्ति देवा न मे कामः सुयोधनमुदीक्षितुम्[3]

मानव महत्व के प्रतिष्टापक मैथिलीशरण इस त्रुटि का निराकरण करते हैं। और

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ७२
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७०
३. महाभारत—स्वर्गारोहण पर्व १।१०

सर्वभूतहित कामना के विश्वासी युधिष्ठिर को वहाँ प्रसन्न ही दिखाते हैं, उद्विग्न नहीं।[१] इस प्रकार गुप्त जी चरित्रों से अनौचित्य एवं असंगतियों का परिहार कर उन्हें स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न करते हैं।

सहज मानवीयता की खोज

मैथिलीशरण जहाँ चरित्रगत असंगतियों का निराकरण कर उन्हें स्वाभाविक रूप देते हैं वहाँ पात्रों में सहज मानवीयता की स्थापना भी करते हैं। प्रकृति-भेद से चरित्र दो प्रकार के हुआ करते हैं—आदर्श और सामान्य। सात्विक अथवा तामस प्रकृति के पात्र आदर्श—और राजस प्रकृति के चरित्र सामान्य होते हैं। इन्हें मानवीय और अतिमानवीय भी कहा जा सकता है। गुप्त जी आदर्श पात्रों में भी मानवीय गुण-दोषों का सन्धान करते हैं—अतिमानवीयता के स्थान पर मानवीय शक्ति का विकास दिखाते हैं। सिद्धान्ततः वे राम में ईश्वरत्व का आरोप करते हैं, फिर भी चित्रण मानव-रूप में ही हुआ है। राम और सीता के दाम्पत्य में सद्गृहस्थी का स्वस्थ निदर्शन है।[२] राम में मानवसुलभ दुर्बलता भी है—पिता की मृत्यु से अवगत होते ही साधारण मनुष्य के समान उनका गला रुँध जाता है, नेत्रों में आँसू छलछलाने लगते हैं। इतना ही नहीं वे अपने को निस्सहाय, निरवलम्ब, अनुभव करते हैं—और ब्रह्मर्षि वसिष्ठ से पितृ-तुल्य रहने की प्रार्थना करते हैं।[३]

सीता भी एक कुलवधू के रूप में उपस्थित हुई हैं—साकेत के चतुर्थ सर्ग की सीता में शुद्ध मानवीय रंग है। उधर जय भारत में कृष्ण सर्वपूज्य पात्र हैं—किन्तु हैं मानव ही। वे महामानव भले ही बन गए हैं पर महाभारत के समान अतिमानव नहीं। महाभारत में कृष्ण जब युधिष्ठिर की ओर से शान्ति-संदेश लेकर जाते हैं तो दुर्योधन द्वारा उनको बाँधने का प्रयत्न होने पर उनके शरीर में ही अनेक देवता और भीमार्जुन आ जाते हैं।[४] किन्तु जय भारतकार के अनुसार अतिमानवीय शक्तियाँ नहीं आतीं। केवल कृष्ण के दृष्टि-निक्षेप के प्रभाव से दुर्योधन लड़खड़ा कर गिर पड़ता है।[५] यह तो हुई सात्विक आदर्श पात्रों की बात। रावण परम्परा से तामस आदर्श है। कवि ने उसकी अतिमानवीय शक्तियों का भी उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार वह आदर्श चरित्रों में भी सहज मानवता का समावेश करता है।

धिक्कृत पात्रों का परिष्कार

आदर्श चरित्रों में मानवीयता की प्रतिष्ठा के साथ मैथिलीशरण दूषित पात्रों का उद्धार भी करते हैं—वे धिक्कृत पात्रों के भी आन्तरिक सौन्दर्य का उद्घाटन करते हैं। भार-

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३७
२. साकेत, अष्टम सर्ग
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७४
४. महाभारत—उद्योगपर्व १३१।४-६
५. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३२४

तीय साहित्य के चिरकलंकित पात्रों—कैकेयी और दुर्योधन की तो उन्होंने काया ही पलट है। कैकेयी के लिए पुत्र-प्रेम अभिशाप बनकर आता है और वह सदैव को कलंकित हो जा है। किन्तु गुप्त जी ने चित्रकूट सभा में कैकेयी को सफ़ाई पेश करने का अवसर प्रदान कर कलंक को धो डाला है। साकेत के अध्ययन के पश्चात् कैकेयी के प्रति युग-युगान्तर घनीभूत मालिन्य निःशेष हो जाता है। दुर्योधन भी परम्परा से कलंकित है—महाभारतकार उसे 'सकल कपट अघ अवगुन खानी' के रूप में चित्रित किया है। जय भारत के कवि ने यथास्थान उसके दुष्कृत्यों का उल्लेख किया है—किन्तु वह उस पापराशि के हृद्गत सौन्द के भी दर्शन करता है। दुर्योधन का कर्मयोगी रूप देखिए—

यही तोष मुझको
अन्त तक कोई त्रुटि छोड़ी नहीं हमने।[1]

पाषाण-हृदय दुर्योधन के मन में भी दया जैसी कोमल भावना मैथिलीशरण स्थापि करते हैं। इसका पता उस समय चलता है जब दुर्योधन अश्वत्थामा के पाण्डवों की हत करने की प्रतिज्ञा कर लेने पर एक पिण्डदाता छोड़ने की बात कहता है।[2] वस्तुतः जय भार कार के दुर्योधन के प्रत्येक कार्य में औदात्त्य है, पग-पग पर स्मरणीय शालीनता है। उस अपने शब्दों में—

ठाठ से मैं आया और ठाठ से ही जाऊँगा।[3]

रावण, कर्ण और दुःशासन के सदोष चरित्रों में भी कवि मानव-गुण का सृजन कर है। उनकी पाप-कालिमा सर्वथा प्रक्षालित नहीं हो पाती तथापि उसमें एक ज्योतिष्करण उद्भास अवश्य दृष्टिगत होता है। रावण से घोर-कठोर व्यक्ति के हृदय-गह्वर में भी मैथिल शरण भव्यता देखते है। कम से कम एक बार तो राम को भी उसे अपने से अधिक सहृ मानना पड़ता है।[4] द्रौपदी-वस्त्रहरण में सक्रिय योगदान कर्ण के दानी-मानी एवं ओजस व्यक्तित्व के लिए अभिशाप है—फिर भी वह महान् है। केवल एक गुण—मित्र-धर्म निर्वाह ही कर्ण को सम्पूर्ण दोषों से मुक्त कराने में समर्थ है। कितना विश्वसनीय अं साहसी है वह व्यक्ति जो मित्र के दोषों से अभिज्ञ होने पर भी आपत्काल में उसे त्यागने तैयार नहीं—

क्या संकट में उसे छोड़ दूं जो मुझ पर अवलम्बित है।[5]

इसी प्रकार कवि ने दुःशासन में भ्रातृत्व-सी भव्य भावना का संधान किया है—व उसके जीवन का मूलमन्त्र है। वह अपने को दुर्योधन का भाई न मानकर किंकर समझता है

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३६०
२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३६१
३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३६३
४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २६२
५. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३३३
६. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २०५

यह जय भारतकार की ही परिकल्पना है। वस्तुतः गुप्त जी की प्रवृत्ति दोष-दर्शन की ओर न होकर तलवासिनी मानवीय प्रेरणा के उद्घाटन की ओर रहती है।

पूज्य पात्रों की गौरव-रक्षा

जब कवि दूषित पात्रों के भी आन्तरिक सौन्दर्य को प्रकाशित करता है तब यह अनिवार्य हो जाता है कि वह पूज्य पात्रों के चरित्रों में मिलनेवाली एकाध त्रुटि का भी परिहार करे। अतएव मैथिलीशरण सम्मान्य पात्रों के गौरव की रक्षा के लिए उत्कट प्रयत्न करते हैं। वाल्मीकि रामायण में रावण के देहावसान पर शोक-संतप्ता मन्दोदरी तो सहगमन की इच्छा करती है—

नय मामपि दुःखार्तां न वर्तिष्ये त्वया विना।
कस्मात्त्वं मां विहायेह कृपणां गन्तुमिच्छसि॥[1]

परन्तु दशरथ-मरण के अवसर पर उनकी अश्रुविगलित रानियों में से कोई भी ऐसा नहीं करती। सती-प्रथा अपने आप में त्याज्य होते हुए भी पति की गौरव-व्यंजक है। और उस युग में तो ऐसा होता ही था। अतः दशरथ-से महामहिम नृप के लिए किसी पत्नी का ऐसी बात न कहना कुछ खटकता है, किन्तु गुप्त जी ने इसकी क्षति-पूर्ति की। यद्यपि वसिष्ठ के परामर्श के कारण सती-क्रिया सम्पन्न साकेत में भी नहीं होती तथापि प्रस्ताव तो है—

हाय! भगवान् क्यों हमारा नाम?
अब हमें इस लोक में क्या काम?
भूमि पर हम आज केवल भार?[2] आदि।

यहाँ निश्चित रूप से दशरथ के गौरव एवं रानियों की गूढ़ानुरक्ति का प्रतिपादन है। इसी प्रकार वह द्रौपदी-चीरहरण प्रसंग में भीष्म, द्रोण और विदुर को पाप-सभा से हटाकर उन पुण्यात्माओं के आत्म-सम्मान एवं मर्यादा की रक्षा करता है। साकेत में राम-चरित की भव्यता में बाधक छद्म से बालि-वध का प्रसंग केवल एक पंक्ति में चलता कर दिया गया है।[3] और द्रौपदी-चरित्र के औज्ज्वल्य की रक्षा के लिए तो कवि ने प्रकरण ही बदल दिया। राजसूय यज्ञ के अवसर पर निमन्त्रित दुर्योधन को मयकृत भवन में जल में थल का तथा स्थल में जल का आभास होने पर द्रौपदी ने उसका उपहास किया था—यह कृत्य उसके परिष्कृत चरित्र के लिए अशोभनीय है, अतः गुप्त जी ने प्रकरण ही बदल दिया—

हुआ कक्ष में घुसते उसको द्वार खुला प्रतिभात,
लगा किन्तु उसके ललाट में स्फटिक कपाटाघात।
जल में थल का, थल में जल का देख उसे भ्रमभास,
रोक न सके दास-दासी भी आकस्मिक उपहास।[4]

---

१. वाल्मीकि रामायण—युद्धकाण्ड १११।६०
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १४८
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २८५
४. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३४

—और द्रौपदी को साफ़ बचा लिया। इस प्रकार मैथिलीशरण पूज्य पात्रों की गौरव-रक्षा के लिए अनेक युक्तियों का प्रयोग करते हैं।

प्रमुख पात्रों की धीरोदात्तता

मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि महाकाव्य के मुख्य पात्र धीर, गंभीर एवं ओजस्वी होने चाहिएं। हम देखते हैं कि साकेत और जय भारत के सभी प्रमुख अर्थात् विजयी पात्र धीरोदात्त हैं। राम, भरत, शत्रुघ्न, सीता, युधिष्ठिर, अर्जुन, कृष्ण और कुन्ती आदि की धीरोदात्तता तो निर्विवाद ही है। हाँ, लक्ष्मण, उर्मिला और द्रौपदी के धीरौदात्त्य पर शंका हो सकती है। क्या लक्ष्मण-सा क्रोधी व्यक्ति भी धीर है? क्या रुदनरता उर्मिला और द्रौपदी भी उदात्त हो सकती हैं? किन्तु इन प्रश्नों का समाधान कठिन नहीं। लक्ष्मण अवश्यमेव क्रोधी हैं—वे झट से क्रुद्ध हो जाते हैं। पर अकारण नहीं, उनका क्रोध साधार होता है अतः वह दूषण नहीं माना जा सकता। वस्तुतः हम ऊपर से उन्हें कितना ही उद्धत क्यों न बताएं भीतर से तो उनके इस रूप पर मुग्ध ही हैं।—और फिर धीरोदात्तता में धीरता-गम्भीरता के अतिरिक्त ओज भी तो अपेक्षित है। अपेक्षाकृत राम और भरत में धीरता तथा गम्भीरता अधिक है—लक्ष्मण में भी उनका एकान्ताभाव नहीं पर ओज का प्राचुर्य है। अभिप्राय यह कि राम-भरत तथा लक्ष्मण में मात्रा का अन्तर है प्रकार का नहीं। उर्मिला और द्रौपदी रुदनशीला हैं—किन्तु उनकी करुण परिस्थितियां भी तो देखिए। अपरिमेय कष्ट-सहिष्णुता उनकी धीरता की ही परिचायक है।—और यदि उनके व्यक्तित्व का ओज देखना हो तो पाप-सभा में दुःशासन को दुत्कारती हुई द्रौपदी एवं शत्रुघ्न के साथ लंका-प्रस्थान की इच्छुक उर्मिला के दर्शन कीजिए। सारांश यह कि गुप्त जी महाकाव्य के प्रमुख पात्रों में धीरोदात्तता चाहते हैं।

दोष

मैथिलीशरण के चरित्र-चित्रण में कुछ दोष भी हैं। उर्मिला को ही लीजिए। कवि उसे साकेत की नायिका बनाना चाहता है—और वह इसमें सफल भी है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसे हर जगह घुसेड़ दिया जाए—अवांछनीय अवसरों पर भी उपस्थित कर दिया जाए। द्वादश सर्ग में वह अकस्मात् सेना के समक्ष आती है और 'पापी का सोना न लाने' का उपदेश देने लगती है। षष्ठ सर्ग में दशरथ-मरण के अवसर पर भी वही सर्वाधिक रोती है—कौशल्या एवं सुमित्रा से भी अधिक! कितनी विचित्र बात है! वास्तव में कवि ने उर्मिला को अधिक प्रमुखता देने के बहाने से उचित से अधिक मुखर बना दिया है।[1] इसी प्रकार दुर्योधन के चरित्र का परिष्कार करते-करते आदर्श को भुला बैठा है। क्या दुर्योधन की स्वर्ग-प्रतिष्ठा समीचीन है? आयुपर्यन्त दुष्कर्म करने पर भी यदि दुर्योधन को बैकुण्ठवास मिल गया तो नरक का निर्माण किसके लिए हुआ था? महाभारत में भी दुर्योधन स्वर्गधाम-स्थित हैं पर वहाँ स्पष्ट कह दिया गया है कि जिन लोगों का पाप अधिक और पुण्य थोड़ा

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी—हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, संस्करण सन् १९४९, पृष्ठ ४४

होता है उनको पहले स्वर्ग और फिर नरक में रखा जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति पुण्य अधिक और पाप थोड़े करते हैं उन्हें पहले नरक में और फिर स्वर्ग में रहना होता है। इस प्रकार महाभारतकार ने दुर्योधन के अन्ततः नरक-पात का संकेत कर दिया है। किन्तु जय भारत में ऐसा कोई निर्देश नहीं है। पाण्डवों के नरक-भोग का तो उल्लेख है—दुर्योधन के स्वर्ग-भ्रष्ट होने का नहीं। अतः पाठक को भी युधिष्ठिर के साथ यही कहना पड़ता है—

तब सुकृती रहा सुयोधन ही[1]

क्या यह आदर्शवाद पर कुठाराघात नहीं है ? मैं समझता हूँ दशरथ से महामहिम चक्रवर्ती राजा के गौरव की रक्षा भी कवि पूर्णतः नहीं कर सका। साकेत में उन्हें निष्क्रिय विलासी राजाओं की पंक्ति में बैठा दिया गया है। प्रेमी तो 'मानस' के दशरथ भी हैं—

जानसि मोर सुभाऊ बरोरू
मनु तव आनन चन्द चकोरू।[2]

—पर साकेत के समान अतिरिक्त विलासी नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी पात्र को प्रमुखता देते समय या किसी का परिष्कार करते समय गुप्त जी अन्य आनुषंगिक बातों को विस्मृत कर देते हैं।

कई पात्रों के चरित्र उलझ भी गए हैं—उनमें मानवीय और अतिमानवीय गुणों का सम्मिश्रण है। परिणामतः उन पात्रों के चरित्र न तो सर्वथा लौकिक हैं और न ही बिल्कुल अलौकिक। उदाहरण के लिए राम मानव के रूप में चित्रित हैं—मानवसुलभ दुर्बलताएं भी उनमें हैं। अनेक स्थलों पर उनमे मोह का प्राचुर्य देखा जा सकता है, जैसे पिता के लिए सुमन्त्र को दिये गए सन्देश में।[3] लक्ष्मण-शक्ति प्रसंग में उनके शोक का भी दर्शन किया जा सकता है। किन्तु कवि उन्हें स्पष्ट रूप में भगवान् मानता है। मैथिलीशरण राम को निर्गुण का सगुण अवतार मानते हैं।[4] वे स्वयं भी अपने देवत्व की घोषणा करते हैं—

जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे,
वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे।[5]

सीता के चरित्र में कवि ने कुछ अधिक मानवीय रंग भरा है। पुत्र-वधू के रूप में वे कौशल्या की पूजा-सामग्री एकत्रित कर रही हैं।—और 'माँ ! क्या लाऊँ ?' कह-कहकर[6] आवश्यक वस्तुएँ लाती हैं। कैसा सहज पार्थिव चित्र है ! पर सीता के जिज्ञासा प्रकट करने पर गुप्त जी राम तथा सीता दोनों की दिव्यता प्रदर्शित करते हैं।[7] ऐसे ही जय भारत के कृष्ण

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४४०
२. रामचरितमानस—अयोध्याकाण्ड
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १२२
४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ५१२
५. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६७
६. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ७२
७. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६५

महामानव के रूप में प्रकट हुए हैं, किन्तु उनकी अलौकिक शक्तियों का सर्वथा लोप नहीं हुआ है। कृष्ण शान्ति-सन्देश लेकर जाते हैं। दुर्योधन के उनको पकड़ने की कुचेष्टा करने पर अनेक कृष्ण तो नहीं बनते पर उनके दर्शनार्थ जन्मान्ध धृतराष्ट्र के नेत्र अवश्य खुल जाते हैं—

जग गये एक क्षण के लिए दृग-दीपक जो थे बुझे।[1]

इस प्रकार कुछ पात्रों के चरित्र में दिव्य और मानवीय गुणों की उलझन है। वस्तुतः इस वैज्ञानिक और बौद्धिक युग के कवि को अमानवीयता से कोई अनुराग नहीं है। इसीलिए उसने यथासंभव मानवीयता की रक्षा का प्रयास किया है। किन्तु उसके हृदयस्थ भक्त को राम, कृष्ण, सीता आदि में अपार श्रद्धा है। उसी के कारण इन पात्रों में देवत्व की स्थापना होती है। युग-चेतना और कवि-हृदय के वैषम्य के प्रभाव-स्वरूप ही राम, कृष्ण और सीता के चरित्रों में विषमता है—उनमें लौकिकता और अलौकिकता का विचित्र संश्लेषण है।

रस

रस काव्य की आत्मा है। अतः सरसता किसी भी साहित्यिक कृति का अनिवार्य गुण है। विशेषतः महाकाव्य में तो रस का अविरोध संचार होना चाहिए। काव्यादर्शकार आचार्य दण्डी का 'रसभावनिरन्तरम्' से यही अभिप्राय है।—और महाकाव्य में यथास्थान सभी रसों का समावेश अनिवार्य माना गया है। किन्तु शर्त यह है कि कोई एक रस प्रमुख होना चाहिए—विषयगत वैविध्य की अवस्थिति में भी कोई एक प्रधान रस होना चाहिए, जिसमें कि शेष सबका पर्यवसान हो।[2] साकेत और जय भारत का कवि जीवन की प्रायः सम्पूर्ण अवस्थाओं का अंकन करता है। अतः उनमें न्यूनाधिक मात्रा में सभी रस उपलब्ध हैं। अपेक्षाकृत रति एवं उत्साह की अधिक व्यंजना है अतः गुप्त जी के महाकाव्यों में शृंगार तथा वीर का प्राधान्य है। किन्तु परिष्कृत-रुचि कवि मैथिलीशरण शृङ्गार और वीर का संयत चित्रण ही करते हैं। साकेत के प्रथम सर्ग में ही लक्ष्मण-उर्मिला का मधुर-स्निग्ध वाग्विनोद है। आलिंगन का चित्र भी उपस्थित हुआ है पर कहीं भी लालसा के दाह का वीभत्स प्रदर्शन नहीं है। नवम एवं दशम सर्गों में विप्रलम्भ का उत्कृष्ट निदर्शन है। जय भारत में भी शृङ्गार के चार प्रसंग आते हैं। योजनगंधा, हिडिम्बा, जयद्रथ और सैरन्ध्री। शास्त्रीय दृष्टि से इनमें से 'जयद्रथ' शीर्षक प्रकरण में जयद्रथ का द्रौपदी के प्रति प्रेम-प्रदर्शन और सैरन्ध्री प्रसंग में कीचक का सैरन्ध्री के प्रति प्रणय-निवेदन रसाभास कहे जाएँगे। जय भारत में विप्रलम्भ शृङ्गार का एकान्ताभाव है।

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३२३

2. One predominant sentiment, should run through the entire length of the poem, even in the midst of such a diversity of topics discussed therein.

—A prose English Translation of Agni Puran Edited and published by Manmath Nath Dutt Vol. II Edition 1904.

वीर में युद्ध वीर का चित्रण प्रायः गुप्त जी नहीं करते। उनके महाकाव्यों में युद्ध का विवरण न मिलकर व्यंजना अधिक मिलती है। वस्तुतः दया-वीरता एवं धर्म-वीरता की ओर ही कवि का विशेष ध्यान रहा है। 'युद्ध' अध्याय के अतिरिक्त शेष सभी—विशेषतः परीक्षा, हिडिम्बा, वक-संहार, राजसूय आदि—खण्डों में भी यत्र-तत्र उत्साह परिव्यक्त है। साकेत के लंका-युद्ध प्रसंग में वीर रस व्यंजित है। रौद्र के साकेत में दो मुख्य प्रसंग हैं : १—लक्ष्मण का कैकेयी-विरोध; २—लंका-युद्ध, जय भारत में तो दो-एक प्रकरणों को छोड़कर रौद्र सर्वत्र ही विद्यमान है, किन्तु वह सदैव वीर के सहायक रूप में ही आया है। करुण के लिए साकेत के दशरथ-मरण तथा लक्ष्मण-शक्ति प्रसंग और जय भारत के सैरन्ध्री, केशों की कथा, युद्ध तथा विलाप आदि प्रकरण द्रष्टव्य हैं। वक-संहार, स्वर्गारोहण एवं भरत-तपस्या प्रसंगों में शान्त रस उपलब्ध है। अद्भुत और हास्य का प्रायः अभाव है। भयानक और वीभत्स का चित्रण भी बहुत कम है। युद्ध-वर्णित काव्यों में उनका अभाव तो असम्भव है—किन्तु प्राचीनों के समान आधिक्य नहीं। लंका-युद्ध तथा हिडिम्बा, युद्ध, कुरुक्षेत्र आदि प्रकरणों में वीभत्स और भयानक के उदाहरण मिल सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी के महाकाव्यों में सभी रस समाविष्ट हैं। उनमें शृङ्गार और वीर की प्रधानता है। साकेत में शृङ्गार तथा जय भारत में वीर रस प्रमुख है।—और शेष सभी रस उनमें पर्यवसित हैं। निष्कर्ष यह कि मैथिलीशरण शृङ्गार और वीर को अंगी तथा अन्य रसों को अंग-रूप में ग्रहण करते हैं। वास्तव में इन रसों का जीवन की मूलवृत्तियों से सहज सम्बन्ध है—शृङ्गार का काम अर्थात् जीवनेच्छा से और वीर का उत्साहमूलक होने के कारण जीवन के विकास से। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ ने भी इन्हें अंगी-पद प्रदान किया है। इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि गुप्त जी ने शृङ्गार को भोग-प्रधान न बनाकर भव्य त्याग से युक्त उदात्त रूप प्रदान किया है। उनका प्रेम शरीर की भूख न होकर आत्मा का गुण है—उसमें स्वार्थ-मयी वासना न मिलकर निस्स्वार्थ आत्मविलय की भावना मिलती है। इसी प्रकार उनके वीर में हिंसात्मक उत्साह नहीं है वरन् व्यापक अर्थ में धर्ममय उत्साह है। और स्पष्ट शब्दों में वह वैरवृत्ति से पुष्ट मानव-द्वेषी युयुत्सा नहीं है वरन् मानव-कल्याण की कामना से प्रेरित सात्विक उत्साह है। राम एवं युधिष्ठिर का उत्साह पाठक को सहिष्णुता की ही प्रेरणा देता है, क्रूरता की नहीं।

विविध वस्तु वर्णन

महाकाव्य-सी विराट् रचना में जीवन और जगत् के वैविध्य का चित्रण अपेक्षित है—उसमें उनकी सभी परिस्थितियों का आलेखन आवश्यक है। जीवन और जगत् के विभिन्न चित्रों की बृहत् योजना के लिए ही आचार्यों ने संध्या-सूर्य, नगर-नदीश, संयोग-वियोग, पुत्र-कलत्र, सैर-शिकार, युद्ध-यात्रा आदि का यथास्थान सांगोपांग वर्णन महाकाव्य में अनिवार्य माना है। स्पष्टतः इसके दो भाग किए जा सकते हैं :

१. प्रकृति-चित्रण
२. सामाजिक जीवन का चित्रण

अभिप्राय यह कि महाकाव्य में प्रकृति एवं सामाजिक जीवन (इसके अन्तर्गत पारिवारिक एवं राजनैतिक जीवन भी सम्मिलित है) का विशद वर्णन होना चाहिए।

प्रकृति-चित्रण

मैथिलीशरण शुद्ध प्रकृति-चित्रण बहुत कम करते हैं। वास्तव में वे मानवीय सम्बन्धों के कवि हैं। उनकी कविता का मुख्य विषय मानव ही है—मानवेतर सृष्टि की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। प्रकृति के प्रति गुप्त जी के मानस में छायावादी कवि का-सा सहज अनुराग नहीं है। अतएव उनके यहाँ आलम्बन-रूप में प्रकृति वर्णन का प्रायः अभाव है। वह या तो अप्रस्तुत के रूप में गृहीत है, जैसे—

एक तरु के विविध सुमनों-से खिले
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले।[1]

—या फिर भावी घटना के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि अथवा भूमिका के रूप में उपस्थित है।—और जहाँ आलम्बन-रूप में चित्रण होता भी है वहाँ कवि की वृत्ति नहीं रमती। साकेत के प्रथम सर्ग में कवि—'सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ।'[2]—आदि से प्रातःकाल का वर्णन प्रारम्भ करता है—किन्तु थोड़ी देर बाद ही वह अपने प्रकृत विषय पर आ जाता है—

अरुण-पट पहने हुए आह्लाद में
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में।[3]

इस प्रकार उषाकाल का वह सारा दृश्य उर्मिला-वर्णन का पूर्वाभास है। ठीक इसी तरह जय भारत में अमावस्या की कालिमामयी रात्रि की घोरता का निरूपण[4] भी पाण्डव-पुत्रों की भावी हत्या की भूमिका ही प्रस्तुत करता है—उसका अपना स्वतन्त्र महत्व नहीं है। फिर भी प्रयत्न करने पर शुद्ध प्रकृति-चित्रण के दो-चार श्रेष्ठ उदाहरण मिल सकते है। उदाहरणतः साकेत में छाया[5] तथा चित्रकूट[6] के मानवीकरण का उल्लेख किया जा सकता है।—और जय भारत में नदी-नदीश का मिलन तो देखते ही बनता है—

मिलन गंगा और सागर का जहाँ था,
क्षार रस भी हो उठा मधुमय वहाँ था!

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १५
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १९
४. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४०३
५. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ११०
६. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ११३

एक तन में ही न पाकर तोष गंगा
बन गई शततनु, सहस्र-तरंग-भंगा।[1]

नदी अथवा समुद्र का चित्रण तं अनेक कवियों ने किया है—किन्तु दोनों के मिलन का अंकन अपूर्व है।

सामाजिक, राजनीतिक जीवन का चित्रण

महाकाव्य किसी भी देश के जातीय जीवन का कोष होता है—उसमें सामाजिक (पारिवारिक और राजनैतिक भी) जीवन की प्रमुखता होती है। मैथिलीशरण भी अपने महाकाव्यों में जीवन की नाना परिस्थितियों का आलेखन करते हैं। उनमें राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, पुत्र-माता, पुत्र-विमाता, सास-वधू, देवर-भाभी, भाई-भाई, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य आदि के सम्बन्धों तथा विवाह स्वयंवर, संयोग-वियोग, युद्ध इत्यादि का यथायोग निरूपण है। दो-एक उदाहरण लीजिए। साकेत के चतुर्थ सर्ग में सीता कौशल्या के लिए पूजा की सामग्री एकत्रित कर रही हैं। सास-बहू के सहज-सरल सम्बन्ध का पावन चित्र देखिए—

'मां ! क्या लाऊं ?' कह कह कर—पूछ रही थीं रह रह कर
सास चाहती थीं जब जो,—देती थीं उनको सब सो
कभी आरती, धूप कभी, सजती थीं सामान सभी[2]

जय भारत से अर्जुन-द्रौपदी का वाग्विनोद उद्धृत करता हूँ—

(अर्जुन) तुमसे सदा अतृप्त रहूँ मैं यही कामना मेरी।
(द्रौपदी) इससे अधिक और क्या चाहे यह चरणों की चेरी।

* * *

"नहीं भूलता यह सुख मुझको चाहे जहाँ रहूँ मैं"
"इसको निज सौभाग्य कहूँ वा निज दुर्भाग्य कहूँ मैं ?
मेरे कारण रह न सके तुम सुरपुर में भी सुख से।"[3]

इत्यादि।

इसमें साकेत के संयोग-वर्णन जैसी सूक्ष्म-स्निग्धता नहीं है फिर भी पर्याप्त तरलता है। इनके अतिरिक्त साकेत के राम-वनगमन प्रसंग तथा जय भारत के तीर्थयात्रा और स्वर्गारोहण खण्डों में यात्रा का विवरण है। वन-वैभव प्रकरण में जल-विहार का मनोमोहक चित्रण है तथा राजसूय अध्याय में राजसूय यज्ञ का आयोजन उपलब्ध है। दशरथ-मरण प्रसंग में दाहकर्म का भी उल्लेख है। साकेत और जय भारत दोनों में युद्ध का विशद वर्णन तो है ही।

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १५९.
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ७२
३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७६

सारांश यह कि मैथिलीशरण जीवन को उसकी समग्रता में ग्रहण करते हैं। वे यथासंभव जीवन और जगत् की सम्पूर्ण स्थितियों का अंकन करते हैं। प्रकृति-चित्रण अपेक्षाकृत कम है—इसका कारण कवि की अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति है।

उद्देश्य

किसी भी सदनुष्ठान का लक्ष्य धर्मार्थकाममोक्ष हुआ करता है। अतः सामान्य रूप से काव्य मात्र का—विशेष रूप से महाकाव्य का—उद्देश्य जीवन के इन परम पुरुषार्थों की सिद्धि ही है। गुप्त जी भी अपने महाकाव्यों में इनकी प्रतिष्ठा करते हैं। जय भारत का मुख्य कार्य दुर्योधन पर युधिष्ठिर की विजय है जो कि पाप पर पुण्य की विजय की द्योतक है। ऐसे ही साकेत में उर्मिला के माध्यम से भोग के ऊपर त्याग की विजय व्यंजित की गयी है—वह प्रिय-पथ का विघ्न न बनकर विरह-व्यथा को ही श्रेष्ठ समझती है। जिन कृतियों में असत् पर सत् की और भोग पर त्याग की विजय की स्थापना हो वे निश्चित रूप से धर्म की साधक हैं। और अर्थ प्रत्यक्षतः तथा काम एवं मोक्ष परम्परा सिद्ध हैं। इस प्रकार ये दोनों प्रबन्ध धर्मार्थकाममोक्ष के साधक हैं।

किन्तु महाकाव्य का कुछ विशेष ध्येय भी होता है। सामान्य फल के ऐक्य की अवस्थिति में भी काव्य और महाकाव्य के उद्देश्य में कुछ अन्तर है। काव्य में तो किसी रमणीय भावना की व्यक्ति होती है, और बस! पर महाकाव्य में ऐसे महच्चरित्रों की अवतारणा होती है जिनका देश के नैतिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय जीवन पर पुष्कल प्रभाव होता है—जो सभ्यता और संस्कृति के इतिहास पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं। और स्पष्ट शब्दों में महाकाव्य किसी महान् एवं उदात्त व्यक्तित्व की कल्पना को साकार करने के लिए लिखा जाता है। प्रमुख पात्र में जीवन की महानतम सम्भावनाओं को चरितार्थ किया जाता है। मैथिलीशरण अपने महाकाव्यों के लिए मुख्य पात्र के रूप में ऐसे ही महामना चरित्रों का चयन करते हैं—उनके सर्वप्रमुख पात्र स्वार्थ की नहीं परार्थ और परमार्थ की ही साधना करते हैं। उर्मिला समष्टि के निमित्त व्यष्टि का त्याग करती है। युधिष्ठिर भी धर्म के लिए युद्ध करते हैं, स्वार्थ के वशीभूत हो कर नहीं। इस प्रकार इन दोनों के महार्घ जीवन-वृत्तों द्वारा स्वार्थपरक मूल्यों की नहीं वरन् परार्थपरक जीवन मूल्यों की—उच्चतर मानवीय भावनाओं की प्रतिष्ठा होती है। तात्पर्य यह कि गुप्त जी के महाकाव्यों में असत् का तिरस्कार कर सत् की प्रतिष्ठा—स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ की श्रेष्ठता का महान् संदेश है।

इसके अतिरिक्त कवि ने उनमें समग्र जाति किंवा राष्ट्र के शाश्वत जीवन का, उसकी आशाओं-आकांक्षाओं का, विचारों-विश्वासों का, नीति-आदर्शों का, भव्य चित्र प्रस्तुत कर अखण्ड भारतीय जीवन का प्रतिफलन किया है। युगधर्म के अनुकूल हमारे चिर-अभीष्ट राष्ट्रीय-सांस्कृतिक मूल्यों की काव्यात्मक प्रतिष्ठा इन महाकाव्यों की विशेषता है। वास्तव में युगधर्म का सन्देश जिस ज्वलन्त रूप में यहाँ मिलता है वैसा न प्रिय-प्रवास और कामायनी में है न मेघनाद-वध में। तुलसी के रामचरितमानस के पश्चात् इस दृष्टि से साकेत-जय भारत का अपना विशिष्ट स्थान है।

शैली

महाकाव्य की शैली उसके महामहिम प्रतिपाद्य के अनुरूप ही अत्यन्त शालीन, वैभूतिमती तथा गरिमावरिष्ठ होनी चाहिए। जीवन और जगत् के वैविध्य-वर्णन में सक्षम तथा विस्तारगर्भा होनी चाहिए। इसीलिए अरस्तू ने महाकाव्य की शब्दावली, पद-रचना, शाब्दिक संगीत आदि में असाधारणता को अनिवार्य तत्त्व माना है। उसमें वैविध्य की अवस्थिति में भी प्रारम्भ से अन्त तक असाधारण ओज, समृद्धि और गाम्भीर्य अपेक्षित हैं जो के चित्त की स्फीति में समर्थ हों। किन्तु मैथिलीशरण के महाकाव्यों की शैली में अत्यधिक वैषम्य है। कहीं उसमें महाकाव्योचित गरिमा और गम्भीर प्रवाह है, जैसे—साकेत के पंचम, एकादश, एवं द्वादश सर्गों में तथा जय भारत के 'योजनगंधा' एवं 'युद्ध' आदि प्रकरणों में—और कहीं-कहीं वह सर्वथा क्षीण और हल्की हो गई है जैसे साकेत के चतुर्थ, नवम एवं दशम सर्गों में तथा जय भारत के वक-संहार एवं केशों की कथा आदि प्रसंगों मे। कुल मिलाकर शैली में वांछित स्थिरता का अभाव है। उसमें विविधता तो है, परन्तु वैविध्य के बीच जो गरिमा और भव्यता निरन्तर विद्यमान रहनी चाहिए—वह नहीं है। पर इसके कारण स्पष्ट हैं: जय भारत के तो विभिन्न खण्डों की रचना ही समय-समय पर हुई है अतः उसकी शैली में स्थैर्य की आशा करना दुराशा मात्र है। और साकेत में कवि ने इतिवृत्तात्मक वर्णन न करके भावपूर्ण प्रकरणों में अपनी भावना का रंग भरकर उपस्थित किया है। इसीलिए उसमें प्रगीतात्मक मृदुल-मसृणता और आधुनिक कहानी के समान कतिपय भाव-खण्डों के अनुबन्धन का प्रयास तो है किन्तु शृङ्खलाबद्ध महाप्रवाह नहीं है।

गुप्त जी के महाकाव्यों में आद्योपान्त खड़ी बोली व्यवहृत है पर पद-योजना सर्वत्र एक-सी नहीं है। जय भारत के आरम्भकालीन खण्डों की भाषा व्यस्त एवं अभिधा-प्रधान है और उत्तरकालीन भागों में अपेक्षाकृत समस्त एवं व्यंजनापूर्ण। उदाहरण के लिए 'केशों की कथा' और 'रण-निमन्त्रण' की भाषा की तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार साकेत के अन्तिम दो सर्गों में जो गुम्फित झंकार और प्रबलता है, पहले दस सर्गों में उसका अभाव है। परिणामतः मैथिलीशरण के महाकाव्यों में महानद का-सा गम्भीर नाद और अव्याहत प्रवाह नहीं है। यद्यपि भाषा काफ़ी प्रौढ़ एवं परिमार्जित तथा शैली नानावर्णनक्षमा है फिर भी उसमें न तो पैराडाइज़ लॉस्ट की गरिमा है न मेघनाद-वध का दुर्धर प्रवाह, न कामायनी का ऐश्वर्य है—और न ही प्रिय-प्रवास का हिल्लोलकारी संगीत। वस्तुतः महाकाव्य-कार गुप्त जी का सर्वाधिक दुर्बल पक्ष शैली ही है।

महाकाव्यकार मैथिलीशरण की सिद्धि

सर्वप्रथम तो एक नवीन पात्र की सृष्टि—चिर-उपेक्षिता उर्मिला की चरित्र-परिकल्पना और वह भी नायिका के रूप में बहुत बड़ी सफलता है। दूसरे वाल्मीकि एवं तुलसी के पश्चात् मौलिक रामकाव्य का और भारत के पंचम वेद महाभारत की सहस्रों पृष्ठों में प्रकीर्ण प्रायः सम्पूर्ण कथा को लेकर साढ़े चार सौ पृष्ठ के एक सफल सरस काव्य-ग्रन्थ का निर्माण अपने आप में महती सिद्धि है। तीसरे साकेत में एक ओर यदि कवि को आत्मसाक्षात्कार—

साहित्य-सर्जन के सुख का वास्तविक अनुभव हुआ है तो दूसरी ओर जय भारत में उसके सम्पूर्ण साहित्यिक जीवन का समाहार हो गया है। इसके अतिरिक्त साकेत और जय भारत दोनों को युगधर्म—मानववाद की प्रतिष्ठा का अपूर्व गौरव प्राप्त है।

उधर शिल्प-विधान की दृष्टि से भी गुप्त जी के महाकाव्यों में अनिवार्य तत्त्व ही नहीं महाकाव्य के शास्त्र-प्रतिपादित गौण अंग भी मिल जाते हैं। अनेक दोष भी हैं पर दोष किसमें नहीं होते ?—और फिर साकेत तथा जय भारत की त्रुटियाँ तो सकारण हैं। साकेत के वस्तु-विधान तथा शैली के दोषों के लिए कथानक की अतिरिक्त ख्याति और खड़ी बोली की अपरिपक्वता ही उत्तरदायी है। जय भारत की अधिकांश त्रुटियों का मूल कारण है कथा का विपुल परिमाण—महाभारत कोई छोटी-सी कथा थोड़े ही है! वस्तुतः इस महदनुष्ठान को इस रूप में सम्पूर्ण करना भी बहुत बड़ी उपलब्धि है। कवि की अपनी सीमाओं से भी इन्कार नहीं किया जा सकता—तथापि उसकी सिद्धि के समक्ष नतशिर आलोचक को मैथिलीशरण की प्रबन्ध-कल्पना का क़ायल होना ही पड़ेगा।

गुप्त जी की खण्डकाव्य-विषयक धारणाएँ

मैथिलीशरण गुप्त ने कुल मिलाकर १९ खण्डकाव्य लिखे हैं। यहाँ उन्हीं के आधार पर उनकी तद्विषयक धारणाओं के विवेचन का प्रयत्न किया गया है। उन सभी का रचना-काल एक नहीं है—'रंग में भंग' और 'युद्ध' की रचना में चालीस-बयालीस वर्ष का अन्तराल है। उनका आकार-प्रकार भी एक नही है और शिल्प-विधान में भी काफ़ी अन्तर है। फिर भी उन सबके तल में समानता का एक सूत्र वर्तमान है। उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास तो है, शिल्प में निखार भी है किन्तु मूल तत्त्व प्रायः सभी में एक-से ही हैं।

कथावस्तु

खण्डकाव्य की वस्तु के लिए प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि अथवा ऐतिहासिकता-अनैतिहासिकता आदि का कोई प्रतिबन्ध नही है। कवि कालिदासकृत मेघदूत सर्वथा कल्पना-प्रसूत ही है। पर काल्पनिक कथानकों में मैथिलीशरण की विशेष रुचि नहीं है। अतएव उनके खण्डकाव्यों की कथा उत्पादित न होकर प्रख्यात है—जो प्रख्यात नहीं है वह भी साधार तो है ही।

मूल-स्रोत

वास्तव में प्राचीनता के प्रति गुप्त जी का अतिरिक्त मोह है। इसीलिए वे इतिहास से कोई घटना लेकर उसी पर अपनी कल्पना का प्रयोग करते हैं। किन्तु उनका इतिहास आज का मान्य इतिहास ही नहीं है—वे रामायण-महाभारत और पुराणों को भी उसके अन्तर्गत ही परिगणित करते हैं। इन्हीं से उन्होंने अपने खण्डकाव्यों के कथा-सूत्र का चयन किया है। 'शक्ति' का मूलस्रोत पुराण तथा 'पंचवटी' का उद्गम-स्थल रामायण है—और 'जयद्रथ-वध',

'सैरन्ध्री', 'वन-वैभव', 'वक-संहार', 'नहुष', 'हिडिम्बा' तथा 'युद्ध' का आधार है महाभारत। शेष 'विकट भट' और 'सिद्धराज' राजपूत इतिहास से, 'गुरुकुल' सिक्ख इतिहास से, 'काबा और कर्बला' मुस्लिम इतिहास से तथा 'अर्जन और विसर्जन' विदेश के इतिहास से संबद्ध हैं। 'शकुन्तला' का आधार महाभारत अथवा पुराण न होकर कालिदासकृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' है। दो खण्डकाव्य—'अजित' और 'किसान' किसी लिखित एवं प्रामाणिक इतिहास पर आधृत न होकर अपने देश के समसामयिक समाचारों पर अवलम्बित हैं। वस्तुतः मैथिलीशरण को जहाँ भी कोई चित्ताकर्षक एवं प्रभावक्षम प्रसंग मिलता है वहीं से ग्रहण कर लेते हैं। महाभारत के अनेक प्रकरणों में उन्हें अपनी भावना का रंग भरने का अवसर मिला अतएव वहाँ से कई खण्ड काव्यों की सामग्री का चयन हुआ है।

मूलवर्ती दृष्टिकोण

ऐतिहासिक-पौराणिक कथानकों को गुप्त जी अपनाते अवश्य हैं—किन्तु उसी रूप में नहीं। उनके माध्यम से युगीन समस्याओं का पुरस्करण एवं समाधान करते हैं। साथ ही उन्होंने उनमें से अतिमानवीय तत्त्व निकालकर सहज-स्वाभाविक परिधान प्रदान करने का प्रयत्न किया है। आज के पाठक को अमानवीय अथवा अतिमानवीय शक्तियों में उतना विश्वास नहीं रह गया है। अतः आधुनिक कवि यथासंभव कथानक को बुद्धि-संगत एवं तर्क-सम्मत रूप देता है—आलोच्य कवि ने भी यही किया : नहुष आख्यान में ऋषियों द्वारा उठाई गई शिविका में नहुष के चढ़कर आने का प्रस्ताव स्वयं इन्द्राणी की सूझ है। महाभारत के समान वह मर्त्यलोक-स्थित इन्द्र का परामर्श नहीं है। 'वक-संहार' में कुन्ती में पुत्र-हानि की आशंका का क्लेश तथा 'हिडिम्बा' में राक्षसी हिडिम्बा में स्त्रीसुलभ लज्जा का प्रदर्शन कर मानवीयता प्रदान की गई है।—और स्वाभाविकता के लिए तो गुप्त जी ने शूर्पणखा-आख्यान में समय तक बदल दिया है। रामचरितमानस में शूर्पणखा दिन-दहाड़े आती है—किन्तु पंचवटी में उसका आगमन रात्रि के तीसरे प्रहर में होता है। शायद उसके कुत्सित प्रस्ताव के लिए यही समय सर्वथा उपयुक्त है। और 'किसान' तथा 'अजित' जिनका कि कोई विशिष्ट आधार नहीं है, उनमें तो अस्वाभाविकता का अत्यन्ताभाव है ही। हाँ, 'जयद्रथ-वध' जैसी आरम्भकालीन रचना में अवश्य अतिमानवीय तत्त्व को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया है : जैसे अर्जुन द्वारा छिन्न जयद्रथ के शीश का आकाश मार्ग से उड़कर तपस्यारत वृद्ध क्षत्र (जयद्रथ के पिता) की गोद में जा गिरना—और तब वृद्ध क्षत्र का भी सिर फटना।[1] इसके अतिरिक्त जिन कथानकों में कवि ने परिवर्तन किया भी है उनमें भी परम्परा का एकान्त त्याग नहीं है। गुप्त जी को मधुसूदनकृत मेघनाद-वध अत्यन्त प्रिय है। फिर भी वे उसकी तरह परम्परामुक्त होने का प्रयास नहीं करते न ही मनोविश्लेषण शास्त्र के इतने चक्कर में पड़ते हैं कि भगवतीचरण वर्मा की द्रौपदी के समान किसी प्रतिष्ठित पात्र के प्रसिद्ध रूप में आमूल परिवर्तन ही हो जाए। और स्पष्ट शब्दों में

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां संस्करण, पृष्ठ ८७

मैथिलीशरण जी में युगोचित वैज्ञानिकता तो है—किन्तु परम्परा की श्रद्धा का अभाव नहीं।

मौलिकता

परम्परा के प्रति अटूट श्रद्धा की अवस्थिति में भी मैथिलीशरण मौलिकता-संपादन में समर्थ हैं। राजपूत, सिक्ख और मुस्लिम इतिहासों से संबद्ध तथा अजित और किसान जैसे विशिष्टाधाररहित काव्य तो साहित्य-जगत् के लिए सर्वथा नूतन हैं ही—किन्तु रामायण-महाभारत आदि पर आधृत रचनाएँ भी मौलिक हैं। मौलिकता उनमें है प्रकरण तथा प्रबन्ध की वक्रता की। प्रकरण एवं प्रबन्ध-गत वक्रता के कारण ही उनमें अनेक उद्भावनाएँ हुई हैं जिनका उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूँ। रस और संदेश में भी परिवर्तन हुआ है। महाभारत में नहुष-आख्यान का रस करुण-रौद्र है तो मैथिलीशरणकृत 'नहुष' में शृंगार-वीर। महाभारतगत वक-संहार में प्रधान रस वीर है पर 'वक-संहार' का मुख्य रस है वात्सल्य। इसी प्रकार रामचरितमानस के पंचवटी प्रसंग में शृङ्गार-रौद्र है—किन्तु गुप्त जी की 'पंचवटी' में शान्ति-शृंगार। संदेशों में भी पर्याप्त अन्तर है। महाभारत के नहुष-वृत्त में सत्कर्मों से इन्द्र-पद तक की प्राप्ति और दुष्कर्मों से पतन का उल्लेख, वकासुर-वध तथा हिडिम्ब-वध प्रसंगों में भीम के अतुल बल-पराक्रम का निर्देश ही कवि का उद्देश्य है। किन्तु मैथिलीशरण विरचित 'नहुष' में मानवोत्थान में अडिग आस्था, 'वक-संहार' में वात्सल्य पर कर्त्तव्य की विजय निहित है।—और 'हिडिम्बा' में वर्गभावना का त्यागकर प्राणिमात्र से प्रेम करने का संदेश है। रामायण में पंचवटी-प्रसंग का कोई अपना पृथक् संदेश नही है—वहाँ अग्रिम कथा का बीजारोपण होता है। किन्तु गुप्त जी की पंचवटी में उनका जीवन-दर्शन सन्निहित है। जहाँ मौलिकता का यह उत्कृष्ट रूप नहीं है वहाँ भी कम से कम प्रतिपादन शैली तो कवि की अपनी है ही। सैरन्ध्री, वन-वैभव आदि की मौलिकता शैलीगत ही है—वैसे कोई नूतन उद्भावना नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मैथिलीशरण बराबर मौलिकता का ध्यान रखते हैं। हाँ 'शकुन्तला' इस दृष्टि से अवश्य चिन्तनीय है। यद्यपि वह भी किसी ग्रंथ का अविकल अनुवाद नहीं तथापि हमारा अनुमान है कि उसकी रचना के समय कवि कालिदासकृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' बराबर कवि के सामने रहा है।

रोचकता और औत्सुक्य

मौलिकता, संगति एवं संगठन के साथ ही किसी भी कथानक के लिए रोचकता आवश्यक हुआ करती है जिससे कि पाठक के मन में कौतूहल और तज्जन्य उत्सुकता बनी रहे। खण्डकाव्य कथाश्रित ही होता है अतः रोचकता उसका मूलगुण है। इस मूलगुण की रक्षा किंवा समावेश के लिए कवि नूतन विषय अपनाता है या फिर पूर्वपरिचित की नवीन व्याख्या करता है। और कुछ नहीं तो कम से कम प्रतिपादन शैली तो मौलिक होनी ही चाहिए। गुप्त जी के खण्डकाव्यों में से रंग में भंग, सिद्धराज, किसान, विकट भट, गुरुकुल आदि तो काव्य-जगत् के लिए सर्वथा अपरिचित ही हैं। इन काव्यों में और चाहे कितने भी दोष क्यों न हों, रोचकता निस्संदेह अक्षुण्ण है। अपवाद है केवल गुरुकुल। इसकी रचना

हृद्गत प्रेरणा का फल न होकर एक सिक्ख सज्जन के आग्रह के परिणाम-स्वरूप हुई थी। ऐसी दशा में बौद्धिक ऊहापोह-जन्य विस्मय मिल सकता है, कौतूहलजन्य रोचकता नहीं। शक्ति, पंचवटी, वक-संहार, नहुष, हिडिम्बा, शकुन्तला तथा युद्ध प्राचीन साहित्य से लिए गए हैं। इनमें नवदृष्टि, अभिनव जीवन संदेश तथा मौलिक उद्भावनाओं के समावेश से आशातीत रोचकता आ गई है। शकुन्तला में कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् के पश्चात् रस नहीं रहता। औत्सुक्य एवं रोचकता की रक्षा के लिए गुप्त जी प्रकरणगत वक्रता और प्रसंगगत उद्भावना के अतिरिक्त अन्य अनेक युक्तियों का भी सफल प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए :

१. नाटकीय आकस्मिकता

कभी-कभी कवि एक झटके के साथ नया दृश्य उपस्थित करता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई अभिनेता झम से मंच पर कूद गया हो। पंचवटी-स्थित पर्णकुटी के बाहर एक शिला पर प्रहरी के रूप में लक्ष्मण बैठे हैं। उर्मिला के स्मरण आते ही वे एक क्षण ध्यान-मग्न हो जाते हैं, किन्तु—

फिर आँखें खोलें तो यह क्या,
अनुपम रूप अलौकिक वेष !
चकाचौंध-सी लगी देखकर
प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख
एक हास्यवदनी बाला।[1]

शूर्पणखा की इस तीव्र आलोकमय उपस्थिति से पाठक चौंक उठता है।—और लक्ष्मण के समान ही विस्मय-विमुग्ध हो देखता रह जाता है। आकस्मिकताजनित यह विस्मय परम्परागत कथा में भी जान डाल देता है।

२. संभाव्य की असंभावित उपस्थिति

जानी-पहचानी कथाओं में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए—कौतूहल बनाए रखने के लिए कविजन नियत-निश्चित घटनाओं को भी ऐसे समय और स्थान पर रख देते हैं जहाँ पर कि पाठक को उनके आने की संभावना भी नहीं होती। जैसे मनुष्य गंध पाकर हिडिम्ब अपनी बहन हिडिम्बा को पता लगाने के लिए भेजता है। वह भीम के पौरुष पर मुग्ध हो जाती है और तब कमनीय कलेवर धारण कर उनके सामने आती है। दोनों में प्रेमालाप होता है—

प्रिय-रुचि-हेतु चुना मैंने यह चोला है
नरवर मेरा अहा भारी भला भोला है[2]

—हिडिम्बा

---

१. पंचवटी, इकतीसवां संस्करण, पृष्ठ २०

२. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १६

भोला ? भली, 'मुग्ध' कह तो भी एक बात है,
रूठे वह क्यों न, सीधा सीधा यह घात है ।[1]
—भीम

भीम-हिडिम्बा के साथ ही पाठक भी इस मधुरालाप में विभोर है—रसमग्न है । इस माधुर्य-प्रवाह के बीच में ही जब हिडिम्बा कहने लगती है—

सोदर हिडिम्ब मेरा रक्षः कुल-दीप है,
उसने मनुष्य-गंध पाके मुझे भेजा है ।[2]

—तो पाठक चौंक उठता है । यद्यपि वह वास्तविकता से पूर्वपरिचित है तथापि यहाँ उसे इस सूचना की सम्भावना भी नहीं थी । यह असंभावित प्रस्ताव कितना करुण-मधुर है । एक और उदाहरण लीजिए । बन्दावीर वैरागी कुछ यवनों को आश्रय देते हैं किन्तु 'रचते हुए कराल कुचक्र'[3] वे लोग शीघ्र ही पकड़े गए । तब—

वैरागी ने कहा क्षमा के प्रार्थी आ जावें इस ओर
यह सुन गिन गिन कर छंट आए जिन जिनके भीतर था चोर ।[4]

पाठक सोचता है कि ये लोग क्षमा कर दिए जाएंगे पर जब वह अग्रिम पंक्ति में उनके वध की बात पढ़ता है—

अरे अभागो, तुम्हें मृत्यु ही
लाई थी मेरे घर घेर[5]

—तो उसे एक झटका लगता है और यह झटका निश्चित रूप से रोचकता के अभिवर्द्धन में सहायक है ।

३. नाटकीय वैषम्य

जब किसी तथ्य से एक पात्र परिचित और दूसरा अपरिचित हो अथवा पाठक अभिज्ञ और पात्र अनभिज्ञ हो तो एक विस्मयकारी वैषम्य उपस्थित होता है । मैथिलीशरण गुप्त अपने महाकाव्यों के समान ही खण्डकाव्यों में भी रोचकता के समावेश के लिए इस युक्ति का प्रयोग करते हैं । केवल एक उदाहरण देता हूँ । सोमनाथ को जाती हुई सिद्धराज जयसिंह की माता मीलनदे के समक्ष एक माता और उसका पुत्र बन्दी के रूप में लाए जाते हैं । अपनी सफ़ाई पेश करती हुई महिला कहती है—

---

१. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १६
२. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १६
३. गुरुकुल, संस्करण संवत् २००४, पृष्ठ २३२
४. ,, ,, ,, ,, ,, ,,
५. ,, ,, ,, ,, ,, ,,

बोली मैं, 'यहाँ भी क्या निपूता राजकर है ?
शान्तिमूर्त्ति आप भ्रू चढ़ावें नहीं, सोच लें,
राज का या कर का विशेषण निपूता है ?[1]

वे दोनों मुक्त कर दिए जाते हैं और बात यहीं समाप्त हो जाती है। कई वर्ष पश्चात् रानकदे जयसिंह से कहती है—

तो क्या तुम चाहते हो, प्रभु से मनाऊं मैं—
यौवन बिगाड़ने तुम्हारी किसी रानी का
आवे नहीं कोई शिशु-पुत्र कभी कोख में[2]

इसके पढ़ते ही पूर्वोक्त महिला का कथन स्मरण हो आता है। रानकदे और जयसिंह उससे अनभिज्ञ हैं—किन्तु पाठक इनके अद्भुत साम्य पर आश्चर्यचकित रह जाता है। और पंचम सर्ग में—

एक पुत्र छोड़ सब पाया सिद्धराज ने[3]

—पढ़ते ही उसके हृदय पर एक कोमल-करुण लीक खिंच जाती है। उपर्युक्त दोनों बातें अनायास ही मस्तिष्क में घूम जाती हैं। शब्दों की यह विषमता अत्यन्त कौतूहल-जनक है।

वस्तु-विन्यास

मौलिकता की अवस्थिति में भी क्रमबद्धता एवं सुष्ठु संघटन अनिवार्यतः अपेक्षित है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ खण्डकाव्य को 'एकदेशानुसारि' मानते हैं। तात्पर्य यह कि उसमें एक अंग का अनुसरण होता है। आधुनिक शब्दावली में कह सकते हैं कि खण्डकाव्य में किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना का आलेखन होना चाहिए अथवा किसी महान् व्यक्तित्व के जीवन के एक ही पक्ष का विश्लेषण होना चाहिए। इस प्रकार खण्डकाव्य में महाकाव्य के समान पूर्ण जीवन का नहीं वरन् खण्ड-जीवन का चित्रण होता है—किन्तु वह चित्रण निबन्ध के समान अपने संक्षिप्त आकार में स्वतः संपूर्ण होना चाहिए।—और इस संक्षेप की सार्थकता क्रमिकता एवं अन्विति में है।

गुप्त जी के अधिकांश खण्डकाव्यों में ये सब विशेषताएं मिलती हैं। उनमें वे जीवन के एक ही पक्ष का निरूपण करते हैं। नहुष में महाराज नहुष के जीवन से केवल एक घटना—उनके स्वर्ग-भ्रष्ट होने का, वक-संहार में कुन्ती के मातृत्व का, वन-वैभव में युधिष्ठिर की नीति का, पंचवटी में शूर्पणखा से सम्बद्ध राम-लक्ष्मण के जीवन की एक घटना का, किसान में भारतीय कृषक के दुःखों का वर्णन मिलता है। अभिप्राय यह कि मैथिलीशरण अपने खण्डकाव्यों में खण्ड-जीवन का चित्रण करते हैं; और अपेक्षाकृत संक्षिप्त होने के कारण उनमें संगति एवं संगठन बराबर बना रहता है। यद्यपि काव्य-रचना के समय गुप्त जी

१. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १०
२. ,, ,, ,, , पृष्ठ ७५
३. ,, ,, ,, , पृष्ठ १०६

को इस बात का ध्यान नहीं रहता कि वे महाकाव्य लिख रहे हैं अथवा खण्डकाव्य फिर भी विषय-वस्तु के सीमित होने के कारण तथा उसमें महार्घता के अभाव के कारण कवि अपने महाकाव्यों के समान उनमें भावावेश के समय बहता नहीं। अतः कथा का विकास क्रमिक एवं सहज-स्वाभाविक है तथा उचित अनुपात की सर्वत्र रक्षा की जाती है। मैं समझता हूँ कि यदि केवल वस्तु-संघटना की दृष्टि से देखा जाए तो प्रस्तुत कवि के खण्डकाव्य उसके महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक सफल हैं।

किन्तु कुछेक की वस्तु सदोष भी है। रंग में भंग की कथा बीच में एक बार दम तोड़कर फिर उठती है। राजकुमारी के सती होने पर कथा समाप्त हो जानी चाहिए थी—कवि स्वयं भी ऐसा ही समझता है—

यद्यपि पूरा हो चुका यह चरित एक प्रकार से[1]

पर वह हाड़ा राणा कुंभ के वीर-चरित के आलेखन का लोभ संवरण नहीं कर पाया इसीलिए वह कथा भी उसमें जोड़ दी। यदि इन कथाओं में अंग-अंगी का सम्बन्ध होता तो दोष न होता--पर ऐसा नहीं हो पाया। पहली कहानी में राजपुत्री के घनीभूत प्रेम का पावन प्रकाश है तो दूसरी में राणा कुभ के उज्ज्वल देश-प्रेम का उद्‌भास ! अतः दोनों का अपना स्वतन्त्र महत्त्व है—अपना-अपना पृथक् संदेश है। त्रुटि का कारण इन दोनों के समाहार का प्रयत्न है। सिद्धराज में भी स्पष्टतः कई वृत्त हैं--१. सिद्धराज-रानकदे, २. अर्णोराज-कांचनदे, ३. सिद्धराज-मदनवर्मा। इन सबको एक में ही समाहित कर दिया गया है—किन्तु इनमें से किसी एक को भी केन्द्रिक घटना नहीं माना जा सकता। सभी का अपना विशेष महत्त्व है। अतः केन्द्रीभूत प्रभावशालिता का अभाव है जो कि निश्चित रूप से प्रबन्धकाव्य के लिए अपरिहार्य दोष है।

परिमाण

मैंने अभी निवेदन किया है कि खण्डकाव्य में कोई एक घटना आलिखित होती है। उसमें किसी महान् व्यक्ति के खण्ड-जीवन का, जीवन के एक ही पक्ष का चित्रण हुआ करता है। अतएव वह लघुकाय होता है—उसमें लघुता होनी चाहिए महाकाव्य की तुलना में। किन्तु लाघव और बार्हत्य सापेक्षिक शब्द है। इसलिए कोई पृष्ठ-संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती। फिर भी खण्डकाव्य के नाम से अभिहित की जाने वाली रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि उसका परिमाण ३५–४० पृष्ठ के आस-पास होना चाहिए। गुप्त जी के खण्डकाव्यों पर दृष्टिपात करें तो उनके परिमाण में हमें काफ़ी अन्तर मिलता है। गुरुकुल, सिद्धराज और अजित बहुत बड़े है तो अर्जन और विसर्जन बहुत छोटे ! वास्तव में अर्जन, विसर्जन आदि को खण्डकाव्य न कहकर कथात्मक कविता कहना अधिक संगत होगा। गुरुकुल, सिद्धराज और अजित को भी खण्डकाव्य नहीं मानना चाहिए—क्योंकि गुरुकुल में एक की नहीं अनेक व्यक्तियों की जीवन-घटनाएं वर्णित हैं और सिद्धराज एवं अजित में नायक से सम्बद्ध एक घटना का नहीं अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं का चित्रण है। इन तीनों को आचार्य विश्व-

---

१. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २२

नाथ द्वारा संकेतित एकार्थ काव्य माना जा सकता है जो कि महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच का काव्य-रूप है। उक्त रचनाओं के अतिरिक्त गुप्त जी के प्रायः सभी खण्डकाव्यों का परिमाण प्रचलित धारणाओं के अनुकूल ही है। मेरे विचार में परिमाण की दृष्टि से मैथिलीशरणकृत नहुष, वन-वैभव, वक-संहार, सैरन्ध्री, शक्ति और विकट भट आदि आदर्श खण्डकाव्य हैं।

मूल्यांकन

गुप्त जी के खण्डकाव्यों की वस्तु के पर्यवेक्षण से हमने देखा कि वे प्रायः शास्त्रानुसार किसी सदाशय महापुरुष के जीवन की एक घटना को ही अपनाते हैं। किन्तु उनकी प्रवृत्ति अत्यन्त प्रसिद्ध कथानकों की ओर है। प्रसंग एवं प्रकरण-गत वक्रता द्वारा वे उन्हें भी मौलिकता एवं रोचकता प्रदान कर देते हैं। किसी-किसी में तो मूल अथवा पूर्वरूप से भी अधिक रोचकता है। उदाहरणतः मैथिलीशरणकृत नहुष, हिडिम्बा, वक-संहार, पंचवटी आदि रचनाएँ तद्विषयक प्राचीन काव्यों से भी अधिक रोचक है। अपवाद है केवल शकुन्तला। रोचकता के साथ ही ये कथाएं यथेष्ट प्रभावक्षम हैं—इनमें वांछित संदेश के वाहन की सामर्थ्य है।—और मैथिलीशरण से सफल कथाकार की कृतियों में वस्तु-विन्यास का दोष तो कठिनता से ही उपलब्ध होता है, केवल रंग में भंग और सिद्धराज में कथा का विकास सर्वथा निर्दोष नहीं है। इनमें केन्द्रीकरण का अभाव है—एक साथ कई वृत्त जोड़ दिए गए हैं। वास्तव में रंग में भंग की वस्तु दो और सिद्धराज की कथा कम से कम तीन खण्डकाव्यों के लिए पर्याप्त थी। किन्तु मैं पहले ही कह चुका हूँ कि गुप्त जी रचना करते समय काव्य-रूप की चिन्ता नहीं करते—उनका ध्यान केवल विषय पर केन्द्रित रहता है। इसीलिए उक्त कृतियों में यह दोष आ गया है—अन्यथा कवि का प्रबन्ध-कौशल निर्विवाद है। गुरुकुल, सिद्धराज और अजित का विपुल परिमाण भी खटक सकता है। किन्तु मैं समझता हूँ कि 'एकार्थ काव्य' जैसी कोई विधा प्रचलित-प्रतिष्ठित न होने के कारण हम विवशतावश ही इन्हें खण्डकाव्य कह देते हैं। नहीं तो इनकी चित्रपटी की विशालता को देखते हुए इन्हें खण्डकाव्य मानना ही असंगत है।

अन्ततः निष्कर्ष यह कि गुप्त जी के खण्डकाव्यों की वस्तु प्रख्यात—किन्तु मौलिक एवं रोचक होती है। उसका विकास और संघटना भी प्रायः ठीक ही है। कुछ दोष भी हैं जो सर्वथा अकारण नहीं हैं।

चरित्र-चित्रण

किसी भी घटना का कर्त्ता अथवा भोक्ता चरित्र कहलाता है। यदि चरित्र है तो वह कुछ न कुछ करेगा ही, और यदि कोई घटना है तो निश्चित रूप से उसके करने या भोगने वाला कोई पात्र होगा। इस प्रकार वस्तु और चरित्र अन्योन्याश्रित हुआ करते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि खण्डकाव्य में चरित्र के एक अंश का ही प्रतिपादन होता है। उसमें कहानी एवं एकांकी के समान ही व्यक्तित्व की केवल एक झलक दिखाई जाती है फिर भी चरित्र-चित्रण खण्डकाव्य का अनिवार्य तत्त्व है।—और साथ ही आवश्यक है उस चित्रण में

मौलिकता। गुप्त जी के खण्डकाव्यों में कतिपय पात्र तो सर्वथा कल्पित, कुछ काव्य-जगत् के लिए अपरिचित किन्तु कुछ चिरपरिचित हैं। इन पूर्वपरिचित चरित्रों के चित्रण की बड़ी कठिन समस्या कवि के सामने रही होगी। पर हम देखते हैं कि पूर्वनिर्मित पात्रों का उसने बड़े कौशल से पुनर्निर्माण किया है। और इस पुनर्निर्मिति में मैथिलीशरण ने अनेक बातों का ध्यान रखा है।

पुनस्सृजन

मैथिलीशरणकृत खण्डकाव्यों के अधिकांश पात्र चिर-प्रसिद्ध हैं। वास्तव में काल्पनिक कथानकों एवं पात्रों की ओर गुप्त जी की रुचि नहीं है। प्राचीनता के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा है। अपनी बात भी, आज के युग की बात भी, वे उसी के माध्यम से कहना अधिक पसंद करते हैं। किन्तु वे अन्धानुकरण नहीं करते—चिरपरिचित चरित्रों का भी पुनस्स्पर्श एवं पुनर्निर्माण करते हैं। पुराने कवि ने उनका सृजन किया था अपने ढंग से, आज का कवि उनका पुनस्सृजन करता है अपने दृष्टिकोण से। पर इस पुनस्सर्जना की प्रक्रिया में कवि उनमें आमूलचूल परिवर्तन नहीं करता। तात्पर्य यह कि वह चरित्रों के प्रतिष्ठित रूप को वैसा ही रखते हुए उनका पुनर्निर्माण करता है, नव-निर्माण नहीं। हिडिम्बा, भीम, नहुष, सीता आदि के चरित्र मेरे इस कथन के साक्षी हैं। हिडिम्बा पर नारीसुलभ कोमलता एवं व्रीडा का आरोप करने पर भी वह राक्षसी ही है। नहुष को मानव की दुर्दम शक्ति का प्रतीक बनाकर भी कवि ने विषयी के रूप में ही प्रस्तुत किया है। सीता पर आधुनिक भाभी का रंग चढ़ जाने पर भी वे पूज्या हैं, आर्या है। महाभारत-वर्णित डींग मारने एवं नारी के समक्ष भुजदण्डों के अशोभन प्रदर्शन आदि के प्रसंगों को बचा लेने पर भी हिडिम्बा के भीम दृप्त साहसिक हैं।

स्वाभाविकता की रक्षा

इस पुनस्स्पर्श एवं पुनस्सृजन में मूल स्वर रहा है स्वाभाविकता। किसान, सिद्धराज, विकट भट, रंग में भंग आदि के पात्र तो वैसे ही मानव थे—किन्तु नहुष, वक-संहार, वन-वैभव, सैरन्ध्री, हिडिम्बा और पंचवटी के प्रायः सभी पात्र—कम से कम मुख्य पात्र तो अवश्य—अमानव अथवा अतिमानव थे। आज के पाठक और कवि को यही सर्वाधिक अखरता है। वे अतिमानवीयता में विश्वास नहीं करते। गुप्त जी भी उक्त रचनाओं के पात्रों से यथासम्भव अतिप्राकृत तत्त्व के निराकरण का, उनमें सहज मानवीयता की प्रतिष्ठा का प्रयास करते दृष्टिगत होते हैं। कुन्ती वकासुर के लिए भीम को भेजने की प्रतिज्ञा तो कर लेती है—किन्तु बाद में कर्त्तव्य की भीषणता से अभिज्ञ उनका सहज मातृ-हृदय रो उठता है। राक्षसी होने पर भी हिडिम्बा भीम की ओर आते हुए अपने भाई हिडिम्ब के विषय में महाभारत के समान अपशब्दों की झड़ी नहीं लगा देती। और पंचवटी के लक्ष्मण-सीता की विनोद-वार्ता, हास्य-व्यंग आदि में तो शुद्ध मानवीय पर सात्विक रोमांस का तारल्य है ही। इस प्रकार मैथिलीशरण जी पात्रों के प्रथित रूप की रक्षा करते हुए भी उनमें यथासंभव अकृत्रिम मानवीयता का समावेश करते हैं।

मुख्य पात्रों की श्रेष्ठता

वास्तव में मानवीय पात्र ही मनुष्य पर कुछ प्रभाव डाल सकते हैं। अलौकिक शक्तिसम्पन्न चरित्र पाठक को विस्मित भले ही कर दें—किन्तु वे उसे प्रभावित एवं प्रेरित नहीं कर सकते। —और मैं समझता हूँ यह प्रेरणा ही किसी कृति का लक्ष्य हुआ करती है। इसीलिए कविगण प्रमुख पात्र किसी विशिष्ट गुणसम्पन्न व्यक्ति को ही बनाते हैं। किन्तु खण्डकाव्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि नायक अथवा प्रमुख प्रात्र धीरोदात्त ही हो। और स्पष्ट शब्दों में खण्डकाव्य का प्रधान चरित्र द्वितीय श्रेणी का हुआ करता है—महाकाव्य के समान उदात्त नहीं। आलोच्य कवि के खण्डकाव्यों के मुख्य पात्र लक्ष्मण, द्रौपदी, सिद्धराज जयसिंह, सिक्ख गुरु, बालक सवाईसिंह, दुर्यंत आदि हैं। ये सब अपने-अपने कृत्यों के कारण प्रख्यात और इनके पावन चरित्र सद्भावना के उद्भावन में समर्थ हैं। अजित और किसान के पात्र अख्यातनामा—बल्कि काल्पनिक होने पर भी उक्त कर्त्तव्य का सफल सम्पादन करते हैं। इस प्रकार गुप्त जी अपने खण्डकाव्यों में मुख्य पात्र के रूप में श्रेष्ठ चरित्रों का ही चयन करते हैं। कभी-कभी नहुष और हिडिम्बा जैसे परम्परा से अभिशंसित व्यक्तियों को भी प्रमुखता दे देते हैं—किन्तु उनके चरित्र से उज्ज्वल पक्ष को ही प्रस्तुत करते हैं, कलुषित को नहीं। अभिप्राय यह कि वे भी रचना-विशेष में तो श्रेष्ठ ही होते हैं।

विचित्र उलझन

किन्तु गुप्त जी के खण्डकाव्यों का चरित्र-चित्रण सर्वथा निर्दोष नहीं है। उन्होंने पात्रों में से अमानवीयता एवं अस्वाभाविकता के निराकरण का प्रयत्न किया है--लेकिन इस प्रयास में ही बहुत से चरित्र उलझ गए हैं। पंचवटी के लक्ष्मण एक ओर तो मातृ-तुल्य सीता के चरण-स्पर्श करते हैं और दूसरी ओर भाभी पर व्यंग करने वाले आधुनिक देवर बन जाते हैं—

> **पंचायत करने आई थी**
> **अब प्रपंच में क्यों न पड़ो**[1]

तन्वंगी शूर्पणखा भी अपना प्रस्ताव अस्वीकृत होने पर 'विकट विकराल' रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार हिडिम्बा को मानवी के रूप में[2] प्रस्तुत करके भी कवि उसमें अलौकिक शक्ति की प्रतिष्ठा करता है--

> **भार नहीं हूंगी मैं तुम्हारे भीम के लिए**
> **विचरूँगी व्योम में भी उनको लिये-दिये।**[3]

इस असंगति के निराकरण के लिए यद्यपि कवि ने स्वयं हिडिम्बा से कहलाया है--

१. **पंचवटी, इकतीसवाँ संस्करण, पृष्ठ ५३**

२. **हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३**

३. ,, ,, ,, . **पृष्ठ ४३**

यातुधानी हूँ न, योग रखती हूँ माया का ![1]

फिर भी पाठक का परितोष नहीं होता। सैरन्ध्री में सुदेष्णा का चरित्र भी ऐसे ही उलझा हुआ है। कीचक के द्रौपदी के लिए प्रस्ताव करने पर वह उसे धिक्कारती है—किन्तु अगले ही दिन स्वयं द्रौपदी को कीचक के निवास स्थान पर चित्र पहुँचाने के लिए बाध्य करती है।—और फिर भाई के लिए बहन का ऐसा अशोभन कृत्य वैसे भी चिन्तनीय है।

इनके अतिरिक्त सिद्धराज के चरित्र-चित्रण में एक और ही दोष आ गया है। वह यह कि सिद्धराज जयसिंह के व्यक्तित्व का अन्तिम प्रभाव अमिश्रित नहीं है—अस्पष्ट और धूमिल है। यद्यपि वे नायक हैं और कवि की—साथ ही पाठक की भी—सहानुभूति उनके प्रति बराबर बनी रहती है। फिर भी राणा खंगार, जगद्देव, अर्णोराज और महाराज मदन वर्मा के चरित्र उनसे कहीं अधिक उज्ज्वल हैं। परिणामतः पुस्तक की समाप्ति पर पाठक को पश्चात्ताप होता है अपनी भ्रान्ति पर ! हमारी सम्मति में यह चरित्र-चित्रण का एक बहुत बड़ा दोष है।

निष्कर्ष यह कि गुप्त जी चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता का विशेष ध्यान रखते हैं। किन्तु उनके अधिकांश पात्र अमानवीय अथवा अतिमानवीय रूप में प्रसिद्ध हैं, अतः उनको मानवीय रंग देने में वे कहीं-कहीं उलझ भी जाते हैं।

रस-संचार

सरसता काव्य की अनिवार्य आवश्यकता है। सौरस्य का ही दूसरा नाम काव्यानन्द है। आनन्द-प्राप्ति के लिए मनुष्य ने आज तक जितने भी प्रयत्न किए हैं, काव्य उनमें सर्वाधिक मधुर और सूक्ष्म है। उसका संदेश चाहे कुछ भी हो—किन्तु विधि आनन्दमयी अथवा रसपूर्ण होनी चाहिए। वास्तव में औदात्य भी आनन्द-रूप रस से भिन्न नहीं है। दो-एक को छोड़कर गुप्त जी के सभी खण्डकाव्य रस-दीप्त हैं। आकार में संक्षिप्त होने के कारण उनमें कहीं भी उनके महाकाव्यों के समान आवेग में परिक्षीणता अतएव नीरसता नहीं आने पाई है। साहित्याचार्यों ने नवरस माने हैं। मैथिलीशरण अपने खण्डकाव्यों में उनमें से वीर को प्राधान्य देते हैं।—और वह वीर प्रायः युद्धवीर ही है। उसमें रिपुदमन का उत्साह है, घोर गर्जनाएं तथा गर्वोक्तियां हैं और है शस्त्रों की खनखनाहट। 'शक्ति' से एक उदाहरण लीजिए—

गरजी अट्टहास कर अम्बा देख ठट्ट के ठट्ट ;
दहल उठे जलथल अम्बरतल घटा विकट संघट्ट ![2]

यह वीर स्थान-स्थान पर अन्य रसों से पुष्ट है—शृङ्गार, करुण और शान्त भी यथावसर आते हैं। कतिपय रचनाओं में तो शृंगार एवं करुण मुख्य रस के रूप में भी गृहीत हैं। भयानक तथा रौद्र को भी वीर के सहायक-रूप में अपना लिया जाता है—किन्तु वीभत्स-चित्रण की ओर हमारे कवि की रुचि नहीं है। हास्य भी बहुत कम है पर है

---

१. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १५

२. शक्ति, संस्करण संवत् १९८४, पृष्ठ १२

अवश्य—पंचवटी और हिडिम्बा में शिष्ट हास्य के उदाहरण मिल सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी अपने खण्डकाव्यों में सभी रसों को ग्रहण करते हैं—किन्तु मुख्यता वीर, शृंगार अथवा करुण को ही देते हैं। उत्तरकालीन रचनाओं में शान्त को भी प्रामुख्य मिला है। वास्तव में जीवन की अधिक उपयोगी एवं उदात्त वृत्तियों से संबद्ध भी यही रस हैं।

विविध विषय-वर्णन

सम्पूर्ण मानव जीवन के विश्लेषक महाकाव्य के लिए अनेक नियम बनाए गए हैं। उसमें मानव जीवन और वस्तु-जगत् का विशद चित्रण अनिवार्य माना गया है। किन्तु खण्डकाव्य 'एक देशानुसारि' होता है अतः उसमें जीवन और जगत् का सीमित विवरण वरन् उसके एक ही अंश का अंकन हो सकता है। मैथिलीशरण मानवीय सम्बन्धों के प्रख्यात कवि हैं फलतः उनके काव्य में जीवन का कुशल वर्णन हुआ है। पर मानव और मानवीय में अटल विश्वास होने पर भी वे वस्तु-जगत् में रम नहीं पाए हैं। और स्पष्ट शब्दों में गुप्त जी के खण्डकाव्यों में मानव और मानवीय सम्बन्धों—मानव के पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन का चित्रण तो है किन्तु मानवेतर सृष्टि अथवा प्रकृति का वर्णन अपेक्षाकृत कम है—क्योंकि प्रकृति-सौंदर्य में उनके लिए कोई आकर्षण नहीं है। अतः प्रकृति-चित्रण अधिकांशतः अलंकरण सामग्री के रूप में या फिर परिस्थिति-द्योतन के लिए हुआ है। हिडिम्बा से एक उदाहरण लीजिए : तमसावृत सायंकाल का दृश्य है—

सांझ को ही रात हुई उनको गहन में
धारे गगनस्थली ने तारे रत्न चुनके[1]

किन्तु अगली पंक्ति में ही हिडिम्बा के आने की सूचना दे दी जाती है—

चमके वे नूपुरों की रुनझुन सुन के
सुन पड़ी राग की नई सी टेक उनको
दीख पड़ी सुन्दरी समक्ष एक उनको[2]

अतः संध्या का उक्त दृश्य केवल भावी घटना के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि के लिए आता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि के मन में प्रकृति के लिए अनुराग नहीं है। फिर भी प्रयास करने पर दो-चार अच्छे प्रकृति-चित्र मिल सकते हैं—विशेषतः पंचवटी और वन-वैभव में। पंचवटी के तो पहले ही छन्द में प्रकृति का मधुर-कोमल एवं रस-दीप्त चित्र है—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से,
मानो झींम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोंकों से॥[3]

---

१. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२
२. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२
३. पंचवटी, इकतीसवां संस्करण, पृष्ठ ५

यद्यपि यह भी वर्णनीय घटना का पूर्वाभास ही है तो भी इसमें अद्भुत भास्वरता है। मैं समझता हूँ कि इन पंक्तियों के प्रणयन के समय कवि कथा को भूलकर वृक्षों के समान ही स्वयं भी 'झीम' उठा होगा। इसीलिए अग्रिम घटना की पृष्ठभूमि के रूप में गृहीत होने पर भी इनका स्वतन्त्र महत्त्व हो गया है। क्योंकि यहाँ पर चन्द्रिका-स्नात शुभ्र रात्रि के उज्ज्वल चित्र के स्पर्श से उत्थित कवि-हृदय की सौंदर्यानुभूति की सहजाभिव्यक्ति हुई है। अस्तु !

मानव जीवन के सभी—पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक पक्षों का अंकन किसी एक ही खण्डकाव्य में मिलना कठिन है। क्योंकि उसके संक्षिप्त-सीमित कलेवर में यह संभव नहीं है। फिर भी कवि की अपेक्षाकृत बड़ी रचनाओं में यत्किंचित् ऐसा हुआ है। सिद्धराज में महाराज जयसिंह के पारिवारिक एवं राजनैतिक जीवन का वर्णन है। गुरुकुल में सिक्ख गुरुओं के पारिवारिक जीवन का तो नहीं पर उस समय की सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों का सफल अंकन हुआ है। अजित में भी पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सभी दशाएँ प्रदर्शित हैं—किन्तु उनमें महाकाव्य जैसी विराट्ता और भव्यता का अभाव है। काराबद्ध अजित के स्मृति-रूप में गार्हस्थ्य का सुख-सरल चित्र देखिए—

कढ़ी-भात के साथ दाल रोटी वह घर की,
वह बघार की सौंध, कौंधती टिकुली-तरकी।
वह कांसे का थाल, फूल के भरे कटोरे,
आगे धरते हुए हाथ वे गोरे गोरे।
खीर खांड पर शुद्ध सद्द घृत धार बरसना,
'बस बस बस' पर कान न धर कुछ और परसना[1]

कितना सहज और अनुभूतिगम्य विवरण है।

लघुतर रचनाओं में भी कवि यथावसर मानव जीवन के विभिन्न पक्षों का आलेखन करता है। रंग में भंग में उद्वाह-सज्जा और युद्ध है, जयद्रथ-वध में वीर कृत्यों के साथ-साथ सती-विलाप और पुत्र-शोक वर्णित हैं। पंचवटी में देवर-भाभी का हास्य-विनोद है तो सैरन्ध्री में परदारिक के छल-छन्द। वक-संहार में ब्राह्मण परिवार की सुख-शान्ति-मयी सद्गृहस्थी चित्रित है तो वन-वैभव में ईर्ष्यादग्ध दुर्योधन की कपट-यात्रा का उल्लेख है। शक्ति में देवासुर-संग्राम है और विकट भट में राजपूतों का वृथा युद्ध। हिडिम्बा में प्रख्यात पाण्डु-पुत्रों का वन-भ्रमण है तो किसान में अख्यात कृषक दम्पति का देश-निर्गमन। अन्यान्य कृतियों में भी जीवन के किसी न किसी पार्श्व का निदर्शन है। सब मिलाकर गुप्त जी के खण्डकाव्यों में हमें मानव जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण मिलेगा। उनका दृष्टिपथ विस्तृत और ग्रहण-क्षमता सदा ही उदार रही है।

सर्जना का लक्ष्य

मैंने एक स्थान पर आनन्द की बात कही है पर कोरा आनन्द अथवा सत्प्रेरणाविहीन

---

१. अजित, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२

आनन्द काव्य का उद्देश्य नहीं है। वस्तुतः आनन्द तो विधि है—उपलक्ष्य मात्र है। लक्ष्य हुआ करता है किसी महत् संदेश की परिव्यक्ति। गुप्त जी के सभी खण्डकाव्य सोद्देश्य हैं। शकुन्तला को छोड़कर शेष सभी का काम्य किसी न किसी प्रकार के—नैतिक, सांस्कृतिक अथवा राष्ट्रीय आदर्श की स्थापना है। शकुन्तला का 'निषेवण' तो 'प्रीति' मात्र के लिए हुआ है—किन्तु शेष रचनाओं में कोई न कोई शिक्षा सन्निहित है। रंग में भंग में अतिरिक्त मानापमान भावना का दोष, जयद्रथ-वध में पापकर्मा का भीषण अन्त, पंचवटी में अतृप्त वासना एवं स्वेच्छाचारिता का कुपरिणाम, सैरन्ध्री में परदारित्व का दुष्परिणाम प्रदर्शित है। जिससे कि पाठक के मन में उक्त कृत्यों के प्रति घृणा उद्भूत हो। शक्ति में 'संघे शक्तिः कलौ युगे', वन-वैभव में 'पंचशताः वयम्' का महत्त्व—और वक-संहार में प्रेम पर कर्त्तव्य की तथा विकट भट में जीवन-लालसा पर मर्यादा-रक्षण की श्रेष्ठता की व्यंजना हुई है। गुरुकुल और सिद्धराज में पारस्परिक कलह तथा अजित में हिंसात्मक प्रवृत्तियां अभिशंसित हैं। किसान एवं काबा और कर्बला का कारुण्य मनुष्य की परुष वृत्तियों को कोमल बनाता है। अर्जन और विसर्जन में से 'अर्जन' में अधर्म द्वारा अर्जित वैभव के दूषण का प्रदर्शन है तो 'विसर्जन' में पराधीनता का अभिशाप लानेवाली विभूति के नाश का परामर्श दिया गया है। हिडिम्बा का साध्य है वर्ग-चेतना के परित्याग की भावना जागृत करना।—और नहुष का प्रतिपाद्य मानव की अदम्य शक्ति—पतन में भी उत्थान का विश्वास है। यह काव्य निश्चित रूप से चिर पतितों को भी उन्नयन के लिए उत्प्रेरित करता है। इस प्रकार इन रचनाओं में नैतिक और राष्ट्रीय आदर्शों की स्थापना हुई है। मैथिलीशरण जी परम्परा से अविच्छिन्न संस्कृति की धारा को अपने खण्डकाव्यों में प्रवाहित करते रहे हैं। किन्तु उसकी आत्मा की रक्षा करते हुए भी वे उसमें युगानुरूप संशोधन प्रस्तुत कर देते हैं।

निष्कर्ष यह कि गुप्त जी निरुद्देश्य रचना में विश्वास नहीं करते। और यदि शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो मैं समझता हूँ कि उक्त सभी रचनाओं का 'फल' धर्म है।

शैली

खण्डकाव्य की शैली के विषय में कोई स्थिर सिद्धान्त अथवा निश्चित नियम नहीं है। किन्तु किसी भी कृति के वांछित प्रभाव के लिए यह आवश्यक है कि उसकी शैली शील के अनुरूप ही हो। क्योंकि उपयुक्त माध्यम के बिना महिमामण्डित प्रतिपाद्य भी पंगु रह जाता है। पर यह कवि शैली की विशेष चिन्ता नहीं करता। इसीलिए उसकी बड़ी रचनाओं—साकेत और जय भारत—में शैली-वैषम्य है। किन्तु खण्डकाव्य अपेक्षाकृत छोटा होता है फलतः गुप्त जी सरीखे शैली-निरपेक्ष कवि की रचनाओं में भी आद्यंत वेग की स्थिरता है—शैली में साम्य है। यद्यपि आरम्भकालीन कृतियों में अभिधा-प्रधान व्यस्त और परवर्ती में व्यंजना-पूर्ण समस्त शैली प्रयुक्त है, फिर भी रचना-विशेष में प्रारम्भ से अन्त तक शैली का एक ही स्तर है—वैषम्य नहीं।

गुप्त जी की शैली अनेक स्थलों पर—विशेषतः आरम्भिक खण्डकाव्यों में कान्तिहीन और अनगढ़ है। इस दिशा में वे अपने युग के भी अनेक कवियों से पीछे हैं—किन्तु यह

उनकी अनिवार्य त्रुटि है। क्योंकि वे प्रायः ऐतिहासिक-पौराणिक विषय अपनाते हैं अतएव उसका वाहन भी अपेक्षाकृत प्राचीन ही है। वास्तव में मैथिलीशरण प्राचीन और अर्वाचीन के बीच का सेतुमार्ग हैं। यही बात उनकी शैली के विषय में भी सत्य है। उसमें प्राचीन इतिवृत्तमयी शैली और नवीन नाटकीयता दोनों का सम्मिश्रण है। काव्य का कलेवर संक्षिप्त होने के कारण उसमें महाकाव्यों की शैली का शैथिल्य नहीं आने पाया।—परवर्ती काव्यों में लघुकथा के नवीन चमत्कार भी यथास्थान प्रयुक्त हुए हैं।

खण्डकाव्यकार मैथिलीशरण की सिद्धि

सर्वप्रथम तो १६ खण्डकाव्यों का प्रणयन ही अपने आप में बहुत बड़ी सिद्धि है। संस्कृत-हिन्दी के किसी भी कवि ने आज तक इतने खण्डकाव्यों का निर्माण नहीं किया है। दूसरे उन्होंने इनमें एक-एक करके भारतीय जीवन के सभी पक्षों का निरूपण कर दिया है। मैथिलीशरण के अतिरिक्त जीवन को प्रायः समग्र रूप में उपस्थित करनेवाला कोई भी खण्डकाव्यकार आपको हिन्दी में नहीं मिलेगा। दो-एक को छोड़कर शेष की शैली अवश्य 'ईवन' नहीं है। फिर भी वे अपने अखण्डित मानव-तत्व, धाराप्रवाह वर्णना-शक्ति एवं सुख-सरल शैली के मणि-कांचन संयोग के बल पर गौरवास्पद पद के अधिकारी हैं। वास्तव में गुप्त जी मूलतः कथाकार-कवि हैं—यह उनका सिद्ध विषय है।

प्रगीतकार मैथिलीशरण गुप्त

गीतिकाव्य का स्वरूप और परिभाषा

काव्य की वह विधा जिसमें विषय की अपेक्षा विषयी की प्रमुखता होती है प्रगीत अथवा गीति-काव्य के नाम से अभिहित की जाती है। जो कवि स्वनिरपेक्ष क्रियाकलाप एवं अनुभवों को छन्दोबद्ध करता है उसकी कविता वस्तुगत और जो अपने ही विचारों, भावनाओं और कल्पनाओं को वाणी प्रदान करता है उसकी कविता व्यक्तिपरक कहलाती है। इस व्यक्तिपरक कविता का ही नामान्तर प्रगीत है। अभिप्राय यह कि प्रगीत प्रबन्ध की भाँति वस्तुपरक न होकर व्यक्तिगत होता है। उसमें वैयक्तिकता का—व्यक्ति के, विषयी के अपने सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, प्रेम-कलह, क्षोभ-क्रोध आदि की परिव्यक्ति होती है। उदाहरणतः शेक्सपियर और मिल्टन के सॉनेट तथा सूर, तुलसी और मीरा के पद प्रगीत हैं क्योंकि उनमें रचयिता के अपने हृदय का स्पन्दन है—अपने मन का गायन और क्रन्दन है। इसके विपरीत होमर का इलियड, चन्दवरदाई का पृथ्वीराज रासो और तुलसीकृत रामचरितमानस वस्तुगत हैं—क्योंकि उनमें ऐतिहासिक अथवा अनैतिहासिक व्यक्तियों तथा घटनाओं का वर्णन हुआ है। और लेखक की अपनी आत्मा का अभिव्यंजन बहुत कम है अथवा प्रत्यक्ष नहीं है।

आत्माभिव्यंजन अथवा निजी रागात्मकता प्रगीत का अनिवार्य गुण है, और यह रागात्मकता अत्यन्त तीव्र होनी चाहिए। इसीलिए संसार के अधिकांश प्रगीत आकार में संक्षिप्त हैं। कारण स्पष्ट है—आवेश केवल कुछ क्षण के लिए ठहरता है। लम्बे प्रगीतों में प्रणेता को काल्पनिक आवेश की सृष्टि करनी पड़ती है—यह एक अपरिहार्य दोष है। वास्तव में प्रगीत जीवन के उन उद्दीप्त क्षणों की रचना होते हैं जबकि घनीभूत भावना के वेग को उद्वेलित जलौघ के समान प्रतिबद्ध नहीं किया जा सकता।—और वह संगीत लहरी में स्वतः फूट उठता है। प्रगीत अथवा गीतिकाव्य की परिभाषा सुश्री महादेवी के शब्दों में इस प्रकार की जा सकती है—"साधारणतः गीतिकाव्य व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुखदुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"[1]

मुक्तक और प्रगीत

पूर्वापर सम्बन्ध-विहीन पद्यों को मुक्तक कहते हैं। प्रायः गेय मुक्तक को प्रगीत कह दिया जाता है। किन्तु यह विचार भ्रामक है। यदि गेयता को ही कसौटी मानें तो प्रत्येक मुक्तक प्रगीत हो जाएगा। क्योंकि मुक्तक छन्दोबद्ध होता है।—और प्रत्येक छन्द में न्यूनाधिक मात्रा में गेयता का आग्रह रहता ही है। हम प्रायः देखते हैं कि लोग नीति, शृंगार आदि विषयों के मुक्तकों को सस्वर गाते हैं। मुक्तकों में ही नहीं प्रबन्धों में भी गेयता है, वाल्मीकीय रामायण का तो गेय होना प्रसिद्ध ही है—लव-कुश ने राम के समक्ष उसे गाया था। तुलसी के रामचरितमानस की चौपाइयों को भी लोग बड़े माधुर्य से गाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि गेयता को मुक्तक और प्रगीत के भेदीकरण का आधार नहीं माना जा सकता। वास्तव में अन्तर इन दोनों में यह है कि मुक्तक में विषय की और प्रगीत में विषयी की प्रमुखता होती है। दूसरे मुक्तक तो छन्द की इकाई मात्र हैं—किन्तु प्रगीत में आद्यंत एक ही अनुभूति के अनुस्यूत रहने के कारण उसके विभिन्न खण्ड सम्बद्ध अथवा अन्वित रहते हैं। तीसरे मुक्तक का प्रणयन स्थिर-शान्त दशा में किन्तु प्रगीत की रचना भावाविष्ट स्थिति में होती है। अतएव पहले में तर्क-सम्मत बात होती है पर दूसरे में तर्क-वितर्क की गुंजाइश नहीं होती। इसी कारण मुक्तक में छन्द का सयत्न निर्वाह किया जा सकता है—और किया जाता है। पर प्रगीत इस बन्धन से मुक्त है, उस पर प्रतिबन्ध है केवल लय का। अभिप्राय यह कि प्रगीत की संगीतात्मकता मुक्तक के समान छन्द-व्यवस्था से आरोपित नहीं वरन् स्वतः उद्भूत है—प्रगीत-रचना की प्रक्रिया में ही अन्तर्निहित है।

गीत और प्रगीत

सामान्यतः गीत और प्रगीत को पर्यायवाची माना जाता है पर इनमें सूक्ष्म भेद है। गीत में संगीत का, स्वर-ताल के संगीत का विशेष ध्यान रखा जाता है किन्तु प्रगीत का स्वयं उसकी पदावली से ही समुद्भूत होना चाहिए। और स्पष्ट शब्दों में प्रगीत का संगीत

---

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १४७

ग्रान्तरिक होता है। किन्तु गीत पद का पर्याय है जो मूलतः गेय होता है—उसका संगीत ग्रान्तरिक भी होता है ग्रौर बाह्य भी। मूलभावना का ग्रन्तर दोनों में नहीं है।

मूल तत्त्व

प्रत्येक विधा के ग्रपने विशेष गुण होते हैं। उन्हीं के ग्रनुसार उनके तत्त्व भी हुग्रा करते हैं। प्रगीत काव्य की भी कुछ ग्रपनी विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख पहले ही हो चुका है। यहाँ पर संक्षेप में, उसके मूल तत्त्वों का निरूपण करता हूँ :

१. वैयक्तिकता

सर्वप्रथम तो प्रगीत काव्य में व्यक्तितत्त्व का प्राधान्य होना चाहिए। उसमें प्रणेता की ग्रपनी ग्राशा-निराशा, क्षोभ-उत्साह, लज्जा-ग्लानि ग्रादि का ग्रालेखन होना चाहिए। ग्रपने का ग्रभिप्राय कोई ग्रप्रेषणीय वैचित्र्य नहीं है वरन् उसमें स्वानुभूति का प्रामुख्य होना चाहिए। वास्तव में मानव हृदय के मूलतत्त्व एक ही होते हैं—कवि ग्रौर ग्रध्येता का हर्ष-विषाद भिन्न नहीं हो सकते। ग्रतः वैयक्तिकता का तात्पर्य यहाँ निजी रागात्मकता है।

२. ग्रावेग-दीप्ति

प्रगीत किसी विशिष्ट मनोदशा का उच्छलन हुग्रा करता है। वह जीवन के उन महत्त्वपूर्ण क्षणों की रचना होता है जब किसी तीव्र मनोवेश से कवि की चेतना ग्रन्तर्मुखी हो जाती है। उस समय का भावाविष्ट ग्रावेग ही प्रगीत में लेखनी-बद्ध होना चाहिए।

३. हार्दिकता

प्रगीत काव्य में ग्रावेश होता है—किन्तु यह ग्रावेश वास्तविक होना चाहिए, काल्पनिक नहीं। उसके पीछे सहज ग्रन्तःप्रेरणा ग्रावश्यक है। इसके विपरीत यदि वास्तविक ग्रावेश के ग्रभाव में कवि कल्पना से उसकी सृष्टि करके प्रगीत-रचना करेगा तो वहीं कृत्रिमता ग्रा जाएगी।—ग्रौर यह प्रगीत में एक दोष होगा। इसलिए प्रगीत काव्य में हार्दिक ग्रनुभूति की, निश्छल भावना की ग्रभिव्यक्ति होनी चाहिए।

४. रागात्मक ग्रन्विति

वह एक ही मूलभाव से ग्रनुप्राणित होना चाहिए। उसकी विभिन्न पंक्तियाँ मूलतः एक ही भाव से संबद्ध होनी चाहिएँ। प्रगीत में 'विविधता रहती है किन्तु वह प्रायः एक ही केन्द्रीय भाव की पुष्टि के लिए होती है।'[1] ग्रभिप्राय यह कि सम्पूर्ण प्रगीत में, उसके विभिन्न खण्डों में एक ही वृत्ति एकतार ग्रनुस्यूत रहनी चाहिए।

५. संगीतात्मकता

प्रगीत काव्य का संगीतात्मक होना भी ग्रावश्यक है। संगीतात्मकता से स्वर-ताल का संगीत ग्रभिप्रेत नहीं है—वह तो साधारण गेय मुक्तकों में भी मिल जाएगा। किन्तु प्रगीत में कोमल-कान्त पदावली, सुचारु शब्द-संगुम्फन, ग्रक्षर-मैत्री, वर्ण-मैत्री ग्रादि द्वारा साध्य शब्द-संगीत ग्रपेक्षित है।

---

१. **काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १२१**

६. प्रवाह

प्रगीत की शैली प्रवाहमयी एवं तरल होनी चाहिए जो कि आवेश के ग्रहण और चित्त की द्रुति में समर्थ हो।

प्रगीतों के प्रकार

प्रेरक भावना अथवा विषय एवं अभिव्यंजन-प्रणाली के अनुसार प्रगीत काव्य के अनेक भेद किए जा सकते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में यह निवेदन करना आवश्यक है कि साहित्य के क्षेत्र में कोई भी वर्गीकरण अन्तिम एवं आत्यन्तिक नहीं हुआ करता। प्रगीत काव्य के भी किन्हीं दो प्रकारों के बीच ऐकान्तिक सीमा-रेखा खींचना संभव नहीं। वास्तव में एक के तत्त्व दूसरे में घुले-मिले रहते हैं। फिर भी वर्गीकरण की अपनी उपादेयता है—अध्ययन की सुविधा के लिए वह आवश्यक है, अस्तु !

विषय की दृष्टि से प्रगीतों के निम्नलिखित प्रकार हो सकते हैं—

१. रहस्यवादी　　२. भक्तिपरक　　३. राष्ट्रीय
४. प्रेम-सम्बन्धी　　५. शोक-सम्बन्धी　　६. विचारात्मक
७. व्यंग्यात्मक　　८. नीतिपरक अथवा उपदेशात्मक

रूप की दृष्टि से प्रगीत काव्य के संबोधन-प्रगीत और चतुर्दशपदी आदि भेद किए जा सकते हैं। अंग्रेजी साहित्य में पिछले दोनों प्रकार क्रमशः ओड (Ode) और सॉनेट(Sonnet) के नाम से बहुत प्रचलित हैं।

गुप्त जी के प्रगीत

मैथिलीशरण जी ने प्रायः सभी प्रकार के प्रगीत लिखे हैं। यद्यपि वे मूलतः प्रबन्ध-कवि हैं या मुख्यतः प्रबन्धकार हैं फिर भी उन्होंने प्रचुर मात्रा में प्रगीत काव्य का प्रणयन किया है। उनके प्रबन्धों तक में प्रगीत मिल सकते हैं—साकेत और यशोधरा में वे मणियों के समान जड़े हुए हैं। कुणाल-गीत प्रबन्ध-रचना है और अनघ नाटक है पर दोनों ही प्रगीतों से परिपूर्ण हैं। इसी प्रकार भारत-भारती, हिन्दू तथा स्वदेश-संगीत मुक्तकों के अन्तर्गत आते हैं फिर भी उनमें अनेक प्रगीत मिल जाएँगे। वैतालिक, झंकार, विश्व-वेदना तथा अंजलि और अर्घ्य स्पष्टतः प्रगीत काव्य हैं ही।

मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि गुप्त जी ने प्रायः सभी प्रकार के प्रगीतों की रचना की है। झंकार में रहस्यवादी और भक्तिपरक प्रगीत संकलित हैं तो भारत-भारती, स्वदेश-संगीत और साकेत में राष्ट्रीय प्रगीत मिल सकते हैं। प्रेम-सम्बन्धी प्रगीत साकेत और यशोधरा में हैं तो शोक-सम्बन्धी अंजलि और अर्घ्य में। हिन्दू, भारत-भारती, विश्व-वेदना, कुणाल-गीत और यशोधरा आदि में विचारात्मक प्रगीत पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं। और उपदेशात्मक अथवा नीतिपरक तो सभी रचनाओं में प्रकीर्ण हैं। हाँ, व्यंग्यात्मक प्रगीत गुप्त जी ने कम लिखे हैं। प्रयास करने पर भारत-भारती, हिन्दू और विश्व-वेदना में दो चार मिल सकते हैं। रूप की दृष्टि से किए गए प्रगीत काव्य के प्रकारों में से हमारे कवि ने संबोधन-प्रगीत ही लिखे हैं। भारत-भारती, हिन्दू, कुणाल-गीत और यशोधरा में वे पुष्कल

परिमाण में उपलब्ध हैं। वैसे लिखी तो चतुर्दशपदियाँ भी हैं पर उनकी संख्या नगण्य है।

नवीन रूप-प्रकार

'वैतालिक' को पूर्वोक्त किसी भी प्रकार के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। उसमें २६ पृष्ठ का एक ही लम्बा प्रगीत है; और वह अपनी तरह का अकेला ही है। उसमें संबोधन-प्रगीत का आभास है—किन्तु वह संबोधन-प्रगीत नहीं है। वह किसी को भी संबोधित करके नहीं लिखा गया। वैतालिक की प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिए—

श्रीरवि-कुल-मणि रघुनायक,
तुमको रहें दीप्तिदायक।
श्रीसीता, धन-धान्य भरें,
उर्वर कर्म्म-क्षेत्र करें॥
नई पौ फटी, रात कटी,
तम की अन्तर-पटी हटी।
उठो, उठो, बोलो, बोलो,
खोलो मनोद्वार खोलो॥[1]

यहाँ संबोधन के स्थान पर आशीर्वादात्मक मंगलाचरण के पश्चात् जागरण की प्रेरणा दी जा रही है। वैतालिक में नीतिपरता भी है—

त्याग, त्याग पर वह किसका ?
प्रथम प्राप्त तो हो जिसका
प्राप्त करो तब त्याग करो,
समुचित कर्म-विभाग करो॥[2]

किन्तु आगे चलकर कवि अपना स्वर बदल लेता है—

पुरुषोत्तम के अंशज हो,
उन ऋषियों के वंशज हो—
प्रकट हुई जिनके द्वारा
विश्व-धर्म की ध्रुव धारा॥[3]

इस प्रकार वैतालिक न संबोधनात्मक है और न शुद्ध उपदेशात्मक। सर्वांशेन दृष्टिपात करने पर उसमें सुषुप्तों को जागरण का सन्देश दिया गया है—उनके उद्‌बोधन का प्रयत्न है। मैं समझता हूँ कि पुस्तक का नाम—'वैतालिक' भी मेरे मत की पुष्टि करता है। वैतालिक वे लोग होते थे जो स्तुतिपाठ करके प्रातःकाल राजाओं को जगाया करते थे। उनका कर्त्तव्य न तो संबोधनात्मक गान था—और न ही उपदेश-दान। वे जागरण का सन्देश

---

१. वैतालिक, संस्करण संवत् २००८, पृष्ठ ५
२. " " " ", पृष्ठ १७
३. " " " ", पृष्ठ २४

देते थे या फिर कर्म की प्रेरणा। और स्पष्ट शब्दों में वे उन्हें उद्‌बुद्ध करते थे। यही मैथिलीशरणकृत वैतालिक में हुआ है। अतः मेरी विनम्र सम्मति में वैतालिक को प्रगीत काव्य के पूर्वनिर्दिष्ट किसी भी प्रकार के अन्तर्गत न रखकर उद्‌बोधनात्मक प्रगीत कहना चाहिए।

गुप्त जी के प्रगीत काव्य का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। अब आगे प्रत्येक वर्ग के प्रगीतों का विवेचन किया जाएगा।

राष्ट्रीय प्रगीत

अपने देश और देशवासियों के प्रति मानव मात्र में अनुराग होता है। इसीलिए वह उन्हें बन्धनयुक्त नहीं देख सकता—उनके दारुण दुःख को सोत्साह दूर करने का प्रयत्न करता है। यही राष्ट्रीयता है—उसके मूल में मातृभूमि का अनुराग और दुःख-नाश का उत्साह है। योद्धाओं की राष्ट्रीयता शस्त्रों द्वारा प्रकट होती है—किन्तु कवियों की प्रगीतों द्वारा। सभी देशों के कवियों ने राष्ट्रीय प्रगीत लिखे हैं। मैथिलीशरण की तो प्रसिद्धि का कारण ही उनकी राष्ट्रीयता है। आज वे अपने राष्ट्रीय प्रगीतों के बल पर ही राष्ट्रकवि की पदवी से अलंकृत हैं। गुप्त जी की भारत-भारती, स्वदेश-संगीत तथा पद्यप्रबन्ध राष्ट्रीय प्रगीतों से परिपूर्ण हैं। भारत-भारती के तीनों—अतीत, वर्तमान और भविष्यत् खण्डों में देश की ही दशा आलिखित है। उसमें अपने देश की श्रेष्ठता का प्रतिपादन, पूर्वजों का गौरव-गान तथा प्राचीनों की उदात्त वीरता का बखान बड़ी श्रद्धा, भक्ति और तन्मयता से हुआ है। कितने विश्वास के साथ मैथिलीशरण आत्मगौरव का वर्णन करते हैं—

> **भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला स्थल कहां ?**
> **फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।**
> **सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?**
> **उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है ॥**[1]

यहाँ व्यक्तितत्व के अभाव की शंका हो सकती है—किन्तु ये पंक्तियाँ कवि के हृदय-रस से सिक्त हैं, उसकी अपनी दृष्टि से दृष्ट हैं और अपने अनुराग से सराबोर हैं। यह उद्धरण तो अतीत खण्ड का है। वर्तमान खण्ड में भी राष्ट्रीय भावना के ही दर्शन होते हैं। वहाँ कवि की करुणा उमड़ पड़ी है।—और भविष्यत् खण्ड में एक आदर्श एवं मनोरम भारत की कल्पना एवं कामना की गई है। अन्तिम 'विनय' की प्रेरक भी भक्ति न होकर राष्ट्रीयता ही है—

> **इस देश को हे दीनबन्धो ! आप फिर अपनाइए,**
> **भगवान् ! भारतवर्ष को फिर पुण्य भूमि बनाइए।**
> **जड़-तुल्य जीवन आज इसका विघ्न-बाधा पूर्ण है,**
> **हेरम्ब ! अब अवलम्ब देकर विघ्नहर कहलाइए ॥**[2]

देश-प्रेमी देश के प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु से प्रेम करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

---

१. भारत-भारती, पच्चीसवां संस्करण, पृष्ठ ४

२. भारत-भारती, पच्चीसवां संस्करण, पृष्ठ १८१

के शब्दों में—'यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सब से प्रेम होगा, सबको वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सब की सुध करके वह विदेश में आँसू बहाएगा।'[1] गुप्त जी को वस्तुतः स्वदेश से अपार प्रेम है। राष्ट्रीयता का आधारभूत यह प्रेम उनकी शिराओं में संचरित है। 'पद्य-प्रबन्ध' के निम्नोद्धृत छन्द से प्रतीत होता है कि कवि को देश के जाज्वल्यमान उपकरणों से ही नहीं, धूलि से भी अपरिमित अनुराग है—

जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं
परमहंस-सम बाल्यकाल में सब सुख पाए
जिसके कारण धूल भरे हीरे कहलाए
हम खेले कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद में
हे मातृभूमि तुझको निरख हम मग्न क्यों न हों मोद में[2]

यह एक मात्रिक छन्द 'छप्पय' है—रूप-आकार की दृष्टि से प्रगीत नहीं है। फिर भी उसके सारे अन्तर्तत्त्व इसमें विद्यमान हैं। यहाँ लक्ष्य करने की बात कवि की तन्मयता है। इसकी रचना के समय कवि निश्चय ही 'मोद में मग्न' रहा होगा। इतना ही नहीं कवि देश की इस धूलि को परम पावन, 'माथे का शृंगार' मानता है—

राम, कृष्ण, जिन, बुद्ध आदि के रखते हैं आदर्श अपार
रज भी है इस पुण्यभूमि की सबके माथे का शृंगार[3]

मैं समझता हूँ यह रागात्मकता की पराकाष्ठा है। अस्तु!

भारत-भारती, पद्य-प्रबन्ध और स्वदेश-संगीत के अतिरिक्त साकेत में भी दो-एक राष्ट्रीय प्रगीत हैं। यद्यपि वह प्रबन्धकाव्य है फिर भी यथाप्रसंग गंगा आदि का वर्णन बड़े मनोयोग से हुआ है। यह भी राष्ट्रीयता का ही एक रूप है—कवि के देश-प्रेम का द्योतक है। जनकसुता के माध्यम से कवि की अपनी आत्मा गंगा-स्तवन कर रही है—

जय गंगे, आनन्द तरंगे कलरवे,
अमल अंचले, पुण्यजले, दिवसम्भवे!
सरस रहे यह भरत-भूमि तुमसे सदा,
हम सब की तुम एक चलाचल सम्पदा।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मैथिलीशरण जी ने प्रचुर मात्रा में राष्ट्रीय प्रगीतों का प्रणयन किया है।—और इन प्रगीतों में प्रधानता अनुराग की ही है। नव-निर्माण का

---

१. चिन्तामणि भाग १, लोभ और प्रीति (निबन्ध)
२. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३०
३. स्वदेश-संगीत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७८
४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १०३

उत्साह अथवा आवेश उनमें अपेक्षाकृत न्यून है—किन्तु उसका सर्वथा अभाव नहीं है। भारत-भारती के भविष्यत् खण्ड में नव-निर्माण का ही जोश है। अभिप्राय यह कि कवि सर्वथा निराश नहीं है। उदाहरणतः निम्नांकित पंक्तियों का अवलोकन कीजिए—

सौ सौ निराशाएँ रहें, विश्वास यह दृढ़ मूल है—
इस आत्म-लीला-भूमि को वह विभु न सकता भूल है।
अनुकूल अवसर पर दयामय फिर दया दिखलायेंगे,
वे दिन यहाँ फिर आयँगे, फिर आयँगे, फिर आयँगे॥[1]

ध्यान देने की बात यह है कि इस आशा और विश्वास के पीछे प्रभु की शक्ति है। श्रद्धा-निरपेक्ष प्रगति की तो मैथिलीशरण कल्पना भी नहीं कर सकते।

इन प्रगीतों में अव्याहत प्रवाह और संगीतात्मक शब्दावली नहीं है। फिर भी मातृ-भूमि के कण-कण के प्रति जो सहज और सघन अनुराग यहाँ है वही गुप्त जी के राष्ट्रीय प्रगीतों की शक्ति है।

विचारात्मक प्रगीत

विचार प्रगीत की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। अभिप्राय इसका यह हुआ कि प्रगीत में विचार की अथवा बौद्धिकता की प्रधानता नहीं होनी चाहिए। किन्तु विचार का सर्वथा अभाव अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि विचारहीन तो विक्षिप्त का प्रलाप ही हो सकता है, कवि का वक्तव्य नहीं। हाँ, यह आवश्यक है विचार का जितना भी अंश हो वह अनुभूति का अंग बनकर आना चाहिए। अन्यथा वह विजातीय द्रव्य होगा—प्रगीत के लिए भार-स्वरूप होगा।

मैथिलीशरण गुप्त सच्चे अर्थ में हमारे राष्ट्रकवि हैं—वे लगभग अर्द्ध शताब्दी से अनवरत साहित्य-सर्जन द्वारा उत्तर भारत की जनता का मार्ग-प्रदर्शन कर रहे हैं। अतः उनकी रचनाओं में विचार का समावेश अवश्यम्भावी है। एक उदाहरण लीजिए—

आज की उन्नति से अभिशप्त,
नहीं है कौन कहाँ संतप्त?
रहे कोई कितना भी दृप्त,
हो सकेगा यों क्यों कर तृप्त?
हमें निज उपवन में सविवेक,
तपोवन रखना होगा एक।[2]

अन्तिम दो पंक्तियों में स्पष्टतः विचार परिव्यक्त है—किन्तु यहाँ शुद्ध विचार नहीं है। युद्ध की विभीषिकाओं से त्रस्त कवि का हृदय मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है। इसी से इसमें संवेदनात्मक द्रव है।

---

१. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ १७६
२. विश्व-वेदना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४५

मैथिलीशरण विरचित कुणाल-गीत तो अनेक मधुर-स्निग्ध प्रगीतों की मंजूषा है। उससे एक विचारात्मक प्रगीत नीचे उद्धृत किया जाता है—

व्यथा-वरण करके रोना क्या ?
अपना धीरज-धन अपने ही हाथों से खोना क्या ?
क्लेश नाम से ही कर्कश है,
किन्तु सहन तो अपने वश है।
भीतर रस रहते बाहर के विष के बस होना क्या ?
व्यथा-वरण करके रोना क्या ?[1]

यहाँ कुणाल अपनी पत्नी को समझा रहे हैं। किन्तु वे दोनों तो प्रतीक मात्र रह जाते हैं। कवि अपने ही उद्विग्न मन को सान्त्वना देता हुआ प्रतीत होता है। यह वैयक्तिकता ही तो प्रगीत काव्य का प्राण है। वास्तव में यहाँ विचार और अनुभूति का एकीकरण हो गया है—या फिर यह कहिए कि यह विचार ही अनुभूति है। इसीलिए ऐसी रचनाएँ प्रगीत काव्य के अन्तर्गत आती हैं। यदि यह विचार अनुभूति का अंश न होता तो इस पद को प्रगीत न कहकर सूक्ति कहते। यशोधरा का प्रबन्धत्व कुणाल-गीत की अपेक्षा काफ़ी पुष्ट है—फिर भी उसमें अनेक सुन्दर प्रगीत हैं। उसके विचारात्मक प्रगीत भी प्रायः दर्शन-गरिष्ठ न होकर अनुभूति-वरिष्ठ हैं। निम्नोद्धृत पद में यशोधरा के माध्यम से कवि स्वयं बोल रहा है—

यदि हममें अपना नियम और शम-दम है,
तो लाख व्याधियाँ रहें स्वस्थता सम है।
वह जरा एक विश्रान्ति, जहाँ संयम है,
नवजीवन-दाता मरण कहाँ निर्मम है ?
भव भावे मुझको और उसे मैं भाऊँ।
कह, मुक्ति, भला, किसलिए तुझे मैं पाऊँ ?[2]

अभिव्यक्ति इतनी ओजपूर्ण और सप्रभाव है कि इसके विषयीगत होने में संशय नहीं रह जाता।—और आवेग-दीप्ति विचार को गौण बना देती है। किन्तु यशोधरा में ऐसा सब जगह नहीं हो सका है। 'महाभिनिष्क्रमण' के अन्तर्गत आलिखित तथागत के विचारों में कहीं-कहीं प्रगीत-तत्व परिक्षीण हो गया है। मुख्य कारण इसका यह है कि उन विचारों में कवि की आस्था नहीं है। दिनकर जिस प्रकार भीष्म और युधिष्ठिर दोनों से तादात्म्य कर सके हैं मैथिलीशरण उसी तरह गौतम और यशोधरा दोनों में नहीं रम पाए हैं। इसीलिए एक की वाणी में व्यक्तितत्व है, दूसरे की में नहीं है। अतः बुद्ध के विचार विचार ही हैं अनुभूति नहीं बन सके। हिन्दू के विचारात्मक प्रगीतों में यह अनुभूतिहीनता और भी अखरती है। उसके अधिकांश भाग में कवि वाद-विवाद करता हुआ दृष्टिगत होता है। एक उदाहरण लीजिए—

---

१. कुणाल-गीत, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ५९

२. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १०७

क्यों अछूत हैं आज अछूत ?
वे हैं हिन्दूकुल - सम्भूत !
गाते हैं श्री हरि का नाम !
आते हैं हम सबके काम !
बनें विधर्मी वे अनजान,
मुसलमान किंवा क्रिस्तान
तो हो जाते हैं सुस्पृश्य !
हाय देव, क्या दारुण दृश्य ![1]

ऐसी पंक्तियों में न रागात्मकता है, न आवेश है और न अनुभूति का गहरापन। यहाँ तर्क-वितर्क ने कवि की चेतना को धर दबाया है।—और मैं समझता हूँ कि यह तर्क भी कोई नवीन नहीं है—कवि का अपना नहीं है। आर्यसमाज द्वारा प्रस्तुत युक्तियों की पुनरावृत्ति मात्र है। ऐसे स्थलों पर प्रगीत के तत्त्वों का एकदम अभाव है।

वैसे गुप्त जी के इन प्रगीतों का काफ़ी प्रभाव रहा है। वे राजनैतिक नेता नहीं, मंच के व्याख्यान-दाता नहीं, धार्मिक उपदेष्टा भी नहीं हैं। फिर भी अपने विचारात्मक प्रगीतों के द्वारा उन्होंने एक बृहत्तर जनसमुदाय को नैतिक प्रेरणा दी है।

नीतिपरक प्रगीत

विचारात्मक के साथ ही नीतिपरक प्रगीतों पर भी विचार कर लेना चाहिए। जब सांसारिक विषमताओं और विसदृशताओं से विक्षुब्ध कवि-हृदय उपदेशावली में फूट उठता है उस समय नीतिपरक प्रगीतों का प्रणयन होता है। इस विषय में डा० भगीरथ मिश्र कहते हैं—"···कवि की स्वानुभूति सम्बन्धी वे कथन भी गीति के क्षेत्र के बाहर हैं···जो नीति, उपदेश या वर्णन के रूप में हैं।"[2] किन्तु मैं उनके इस कथन से सहमत नहीं हूँ। जिस नीति-परक अथवा उपदेशात्मक पद के पीछे स्वानुभूति है उसे प्रगीत क्यों न माना जाए ? हाँ, यदि कवि के अपने मन की खीझ या रीझ उसमें समाविष्ट न हो, उसकी रचना का आधार न हो तो निश्चय ही वह प्रगीत काव्य नहीं है। क्योंकि रागात्मकता-विहीन नीति-उपदेश छन्दोबद्ध होने पर भी नीतिशास्त्र अथवा आचारशास्त्र के क्षेत्र में आएगा, काव्य के नहीं।

हिन्दी में नीतिपरक प्रगीत प्रचुर मात्रा में लिखे गए हैं—कबीर, सूर, तुलसी सभी ने लिखे हैं। मैथिलीशरण के भी अनेक प्रगीत नीतिसंवलित हैं। भारत-भारती से एक उदाहरण लीजिए—

जड़ दीप तो देकर हमें आलोक जलता आप है,
पर एक हममें दूसरे को दे रहा सन्ताप है।

---

१. हिन्दू, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ २००

२. किंजल्क (पत्रिका)—सम्पादक डा० केसरीनारायण शुक्ल, संवत् २००७, पृष्ठ ४०

क्या हम जड़ों से भी जगत में हैं गये बीते नहीं ?
हे भाइयो ! इस भांति तो तुम थे कभी जीते नहीं ।।[1]

यह कोरा उपदेश नहीं है। कवि के अपने हृदय की करुणा, हार्दिक वेदना इसके पीछे है। ऐसी पंक्तियों के निर्माण की मूलभावना है—

हा ! दीनबन्धो ! क्या हमारा नाम ही मिट जाएगा ?[2]

—और मैं समझता हूँ कि उपर्युक्त पंक्ति में कवि के हृदय की निश्छल अभिव्यक्ति हुई है। हाँ, काव्यतत्व अवश्य कुछ क्षीण है। काव्यत्व की भी रक्षा करते हुए रचना हुई है निम्न प्रगीत की—

बहु कलकण्ठ खगों के आश्रय,
पोषक या प्रतिपाल प्रणाम।
भव-भूतल को भेद गगन में
उठने वाले शाल, प्रणाम ।।

* * *

खींच रसातल से भी रस को
गहने वाले, तुम्हें प्रणाम,
सब कुछ करके भी न कभी कुछ
कहने वाले, तुम्हें प्रणाम।[3]

शाल के दृष्टान्त से कवि कुछ उपदेश दे रहा है—किन्तु शैली उपदेशात्मक नहीं है। अतः नीति और उपदेश का प्रगीत के क्षेत्र से बहिष्कार करनेवाले आलोचकों को भी ऐसे पदों को प्रगीत मानने में आपत्ति नहीं होगी। इस उदाहरण की निर्वैयक्तिकता खटक सकती है—किन्तु यह कवि का अपना जीवन-दर्शन है अतः निश्चित रूप से वैयक्तिक है।—और है गेयता जो कि अधिकांश नीतिपरक छन्दों में नहीं हुआ करती। इसी प्रकार अनघ में भी नीति-तत्त्व कलात्मकता में आवेष्टित है—

कलिके, तेरा ही जन्म धन्य।
हम सब तो हैं बस अहम्मन्य।
जीवन है कितना अल्प हाय !
उसमें भी तू उत्फुल्ल-काय,
कर जाती है इतना उपाय
गुण गाता है अलि-सम्प्रदाय।

---

१. भारत-भारती, पच्चीसवां संस्करण, पृष्ठ १५६
२. भारत-भारती, पच्चीसवां संस्करण, पृष्ठ १५२
३. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३०, ३२

तुझसा उदार है कौन अन्य ?
कलिके, तेरा ही जन्म धन्य ।[1]

मगध की महारानी का यह गान नीतिपरक प्रगीत का एक उत्कृष्ट उदाहरण है ।

किन्तु प्रस्तुत कवि के सभी नीतिपरक प्रगीतों में ऐसा नहीं हुआ है । अनेक स्थलों पर मैथिलीशरण का उपदेशक उनके कवि पर हावी हो गया है । हिन्दू से निम्नोद्धृत अवतरण देखिए—

करके शिक्षा-कार्य समाप्त,
विद्यालय की पदवी प्राप्त ।
फिर तुम ग्रामों में कर वास
ग्रामीणों का करो विकास ।
शुद्ध सरल जीवन के साथ
रक्खो उन पर अपना हाथ[2]

ऐसी नीरस तुकबन्दी में प्रगीतत्व क्या काव्यत्व ही नहीं है । ये पंक्तियाँ लिखते समय कवि का हृदय उसके साथ नहीं है—बुद्धि ही मुखरित है । मेरे विचार में कहीं से सुनी हुई (शायद किसी दीक्षान्त भाषण से) यह बात लेखक ने आगे सुना दी । इसमें उसका अपना कुछ नहीं है । इसीलिए ये पंक्तियाँ नीरस और प्रभावहीन हैं । भारत-भारती में भी इस प्रकार के कई पद्य मिल जाएँगे—फिर भी उनके तल में युवक-हृदय का ओज है, आवेग है । किन्तु हिन्दू की रचना हृद्गत जोश के अभाव में ही हुई है— आवेश के क्षणों में नहीं । झंकार और अनघ के नीतिपरक प्रगीत साधारणतः अच्छे हैं ।

प्रेम-प्रगीत

प्रेम मानव हृदय की तीव्रतम भावना है । स्त्री-पुरुष में एक-दूसरे के लिए सहज आकर्षण है । यह आकर्षण संसार के अन्य सभी प्रलोभनों से अधिक शक्तिशाली है । इस आकर्षण की दुर्दम शक्ति के कारण ही भक्तों ने—तुलसीदास ने भी—भगवान् में ऐसी गूढ़ानुरक्ति की कामना की है जैसी कि किसी कामी को कामिनी के प्रति होती है । अभिप्राय यह कि सभी ने स्त्री-पुरुष के प्रेम की तीव्रता का अनुभव किया है । प्रेम-प्रगीतों में यह तीव्र-तीक्ष्ण भावधारा ही आबद्ध होती है । जीवन की मूलभावना से संबद्ध होने के कारण प्रेम-प्रगीत सभी देशों और जातियों के साहित्य में पुष्कल परिमाण में उपलब्ध हैं । मैथिलीशरण हमारे राष्ट्रकवि हैं, उन्होंने राष्ट्रीय प्रगीत ही अधिक लिखे हैं । फिर भी जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करनेवाला कवि प्रेम को नहीं छोड़ सकता । उनके साकेत और यशोधरा में अनेक प्रेम-प्रगीत संग्रथित हैं । इस विषय में यह स्मरणीय है कि उन्होंने संयोग का वर्णन अधिक नहीं किया है—वह उनकी प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है । अतः उनके ये प्रगीत विरह के ही

---

१. अनघ, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ ७२
२. हिन्दू, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ १५२

हैं ।—और विरह-वह्नि में वासना भस्म हो गई है । शेष है शुद्ध प्रेम—प्रेमी के लिए त्याग और तपस्या का भाव । देखिए उर्मिला कितने बड़े बलिदान के लिए तत्पर है—

अब जो प्रियतम को पाऊं !
तो इच्छा है उन चरणों की रज मैं आप रमाऊँ !
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ ।
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ ।[१]

वह प्रियतम के सुख-साधन के लिए स्वयं मिटने को तैयार है । इससे बढ़कर प्रेम की सघनता और क्या होगी ?—मैं समझता हूँ कि यह प्रणय-गाम्भीर्य की पराकाष्ठा है । यशोधरा भी तथागत के चले जाने पर दुखी है—किन्तु उसका दुख संयोग के सुख के अभाव के कारण नहीं है । उसका कारण है अपने नारीत्व का, सम्पूर्ण नारी जाति का अपमान—

सखि, वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?[२]

पर जीवन के एकान्त क्षणों में उसका अधीर हृदय पुकार उठता है—

आओ हो वनवासी !
अब गृह-भार नहीं सह सकती
देव, तुम्हारी दासी ।[3]
आदि ।

इस प्रगीत में यद्यपि प्रेम का तीव्र उच्छ्वास नहीं है तथापि रागात्मकता और तन्मयता अपूर्व है । तीव्रता के अभाव का कारण है स्वकीया-प्रेम । मैथिलीशरण की नायिकाएँ परकीया नहीं हैं । इसलिए उनके प्रेम में पर्वतीय नदी का आवेग न मिलकर समतल भूमि में विस्तीर्ण मैदानी नदी का मन्द-मन्थर प्रवाह है । वियोग के कारण कुछ कराह अवश्य है पर वह भी असीम और अबाध नहीं है । क्योंकि स्वकीया-प्रेम में घोर उद्दामता भी नियमित-नियन्त्रित हो जाती है । एक बात और ! बाबू गुलाबराय ने प्रसाद जी के नाटकगत प्रेम-प्रगीतों के विषय में लिखा है—"प्रसाद जी के नाटकीय गीत यद्यपि एक विशेष संदर्भ से बंधे हुए हैं और इस कारण वैयक्तिक भी हैं तथापि वे ऐसे हैं कि उनकी ताल-लय पर प्रत्येक प्रेमी हृदय प्रतिस्पन्दित होने लगता है । गीतों में वैयक्तिकता बाधक नहीं साधक ही होती है और एक विशेष तीव्रता प्रदान करती है ।"[४] ठीक उसी तरह यशोधरा और उर्मिला के प्रेम-प्रगीत वैयक्तिक हैं, फिर भी प्रत्येक सहृदय के लिए संवेद्य हैं । और उपर्युक्त वैयक्तिकता उन्हें प्रगीतोपयुक्त तीव्रता तथा दीप्ति प्रदान करती है ।

स्वयं प्रेम के विषय में लिखित प्रगीत की गणना भी प्रेम-प्रगीतों के अन्तर्गत ही

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २३५
२. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ २४
३. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ११८
४. काव्य के रूप, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १५५

होनी चाहिए। डा० भगीरथ मिश्र तो प्रेम को सम्बोधित करके लिखे गए पदों को भी प्रेम-प्रगीत ही मानते हैं।[१] किन्तु वे रूप-वैभिन्न्य के कारण सम्बोधन-प्रगीतों में आने चाहिएँ। गुप्त जी ने दो-एक प्रगीत प्रेम के विषय में भी लिखे हैं। साकेत से निम्नोद्धृत पंक्तियाँ देखिए—

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग भी जलता है हा! दीपक भी जलता है!
सीस हिलाकर दीपक कहता—
'बन्धु, वृथा ही तू क्यों दहता?'
पर पतंग पड़ कर ही रहता! कितनी विह्वलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है![२]

कुछ प्रेम-प्रगीत साधारण वरन् सर्वथा कलाहीन भी हैं। नीचे की पंक्तियों की अनगढ़ शब्दावली कितनी अरुचिकर है—

पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि, पहन लूँ ला, सब करूँ,
जिऊँ मैं जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।[3]

आदि।

घनीभूत प्रेम की करुण विवशता, आकुल विह्वलता उक्त उद्धरण में है फिर भी उसमें प्रगीतत्व नहीं है; संगीतात्मकता के अभाव से इसका द्रवणशील प्रभाव ही नष्ट हो गया। यदि इसमें संगीत का योग हो जाता तो निश्चित रूप से यह पाठक के हृदय पर चिरस्थायी प्रभाव छोड़ जाता। किन्तु ऐसे प्रगीतत्वहीन स्थल बहुत कम हैं।

समग्रत: मैथिलीशरण ने अन्य आधुनिक कवियों के समान अधिक प्रेम-प्रगीत नहीं लिखे। और जो लिखे भी हैं उनमें वासना का पंक नहीं है, वे त्याग और बलिदान की साधना से उद्भासित हैं।

शोक-प्रगीत

किन्हीं व्यक्तिगत अथवा सामाजिक अभावों एवं दाहों से प्रताड़ित कवि-हृदय का करुण उद्गीथ ही शोक-प्रगीत है। इसमें व्यंजित शोक निरपवाद रूप से हार्दिक होना चाहिए। इसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति, जैसा कि हडसन का मत है, एकान्ततः निष्कपट होनी चाहिए।[४] क्योंकि कृत्रिमता के किंचित् आभास से ही शोक-प्रगीत का सारा सौन्दर्य और प्रभाव नष्ट हो जाता है। अंग्रेज़ी में शोक-प्रगीत का पर्याय 'एलेजी' है। यह शब्द ग्रीक से गृहीत है। ग्रीक में छन्द-विशेष के व्यवहार के कारण शोक-प्रगीत को एलेजी के नाम से

---

१. किंजल्क (पत्रिका), संवत् २००७, सम्पादक डा० केसरीनारायण शुक्ल, पृष्ठ ४८
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २०४
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १९७
४. दे० An Introduction to the Study of Literature, ed. 1955, page 100

अभिहित किया जाता था।[1] अंग्रेजी साहित्य में बहुत से उत्कृष्ट शोक-प्रगीत उपलब्ध हैं। मिल्टन, शेली और ग्रे के शोक-प्रगीत विशेषतः प्रसिद्ध हैं। हमारे यहाँ भी शोकपरक साहित्य कम नहीं लिखा गया। कारुण्य का प्राधान्य देखकर ही तो भवभूति ने करुण को रसराज मान लिया था। आदिकवि वाल्मीकि के मुख से भी सर्वप्रथम शोक-संतप्त वाणी ही फूटी थी। आधुनिक कवियों में भारतेन्दु, जयशंकर प्रसाद, निराला आदि ने शोक-प्रगीत लिखे हैं। हमारे कवि की अंजलि और अर्घ्य एक लम्बा शोक-प्रगीत ही है। उसमें राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की मृत्यु से उद्भूत कवि-हृदय के शोक की अभिव्यक्ति है। पुस्तक की प्राथमिक कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ—

अरे राम ! कैसे हम झेलें
पनी लज्जा उसका शोक ?
गया हमारे ही पापों से
अपना राष्ट्रपिता परलोक।
हे भगवान, उदित होते हैं
क्या अब भी तेरे रवि-सोम ?
आँखें रहते देख रहे हैं
हम क्यों केवल तम का तोम।[2]

इस उद्धरण में प्रकटित वेदना कवि के अपने हृदय की वेदना है। वह उससे इतना अभिभूत है कि सनेत्र होने पर भी उसे सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत होता है। इसी प्रकार पुस्तक के अन्त में भी कवि आँसू-आँसू है। वास्तव में वह अपने अश्रुओं द्वारा ही अंजलि और अर्घ्य दे रहा है—

बापू, आज सभी आशाएँ
दृष्टि शून्य कर जाती हैं,
अंजलि और अर्घ्य देने को
आँखें भर-भर आती हैं।[3]

पर सम्पूर्ण कविता इसी तरह भाव-दीप्त नहीं है। बीच-बीच में वह विचारों से भाराक्रान्त अथवा तर्क-प्रधान हो गई है।—और अनेक स्थलों पर व्यक्ति-तत्व को दबाकर वस्तु-तत्व उभर आया है, जैसे निम्नोद्धृत अवतरण में—

अल्प वयस में ही अम्बा को
दिए वचन तूने पाले,
बने वासनाओं के वन में
वे भी तेरे रखवाले।[4]

---

१. दे० गीति-काव्य, रामखेलावन पाण्डेय, संस्करण संवत् २००४, पृष्ठ २३१

२. अंजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ७

३. अंजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४३

४. अंजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १६

ऐसे स्थानों पर प्रगीतत्व का अभाव है। प्रगीतत्व की क्षीणता का कारण है कविता की दीर्घता। इस अतिरिक्त विस्तार से भावना का आवेश दुर्बल पड़ गया है। दूसरी बात जो प्रगीतत्व में बाधक हुई वह यह है कि इसकी रचना महात्मा गान्धी की मृत्यु के लगभग एक वर्ष पश्चात् हुई है। निश्चित रूप से उस समय तक हृदय की शोक-विह्वलता संयत और शान्त हो गई होगी। फिर भी कवि को हार्दिक दुःख हुआ था। इसीलिए यह पुस्तिका पाठक के मन पर एक करुण-मधुर लीक छोड़ जाती है। भारत-भारती में भी अनेक शोक-प्रगीत हैं। उसका वर्तमान खण्ड तो शोक-प्रगीतों से ही आपूर्ण है। वैसे उसमें वस्तु की प्रधानता है—किन्तु उस वस्तु-तत्व से उत्थित आत्मस्थ भावनाओं का भी अभाव नहीं है

गुप्त जी ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, मुन्शी अजमेरी तथा अपने पुत्रों की मृत्यु पर भी शोक-प्रगीत लिखे हैं। आचार्य द्विवेदी तथा मुन्शी अजमेरी सम्बन्धी शोक-प्रगीत पत्र-पत्रिकाओं में छप चुके हैं। किन्तु बच्चों के निधन पर लिखी गई करुण गीतियाँ 'सांत्वना' नामक अप्रकाशित पुस्तिका में संगृहीत हैं। उसकी सामग्री हमें उपलब्ध नहीं हो सकी आचार्य द्विवेदी तथा मुन्शी अजमेरी के साकेतवास पर लिखित एक-एक शोक-प्रगीत नीचे उद्धृत किया जाता है—

सरस्वती के हार-पद्म में आज उसी मुख की उनहार !
मरण वस्तुतः परिवर्तन है, जीवन गतिमय अमर उदार।
लुप्त हुई क्या आर्य, तुम्हारे चिर निर्मल जीवन की धार ?
या हिन्दी की हरियाली में लहराती है एकाकार !
सींचा तुमने क्षेत्र हमारा आँसू नहीं पसीना गार,
फूले-फले अन्त में अब वह पाकर उस शरीर का सार !
किसके रस में उमड़ रहा यह मानस बनकर पारावार ?
भरे हृदय की ही श्रद्धांजलि उन चरणों में हो स्वीकार।[1]

(आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रति

ओ मेरे अभिमानी !
रहा अन्त में याचक ही तू होकर भी चिरदानी।
देश काल का मेल मिलाकर
आप मृत्यु तक अमृत पिलाकर
मांगा भी क्या, होंठ हिलाकर
हा ! यह खारा पानी
ओ मेरे अभिमानी !
आँखें नया सिन्धु रच डालें
तुझ सा एक रत्न यदि पालें
पर हम कितना ही रो-गालें

---

१. सरस्वती (पत्रिका), फ़रवरी, १९३९

तूने लम्बी तानी
ओ मेरे अभिमानी !
सो, तू सुखपूर्वक सो, भाई
मृग ने मरीचिका तो पाई
पर जानें वह मेरा न्यायी
उसने कैसी ठानी
ओ मेरे अभिमानी ![1]

(मुन्शी अजमेरी के प्रति)

उपर्युक्त दोनों कविताओं में कवि के अनुभूत शोक की व्यंजना है। द्विवेदी जी तथा मुन्शी अजमेरी दोनों से गुप्त जी का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, अतः उनके निधन पर उनको हार्दिक दुःख है। वह आत्मस्थ दुःख ही यहाँ परिव्यक्त हुआ है। ऐसी रचनाओं को शोक-प्रगीत के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।

इस प्रकार मैथिलीशरण जी ने शोक-प्रगीत भी लिखे हैं—और वे निश्चित रूप से हृदयरस से आप्लावित हैं। उनमें प्रकटित शोक और प्रवहमान अश्रु अकृत्रिम हैं, फिर भी आवेश की न्यूनता है—उतने ही अंश में वे सदोष हैं।

रहस्यवादी प्रगीत

"रहस्यवादी भक्त परमात्मा को अपने प्रिय के रूप में देखता है और उससे मिलन के लिए व्याकुल रहता है।"[2] अतः जिन प्रगीतों में रचयिता की वियुक्त आत्मा की अकुलाहट और छटपटाहट व्यक्त होती है वे रहस्यवादी प्रगीत कहलाते हैं। लेकिन आज का युग साधना का नहीं है। इस बीसवीं शताब्दी में कबीर और जायसी के समान धार्मिक साधना सम्भव नहीं है। फिर भी आज के कवि ने—विशेषतः छायावादियों ने—आध्यात्मिक विरह के गीत गाए हैं। मैथिलीशरण जी ने भी युगचेतना से प्रभावित होकर कुछ रहस्यवादी प्रगीतों का प्रणयन किया है। कवि की आत्मा को अपनी और प्रियतम की नित्यता पर अटूट विश्वास है—

थे, हो और रहोगे जब तुम
थी, हूँ और रहूँगी (मैं)[3]

—और निश्चय है मिलन का अनेक कठिनाइयों की अवस्थिति में भी—

मार्ग-वक्रता और विषमता
आगे बढ़ती हुई सहूँगी (मैं)
पाकर तुम्हें कभी न कभी तो
अपने मन की बात कहूँगी (मैं)[4]

---

१. कवि के अनुज श्री चारुशीलाचरण गुप्त की कृपा से चिरगाँव से प्राप्त
२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, संस्करण सन् १९५५, पृष्ठ २७२
३. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १५५
४. ,, ,, , पृष्ठ १५५

प्रिय-मिलन के लिए आत्मा व्याकुल है, आतुर है, निम्न पंक्तियों मे उसकी तीव्र उत्कण्ठा देखिए—

दूती बैठी हूं सजकर मैं।
ले चल शीघ्र मिलूँ प्रियतम से,
धाम धरा धन सब तजकर मैं।।[1]

मिलन की उत्कण्ठा ही नहीं तादात्म्य की अधीर अभिलाषा भी है—

बस अब उनके अंक लगूंगी,
उनकी वीणा-सी बजकर मैं।[2]

अन्तिम पंक्ति में आत्म-समर्पण की पराकाष्ठा हो गई है। अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व को एकदम नगण्य मान लिया गया है। अपनी तुच्छता और प्रिय के महत्त्व में ही सच्ची भक्ति और रहस्यवादिता है। पूर्वोद्धृत उदाहरणों के अतिरिक्त और भी, जैसे झंकार, इकतारा, आमन्त्रण, अनुभूति, इन्द्रजाल आदि अनेक रहस्यवादी प्रगीत 'झंकार' में संकलित हैं। किन्तु ये सब कवि के व्यक्तित्व से सर्वथा असम्पृक्त हैं। क्योंकि वह दशरथसुत अवतारी राम का भक्त है—किसी अव्यक्त का साधक नहीं। अतः इन प्रगीतों में प्रगीत-काव्य की प्राण-स्वरूप वैयक्तिकता का ही अभाव है। अधिकांशतः कल्पना की ही उड़ान है। एक उदाहरण लीजिए—

चातक खड़ा चोंच खोले है,
सम्पुट खोले सीप खड़ी ;
मैं अपना घट लिये खड़ा हूं,
अपनी अपनी हमें पड़ी।[3]

संसार-व्यापी प्रतीक्षा का अंकन इन पंक्तियों में हुआ है। पर 'मैं अपना घट लिये खड़ा हूँ' में हार्दिकता दृष्टिगत नहीं होती। इस हृद्गत प्रेरणा के अभाव के ही कारण अनेक रचनाएँ सफल प्रगीत नहीं बन पाईं। वास्तव में ये रहस्यवादी प्रगीत व्यक्तिगत चेतना से अनुप्राणित नहीं हैं। वरन् इनके पीछे युग की प्रवृत्ति का आग्रह है।—और यदि कोई एकाध प्रगीत अच्छा है भी तो उसे भावमयी जिज्ञासा मात्र समझना चाहिए अनुभूति-प्रेरित नहीं।

भक्तिपरक प्रगीत

रहस्यवाद में अव्यक्त प्रियतम के प्रति विरह निवेदन होता है। वह प्रियतम निर्गुण, निराकार और निरुपाधि होता है किन्तु भक्त लोग ऐसे प्रिय की कल्पना करते हैं जो सगुण-साकार हो। वे अपने इष्टदेव से वैयक्तिक संबन्ध स्थापित करते है। इस व्यक्तिगत संबन्ध की स्थापना के निमित्त ही अवतारों की परिकल्पना की गई है। क्योंकि अवतार के अभाव में—किसी रूप-आकार के अभाव में—व्यक्तिगत संबन्ध संभव नहीं। मैथिलीशरण गुप्त

१. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १५६
२. „ „ , पृष्ठ १५६
३. „ „ , पृष्ठ ११२

मूलतः भक्त हैं—उन्हें राम की भक्ति रिक्थ-स्वरूप मिली है। अतः उन्होंने अनेक भक्तिपरक प्रगीत लिखे हैं। झंकार के पहले ही प्रगीत में राम के दीनबन्धुत्व और उनके प्रति निजी रागात्मकता का अंकन हुआ है—

निर्बल का बल राम है।
हृदय ! भय का क्या काम है॥
*** * ***
तन-बल, मन-बल और किसी को
धन-बल से विश्राम है,
हमें जानकी-जीवन का बल
निशिदिन आठों याम है।[1]

अन्तिम पंक्ति में 'तुलसी के मतें इतनो जग जीवन को फलु है' जैसी अनन्य और एकान्त श्रद्धा एवं भक्ति है।—और भगवदवतारों, भगवान् की विभिन्न लीलाओं के अनुशीलन में मैथिलीशरण को भी रसखान-सा रस मिलता है—

वे अवतार चरित नव नाना,
चित्त हुआ चिर चेरा।[2]

यह कोई वाग्जाल नही है—मिथ्यालाप नहीं है। सचमुच कवि का चित्त अवतारों के चरित-गान में रस-मग्न हो जाता है। इस स्वार्थी और अवसरवादी युग में भी मैथिली-शरण को भगवद्भजन में ही आनन्द मिलता है। जिन लोगों को कभी उस सौम्य मूर्ति के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे मेरे इस कथन से सहमत होंगे। वास्तव में भौतिकता-प्रधान सांसारिक जीवन से तो वे पराङ्मुख हैं। संघर्षों के 'दीरघ दाघ निदाघ' से उनका मन-कुसुम झुलस जाता है, बुद्धि चकरा जाती है। तब वे भगवत्कृपा की स्निग्ध ज्योत्स्ना की ही आकांक्षा करते हैं। कवि के अपने शब्दों में—

जीवन-यात्रा के आतप से
मूर्च्छित है मति मेरी।
"कविर्मनीषी—!" कब छिटकेगी
कृपा-कौमुदी तेरी ?[3]

प्रगीत काव्य के अनिवार्य तत्त्व वैयक्तिकता और भाव-संकुलता दोनों ही इन पंक्तियों में देखे जा सकते हैं। कभी-कभी तो भावाविष्ट कवि चेतना को ही भार अथवा बाधा मान बैठता है और अचेतना की कामना करता है—

चाटें चतुर चेतना लेकर
कर दो मुझे अचेत,

---

१. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ७
२. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १५
३. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ४४

बस संचालित करे तुम्हारा
इंगित वा संकेत ।[1]

मैथिलीशरण जी की पुस्तकों के मंगलाचरण भी भक्तिपरक प्रगीत ही हैं। उन सबमें प्रायः राम के प्रति भक्ति-निवेदन है। उदाहरणस्वरूप दो पुस्तकों के मंगलाचरण प्रस्तुत करते हैं—

राम तुम्हारे इसी धाम में
नाम-रूप-गुण-लीला-लाभ ;
इसी देश में हमें जन्म दो
लो प्रणाम हे नीरजनाभ ।[2]

* * *

वहाँ पन्थ-भय क्या भला, मेरे ग्रन्थ प्रबन्ध,
जहाँ खींचता है तुझे, रामचरण रजगन्ध ।[3]

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में छन्द का बन्धन स्पष्ट है जो प्रगीत के अनुपयुक्त है, फिर भी यहाँ कवि के हृद्गत भक्ति भाव की निश्छल अभिव्यक्ति है। इन पद्यों में परिव्यक्त राम भक्ति निर्विवाद रूप से हार्दिक है। अतः बाह्य कलेवर प्रगीत के अनुकूल न होने पर भी ये निश्चित रूप से प्रगीत हैं—इनमें प्रगीत की आत्मा सुरक्षित है। अन्यान्य पुस्तकों के मंगलाचरण के विषय में भी यही कहा जा सकता है।

दो-चार प्रगीत गुप्त जी ने कृष्ण भक्ति के भी लिखे हैं। किन्तु वे राम के अनन्य उपासक हैं। अतः कृष्ण भक्ति-मूलक प्रगीतों में परम्परा-पिष्ट विचार ही अधिक हैं, स्वानुभूति अथच वैयक्तिकता अल्पांश में ही मिल सकेगी, जैसे—

रथ-सूत हुए अपने भट के
कि फंसे युग छोर कहीं पटके ।[4]

—इसीलिए यहाँ काव्यत्व का भी अभाव है। क्योंकि कवित्व का सम्बन्ध अनुभूतिजन्य भावना से है—परम्पराप्राप्त ज्ञान से नहीं। फिर भी कृष्ण के ललित जीवन के सम्पर्क से कहीं-कहीं अपूर्व माधुर्य का संचार हो सका है। उदाहरण के लिए निम्नोद्धृत पंक्तियाँ देखिए—

फिर याद पड़े टटके टटके,
ब्रज-गोप-वधू दधि के मटके,
उनका कहना—हटके ! हटके !
उलझी-सुलझी लटके लटके।
नटनागर, आज कहाँ अटके ?[5]

---

१. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ११६
२. यशोधरा, मंगलाचरण
३. कुणाल-गीत, मंगलाचरण
४. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ४७
५. ,, ,, , पृष्ठ ४७

मेरे विचार में ऐसे मधुर-स्निग्ध चित्र प्रगीत काव्य की आत्मा के प्रतिकूल नहीं हैं। सब मिलाकर मैथिलीशरण के भक्तिपरक प्रगीत काफ़ी अच्छे हैं। न ये नीति-शुष्क हैं, न राष्ट्रीयता से भाराक्रान्त वरन् इनमें कवि-हृदय के सहज उद्गार हैं।

व्यंग्य-प्रगीत

अन्याय-अत्याचारों और विषमताओं से विक्षुब्ध कवि-हृदय का आवेश जब व्यंग्य-वाणों में प्रस्फुटित होता है तब व्यंग्य-प्रगीतों का प्रणयन हुआ करता है। इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि व्यंग्य का उद्देश्य होना चाहिए विसदृशताओं का निराकरण—अन्यथा कितना ही कलात्मक होने पर भी, प्रगीत तत्वों से युक्त होने पर भी उसका परिगणन साधु काव्य में नहीं हो सकता। अभिप्राय यह कि व्यंग्य-प्रगीत में कवि-हृदय-उत्थित आवेश एवं क्षोभ की व्यक्ति तो होगी। किन्तु उसके पीछे व्यष्टिगत द्वेष न होकर समष्टिगत कल्याण की भावना रहनी चाहिए। हिन्दी में व्यंग्यात्मक साहित्य बहुत कम लिखा गया। भारतेन्दु-मण्डल के कुछ 'ज़िन्दादिल' लोगों ने व्यंग्यात्मक कविताएं लिखी हैं—किन्तु वे इतनी वस्तुपरक हैं कि उन्हें प्रगीत नहीं माना जा सकता। हाँ, निराला ने अवश्य कुकुरमुत्ता, वन-वेला आदि कुछ अच्छे व्यंग्य-प्रगीत लिखे हैं। मैथिलीशरण की प्रवृत्ति व्यंग्य की ओर नहीं है, फिर भी उनका राष्ट्रकवि अत्याचारी विदेशी सत्ता पर—और उनका आस्तिक हृदय धूर्त पाखण्डियों पर व्यंग्य-वाण का संधान किए बिना नहीं रह सका। भारत-भारती में कृष्ण के माध्यम से हृदय की कुत्सित वासनाओं का वीभत्स प्रदर्शन करनेवाले कवियों पर करारा व्यंग्य देखिए—

सोचो, हमारे अर्थ है यह बात कैसे शोक की—
श्रीकृष्ण की हम आड़ लेकर हानि करते लोक की।
भगवान को साक्षी बना कर यह अनंगोपासना,
है धन्य ऐसे कविवरों को, धन्य उनकी वासना॥[1]

व्यंग्य की तीक्ष्णता में समाविष्ट कवि के स्वानुभूत संताप ने इसे प्रगीतता प्रदान की है। यहाँ लक्ष्य करने की विशेष बात यह है कि किसी कवि-विशेष के प्रति दुर्भावना नहीं है, द्वेष का दंश नहीं हैं। वरन् काव्य के संस्कार का उच्च आदर्श कवि के समक्ष रहा है। व्यंग्य की उग्रता देखनी हो तो विश्व-वेदना की निम्न पंक्तियों का अवलोकन कीजिए—

अहा! उन्नत मानव हैं आप?
आपके लिए रहा क्या पाप?
आपका अद्भुत यशः - प्रताप,
एक आतंक, एक अभिशाप!
बने कितनों को आप बिगाड़?
बसे हैं कितने बास उजाड़?[2]

कितना तीखा व्यंग्य है—किन्तु इस उद्धरण में प्रगीतत्व क्षीण है क्योंकि इसमें

---

१. **भारत-भारती, पच्चीसवाँ संस्करण, पृष्ठ १२१**

२. **विश्व-वेदना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७**

भारत-भारती के पूर्वोद्धृत अवतरण के समान अनुभूति की गहराई न मिलकर बौद्धिक आवेश का प्राधान्य है। और देखा जाए तो संसार के अधिकांश व्यंग्य-प्रगीतों में बुद्धि तत्व की प्रधानता ही मिलेगी—हृदय के रस से सिक्त तो अल्प ही हैं। आलोच्य कवि ने व्यंग्य-प्रगीत बहुत कम लिखे हैं। सच्चे अर्थों में प्रगीत तो और भी कम हैं। हाँ, एक बात सर्वत्र विद्यमान है, वह यह कि उनमें समाज-कल्याण का औज्ज्वल्य है, व्यक्तिगत द्वेष का मालिन्य नहीं।

सम्बोधन-प्रगीत

ऊपर विषय की दृष्टि से किए गए प्रगीत काव्य के प्रकारों का विवेचन किया गया है। अब रूप पर आधृत भेदों—चतुर्दशपदियों (Sonnets) और सम्बोधन-प्रगीतों पर विचार किया जाएगा। चतुर्दशपदियों की तो हिन्दी में प्रायः कमी ही है।—और हमारे कवि ने तो केवल दो लिखी हैं। हाँ, अंग्रेज़ी के अनुकरण पर आधुनिक काल में सम्बोधन-प्रगीत अवश्य लिखे गए हैं। किसी को संबोधित करके लिखा गया प्रगीत सम्बोधन-प्रगीत कहलाता है। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि संबोध्य का सजीव होना आवश्यक नहीं है। 'किसी प्राकृतिक या साधारण वस्तु, दृश्य, भाव और विचार, युग को भी सम्बोधित किया जा सकता है।'[1] अंग्रेज़ी में शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, टेनीसन आदि ने श्रेष्ठ सम्बोधन-प्रगीत लिखे हैं। हिन्दी में निराला विरचित 'यमुना के प्रति', पन्त जी की 'छाया' तथा दिनकरकृत 'समाधि के प्रदीप से' आदि प्रगीत इसके अच्छे उदाहरण हैं। गुप्त जी ने भी कई सम्बोधन-प्रगीत लिखे हैं। उनकी भारत-भारती, हिन्दू, कुणाल-गीत आदि पुस्तकों में अनेक सम्बोधनात्मक प्रगीत उपलब्ध हैं। भारत-भारती के भविष्यत् खण्ड में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रों, साधु-सन्तों, तीर्थगुरुओं, नेताओं, कवियों, धनियों और नवयुवकों आदि को सम्बोधित करके प्रगीत लिखे गए हैं। इन प्रगीतों में स्पष्टतः उपदेश की गन्ध है, सुधार की प्रवृत्ति है। फिर भी विषयी की मनसा का सर्वथा अभाव नहीं है। कवियों को सम्बोधित करके लिखी गई पंक्तियाँ देखिए—

> **करते रहोगे पिष्ट-पेषण और कब तक कविवरो**
> **कच, कुच, कटाक्षों पर अहो! अब तो न जीते जी मरो।**
> * * *
> **आनन्ददात्री-शिक्षिका है सिद्ध कविता-कामिनी**
> **है जन्म से ही वह यहां श्रीराम की अनुगामिनी।**
> **पर अब तुम्हारे हाथ से वह कामिनी ही रह गई,**
> **ज्योत्स्ना गई देखो अंधेरी यामिनी ही रह गई॥**[2]

यहाँ कवि के अपने भग्न हृदय का क्षोभ भी समाविष्ट है। यद्यपि इस उद्धरण में वांछित आवेग एवं आवेश नहीं है, फिर भी इसमें प्रगीत के अनिवार्य-तत्त्व स्वानुभूति की ही परिव्यक्ति हुई है। हिन्दू में 'अंग्रेजों के प्रति' और 'मुसलमानों के प्रति' काफ़ी लम्बे

---

१. गीति-काव्य, रामखेलावन पाण्डेय, पृष्ठ २४१

२. भारत-भारती, पच्चीसवाँ संस्करण, पृष्ठ १७०-१७१

सम्बोधनात्मक प्रगीत संकलित हैं। उसमें 'पारसियों के प्रति', 'ईसाइयों के प्रति' तथा 'युवकों के प्रति' आदि कुछ छोटे-छोटे और भी सम्बोधन-प्रगीत हैं। उन सबमें गुप्त जी का उपदेशक अथवा सुधारक उनके कवि को दबा बैठा है। अतएव पूर्वोल्लिखित रचनाएँ रूप की दृष्टि से ही सम्बोधन-प्रगीत हैं। उनमें और कोई विशेष बात नहीं है। 'मुसलमानों के प्रति' से कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत करता हूँ—

मुसलमान भाई, हो शान्त;
सोचो तुम्हीं तनिक एकान्त।
तुम निज हेतु करो सब कर्म,
और छोड़ दें हम निज धर्म ?
रहे तुम्हारा कुछ भी बोध,
हमको तुम से नहीं विरोध।
मातृभूमि का नाता मान,
हैं दोनों के स्वार्थ समान।[1]

इस अवतरण में कवि का मस्तिष्क ही बोल रहा है। बौद्धिक आख्यान ही है, हृदय का रस नहीं। मैं समझता हूँ ऐसी पंक्तियों में कवि का अपना कुछ नहीं है—यह तर्क भी शायद मौलिक नहीं है। हाँ, कुणाल-गीत में निश्चय ही कुछ अच्छे सम्बोधन-प्रगीत हैं। एक उदाहरण लीजिए—

मेरे शुद्ध समीर रे !
लेकर तुझमें श्वास आज भी स्वस्थ कुणाला-शरीर रे !
मेरा देश स्वच्छ सुरभित है,
शुचि-रुचि-शाली रंग-रहित है।
उसमें निज पर-हित समुचित है,
साक्षी तू ध्रुव धीर रे !
मेरे शुद्ध समीर रे।[2]

पहले दो चरणों में समीर और कुणाल पर ध्यान अटका रह सकता है—उनमें कवि-हृदय की झाँकी नहीं है। किन्तु तीसरी पंक्ति—'मेरा देश स्वच्छ सुरभित है'—से देश की 'शीतल-मन्द-सुगन्ध समीरण' के स्पर्श से उद्भूत कवि-हृदय की राष्ट्रीयता ही परिव्यक्त है। यही सच्चे प्रगीत की विशेषता होती है। ऐसे ही दो-चार प्रगीत और भी कुणाल-गीत में मिल सकते हैं। फिर भी अच्छे सम्बोधन-प्रगीत गुप्त जी ने कम ही लिखे हैं। अधिकांशतः किसी को सम्बोधित करके वे उपदेश ही देने लगते हैं—उपदेशष्टा बन बैठते हैं, कवि नहीं रहते।

---

१. हिन्दू, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ३४६-३४७
२. कुणाल-गीत, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ११८

उद्बोधन-प्रगीत

यह प्रगीत का कोई प्रसिद्ध-प्रतिष्ठित रूप नहीं है। वास्तव में यह मैथिलीशरण द्वारा प्रयुक्त नवीन रूप-प्रकार है। कल्याण-कामना से अभिभूत कवि जब जागरण का सन्देश देता है, पाठक की उद्बुद्धि का प्रयत्न करता है तब उद्बोधन-प्रगीत का जन्म होता है। वैतालिक गुप्त जी का एक लम्बा उद्बोधन-प्रगीत है। वैसे तो यह भी कवि की राष्ट्रीयता का ही एक अंग है। किन्तु राष्ट्रीय प्रगीतों और इन उद्बोधनात्मक प्रगीतों के स्वर में अन्तर है। राष्ट्रीय में ओज एवं आवेश रहता है पर उद्बोधनात्मक में उत्साह और माधुर्य। वैतालिक से एक उदाहरण लीजिए—

तम की सब कालिमा धुली,
आँख तुम्हारी क्यों न खुली ?
निरालस्य सब हो जाओ,
इस श्रेयःश्री को पाओ।[1]

यहाँ कवि उद्बोधन की बात कर रहा है, जागरण के लिए प्रेरित कर रहा है। यदि यह राष्ट्रीय प्रगीत होता तो कवि आलस्य पर नेत्र न खुलने पर झुंझला उठता। किन्तु इस पुस्तिका में कवि राष्ट्रकवि के रूप में नहीं देश के वैतालिक के रूप में आया है। उपर्युक्त पंक्तियों में उसका वैतालिक रूप ही उद्भासित है। वह देश की, देश के वासियों की स्तुति करके उन्हें उद्बोधित करने का प्रयत्न करता है—

भारत माता के बच्चे,
विश्व-बन्धु तुम हो सच्चे।
फिर तुमको किसका भय है,
उद्यत हो जय ही जय है।[2]

प्रगीत-तत्त्वों की दृष्टि से देखा जाए तो वैतालिक काव्य आवेग-दीप्त नहीं है, फिर भी कवि का सद्भाव उसमें व्याप्त है।

मूल्यांकन

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मैथिलीशरण जी ने सभी प्रकार के प्रगीतों का प्रणयन किया है। स्वतन्त्र प्रगीतों के साथ-साथ उनके प्रबन्धों में भी पर्याप्त प्रगीत अनुस्यूत हैं। मैं समझता हूँ कि गुप्त जी ने रहस्यवादी को छोड़कर शेष सभी प्रकार के अच्छे प्रगीत लिखे हैं। मैथिलीशरण रहस्यवादी नहीं हैं; परिणामतः रहस्यपरक प्रगीत भी उनके व्यक्तित्व से संस्पृष्ट नहीं हैं। उनके सर्वोत्कृष्ट प्रगीत हैं राष्ट्रीय। राष्ट्रीयता कवि का स्वानुभूत विषय है—राष्ट्रीयता उसमें कूटकूट कर भरी हुई है। हृदय-संप्रेरित होने के कारण राष्ट्रीय प्रगीत आवेश और आक्रोशमय हैं। हाँ इतना जरूर है कि वह आवेश भी अन्यान्य कवियों के समान निर्बाध और निर्बन्ध न होकर संयत और नियन्त्रित है। प्रस्तुत कवि का आवेग और आवेश

---

१. वैतालिक, संस्करण संवत् २००८, पृष्ठ ६

२. वैतालिक, संस्करण संवत् २००८, पृष्ठ ३०

उद्दाम नहीं हो जाता। वैसे सब मिलाकर गुप्त जी के प्रगीत काव्य में भावदीप्ति प्रायः क्षीण-सी ही है। इस दृष्टि से प्रबन्धान्तर्गत प्रगीत कहीं अधिक सफल हुए हैं।

सर्वाधिक सदोष है इस कवि के प्रगीतों का कलापक्ष। पहली बात तो यह कि वे प्रायः रूप-आकार की दृष्टि से प्रगीत नहीं हैं—पिंगल की लौह-शृंखला में निगड़ित हैं। दूसरे भाषा भी प्रगीतों के उपयुक्त नहीं है—उसमें अपेक्षित दीप्ति, मार्दव और मसृणता नहीं है। मैथिलीशरण जी की भाषा वर्णनात्मक अधिक है, भावाभिव्यंजक कम। और स्पष्ट शब्दों में उसमें प्रबन्धोचित वर्णन और विवरण की शक्ति है, प्रगीतोपयुक्त अभिव्यंजन की नहीं। संगीतात्मकता का भी प्रायः अभाव ही है—शब्दों में ध्वनन की क्षमता नहीं।

कुल मिलाकर गुप्त जी के प्रगीत काव्य का कलापक्ष भावपक्ष की अपेक्षा दुर्बल है। उसमें कल्पना की रंगीनी और शिल्प का औज्ज्वल्य नहीं है, भाषा में भी अपेक्षित परिमार्जन नहीं। —और अधिकांश प्रगीतों में व्यक्ति-तत्त्व के होते हुए भी वांछित आवेश का अभाव है। वस्तुतः मैथिलीशरण जी मूलतः और मुख्यतः प्रबन्ध-कवि हैं—प्रगीतकार नहीं। ये प्रगीत तो उन्होंने युगरुचि से प्रभावित होकर लिख डाले या यों कहिए कि वे युग-प्रतिनिधित्व का लोभ संवरण नहीं कर पाए। फिर भी उन्होंने पुष्कल परिमाण में प्रगीत-रचना की है। प्रबन्ध-कवि द्वारा प्रणीत यह प्रगीत-राशि अनेक दोषों की अवस्थिति में भी उसकी बहुमुखी प्रतिभा और व्यापक शक्ति की परिचायक है। और कम से कम हमारे कवि के राष्ट्रीय प्रगीतों का तो बहुत प्रचार और प्रभाव रहा है। सभी गण्यमान्य विद्वान नेताओं ने इसे स्वीकार किया है—मुक्तकण्ठ से उन प्रगीतों की सराहना की है।

मुक्तककार मैथिलीशरण गुप्त

मुक्तक का स्वरूप

स्व-अर्थ की परिव्यक्ति में स्वतःसमर्थ रचना को मुक्तक कहा जाता है। अग्नि-पुराणकार ने भी यही बात कही है—

मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्

दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि स्वतन्त्र रूप से रस-संचार में सक्षम अथवा पूर्व और पर की सहायता के बिना ही रसोद्रेक में समर्थ रचना ही मुक्तक है। अभिनवगुप्ताचार्य ने निम्न उद्धरण में इसी का निरूपण किया है—

पूर्वापर निरपेक्षाति येन
रसचर्वणा क्रियते तन्मुक्तम्।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि मुक्तक में सदैव एक ही छन्द होता है। कभी-कभी उसमें एकाधिक—दो, तीन या चार-पाँच छन्द भी हो सकते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने तो दो, तीन,

चार, पाँच और पाँच से अधिक छन्दों में पूर्ण होनेवाले मुक्तकों के युग्मक, संदानितक आदि पृथक्-पृथक् नामों का भी निर्देश किया है।[1] अभिप्राय केवल इतना है कि उसका आकार सीमित होना चाहिए।

इस प्रकार मुक्तक की दो मूल विशेषताएँ हुईं—एक संक्षिप्तता और दूसरी सरसता। संक्षेप के लिए कोई नियत-निश्चित नियम नहीं है—स्थिर-सिद्धांत नहीं है। लेकिन इतना तो सर्वमान्य ही है कि मुक्तक अन्य काव्य-रूपों की अपेक्षा संक्षिप्त होता है। यद्यपि साहित्य-दर्पणकार दो-तीन, चार-पाँच छन्दों की ही नहीं, पंचाधिक छन्दों में विस्तीर्ण रचना को भी मुक्तक ही मानते हैं। फिर भी सामान्यतः एक छन्द में सीमित रचना को ही मुक्तक कहा जाता है। इस संक्षेप के कारण ही इसमें प्रबन्ध के समान जीवन का सम्पूर्ण एवं विशद चित्र न मिलकर एक ही स्थिति अथवा भाव का सघन चित्रण उपलब्ध होता है। यह चित्र प्रणेता को केवल एक छन्द में समाहृत करना होता है अतएव वह बड़े कौशल से काम लेता है। आप देखेंगे कि मुक्तककार छोटी कहानी के लेखक के समान एक भी व्यर्थ बात अथवा शब्द नहीं आने देता। उत्कृष्ट मुक्तकों में आवश्यक का चयन और अनावश्यक का त्याग बड़ी सफ़ाई से होता है।

दूसरी विशेषता है सौरस्य। प्रबन्ध में तो नीरस पंक्तियाँ भी चल सकती हैं। वहाँ विभिन्न मार्मिक स्थलों को जोड़नेवाले नीरस स्थल भी प्रसंग की सरसता से रस-पूर्ण बने रहते हैं या यों कहिए कि प्रबन्ध के प्रवाह में मग्न पाठक को नीरसता का भान नहीं हो पाता। किन्तु मुक्तक तो पूर्वापर-निरपेक्ष होता है। अतः वह स्वयं ही, अपने आप में ही, रस-पूर्ण अथवा रसोद्रेक में समर्थ होना चाहिए। प्रत्येक मुक्तक के स्वतन्त्रतः रस-व्यंजक होने के कारण ही अनेक आचार्यों ने मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है—'यदि प्रबन्धकाव्य एक वनस्थली है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता है।'—उसमें व्यापकता एवं औदात्त्य भले ही न हो, स्वतःसंपूर्णता और रसोद्रेक निश्चय ही रहता है।—और पंडित पद्मसिंह शर्मा तो मुक्तक को गुणखानि ही मानते हैं। उनके अनुसार मुक्तक के सभी अवयव मधुर होते हैं—'मुक्तक-रचना एक मीठी रोटी के समान है, जिसे जहाँ से चाहें काटें, वहीं से मीठी निकलेगी।' आचार्य आनन्दवर्धन अमरुशतक के मुक्तकों पर ऐसे रीझे कि उसके एक-एक मुक्तक को सैंकड़ों प्रबन्धों से भी अधिक मान बैठे—

अमरुकवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते

ये सब आचार्य मुक्तक की समाहार शक्ति और सौरस्य पर मुग्ध हैं।

लेकिन मुक्तक प्रबन्ध से उच्चतर कदापि नहीं हो सकता। इसका सबसे सबल प्रमाण मेरे पास यह है कि विश्व साहित्य में महाकवि कहलानेवाले व्यक्ति प्रायः प्रबन्धकार हैं—केवल मुक्तक-रचना के बल पर यह पद प्राप्त करनेवाले कवि दो-एक ही मिलेंगे। कुछ

---

१. दे० साहित्यदर्पण—षष्ठ परिच्छेद

लोगों का विश्वास है कि मुक्तक-रचना अपेक्षाकृत अधिक श्रम-साध्य होती है। परन्तु छोटे-छोटे मुक्तक रच लेना एक बात है और सैंकड़ों पृष्ठों में विस्तृत प्रबन्ध का प्रणयन दूसरी बात है। मुक्तक में जीवन के खण्ड, खण्ड भी नहीं, उसके भी अंश का अंकन होता है। किन्तु प्रबन्ध में किसी महच्चरित्र की कल्पना साकार हुआ करती है। परिणामतः मुक्तक का प्रभाव क्षणिक होता है। इसके विपरीत प्रबन्ध चिरप्रभावक्षम होता है—वह मानव-मन के संस्कार-परिष्कार एवं उदात्तीकरण में समर्थ होता है। इसीलिए पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र कहते हैं—'मुक्तकों को काव्य का चरम लक्ष्य नहीं माना जा सकता।'[1] मैं उनके इस कथन से पूर्णतः सहमत हूँ कि प्रबन्ध ही काव्य की व्यापक उद्देश्य-पूर्ति में सहायक एवं सफल है। फिर भी मुक्तक की अपनी उपयोगिता है। थोड़े में ही रसानुभूति करा देना मुक्तक की ही सामर्थ्य है। अतिरिक्त व्यस्त आधुनिक व्यक्ति के लिए मुक्तक ही अधिक उपयोगी है। राजदरबारों में भी उसी का बोल-बाला रहा है—क्योंकि उसके माध्यम से सम्पूर्ण सभा को एक क्षण में ही चमत्कृत किया जा सकता था। वहाँ प्रबन्ध के श्रवण का धैर्य किसको था? इस प्रकार मुक्तक भी हेय नहीं है—उसका जीवन में अपना स्थान है।

अब प्रश्न रह जाता है रसहीन पद्यों का। क्या वे पद्य भी जो नीरस हैं मुक्तक कहलाएँगे? ये पद्य दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिनमें नीति का व्याख्यान होता है। उन्हें तो काव्य की परिधि में रखना ही भूल है। नहीं तो वैद्यक और ज्योतिष के पद्यबद्ध ग्रन्थों को भी काव्य मानना होगा। किन्तु कुछ पद्य ऐसे भी होते हैं जो रस-व्यंजना में तो नहीं पर चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। और स्पष्ट शब्दों में उनमें सरसता तो नहीं लेकिन वक्रता होती है जो पाठक को बरबस आकृष्ट कर लेती है। ऐसी रचनाओं को भी यदि निम्नतर कोटि का काव्य मान लिया जाए तो शायद कोई हर्ज नहीं। वस्तुतः इन वक्रतापूर्ण उक्तियों को ही सूक्ति कहा जाता है—और इनमें निश्चित रूप से कुछ काव्य-तत्त्व—कम से कम वक्रता तो अवश्य—विद्यमान रहते है।

गुप्त जी का मुक्तक काव्य

मैथिलीशरण मूलतः और मुख्यतः प्रबन्धकार हैं। किन्तु प्रबन्धों के साथ अन्यान्य प्रकार की रचना भी वे करते रहते हैं। और फिर मुक्तक तो सभी कवियों ने लिखे हैं—शायद अभ्यास के लिए मुक्तक का प्रणयन ही सुगम रहता है। गुप्त जी ने भी मुक्तक लिखे हैं। प्रारम्भ में तो वे मुक्तककार ही थे—सरस्वती आदि पत्रिकाओं में बराबर उनकी कविताएँ छपती रहती थीं। मैथिलीशरण की अधिकांश, करीब-करीब सभी मुक्तक कविताओं के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनके नाम ये हैं—पद्य-प्रबन्ध, स्वदेश-संगीत और मंगल-घट। ये पुस्तकें निश्चय ही मुक्तक-संग्रह हैं। इनमें संकलित कविताओं का एक-दूसरी से कोई सम्बन्ध नहीं। किन्हीं दो कविताओं के विषय में आपको समानता नहीं मिलेगी, और उनके रचनाकाल में भी वर्षों का अन्तराल है। प्रत्येक कविता का अपना उद्देश्य भी पृथक् है—

---

१. बिहारी की वाग्विभूति, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३०

क्योंकि इनमें भिन्न-भिन्न समयों पर विभिन्न मनोदशाओं के प्रभाव में की गई रचनाएं संकलित हैं
मैंने अभी कहा कि इन तीनों पुस्तकों में मुक्तक संगृहीत हैं ('विकट भट' और 'नकली किला
को छोड़कर जो कि अब विकट भट और रंग में भंग के नाम से, स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित हो
चुकी हैं)। लेकिन आपको इनमें 'निन्यानवे का फेर', 'बाजी प्रभु देशपांडे' आदि कुछ आख्यान
भी मिलेंगे। यद्यपि ये आख्यान काफ़ी संक्षिप्त हैं, फिर भी निश्चय ही इन्हें मुक्तक नहीं कहा
जा सकता। कुछ रचनाओं में ऋतु-वर्णन हुआ है—और कुछ ऐसी भी हैं जिनमें किसी एक
ही विषय का प्रतिपादन कर दिया गया है। उदाहरणतः 'स्वर्ग-सहोदर' में भारत की श्रेष्ठता
का व्याख्यान दो-तीन पृष्ठों में हुआ है। इस प्रकार की रचनाओं को प्रबन्ध या मुक्तक किसी
के भी अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। 'निन्यानवे का फेर' आदि आख्यानों को पं० विश्वनाथ
प्रसाद मिश्र द्वारा उल्लिखित काव्य-निबंध माना जा सकता है। उनका कथन है—"हिन्दी में कुछ
कथात्मक कविताएँ भी लिखी जाने लगी हैं...प्रबन्धकाव्य की भांति इनमें वस्तु-वर्णन एवं
कथा-विस्तार नहीं होता अर्थात् इनमें बन्ध तो होता है पर प्रबन्ध नहीं।"[1] गुप्त जी के ये
संक्षिप्त आख्यान ऐसे ही हैं। लेकिन 'काव्य-निबंध' में निबंध शब्द भ्रमात्मक है वरन् अनुप-
युक्त है क्योंकि आज निबन्ध का सम्बन्ध विचार से है, इतिवृत्त से नहीं। इसलिए मेरा विचार
है कि यदि इन छोटे-छोटे आख्यानों को काव्य-निबन्ध की बजाए पद्य-कथा कहा जाए जो
अधिक संगत होगा।—और मैं समझता हूँ कि जिन कविताओं में ऋतु-वर्णन हुआ है या
जिन लम्बी कविताओं में एक ही विषय का प्रतिपादन हुआ है उन्हें ध्वन्यालोक (तृतीय
उद्योत) में निर्दिष्ट पर्यायबन्ध मान लेना चाहिए। ध्वन्यालोक के अनुसार 'वसन्तादि किसी
एक ही विषय के वर्णन के उद्देश्य से प्रवृत्त काव्य-विशेष को पर्यायबन्ध कहते हैं।'[2] गुप्त जी
की इन कविताओं में भी किसी ऋतु का वर्णन अथवा देश की श्रेष्ठता या नागरी लिपि की
उपयोगिता आदि का आलेखन हुआ है। इसीलिए मैं इन्हें पर्यायबन्ध के अन्तर्गत रखता हूँ।
इन पद्यबद्ध लघुकथाओं और पर्यायबन्धों की अवस्थिति में भी पद्य-प्रबन्ध, स्वदेश-संगीत
और मंगल-घट ये तीनों पुस्तकें मुक्तक-संग्रह ही हैं—क्योंकि पर्यायबन्ध आदि के अन्तर्गत
आनेवाली रचनाएँ तो बहुत कम, केवल आठ-दस ही हैं।

उक्त संग्रहों में मुक्तक कही जानेवाली रचनाएं भी थोडी बड़ी हैं। आज हम केवल एक
छन्द की रचना को मुक्तक समझने के आदी हो गए हैं। इस दृष्टि से गुप्त जी द्वारा लिखित
मुक्तक दो-एक ही मिलेंगे। उनके अधिकांश मुक्तक चार-पाँच अथवा अधिक छन्दों में
प्रसारित हैं अतः वे सामान्य धारणा से बड़े हैं। यह बात नहीं कि उन्होंने किसी छोटे छन्द
का प्रयोग किया हो अथवा एक-वृत्ताश्रित मुक्तकों में बहुधा प्रयुक्त छन्दों का प्रयोग न किया
हो। पर वे भी इकट्ठे चार-चार, पांच-पांच आते हैं, कम नहीं। गुप्त जी का बहु-उद्धृत
छप्पय—

---

१. वाङ्मय-विमर्श, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४६

२. हिन्दी ध्वन्यालोक—आचार्य विश्वेश्वर प्रसाद, संपादक डा० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५०

जिसकी रज में लोट-लोटकर बड़े हुए हैं
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं[१]
आदि ।

—भी एक लम्बी कविता का अंश है, स्वतःपूर्ण नहीं। अभिप्राय यह कि मैथिलीशरण के मुक्तकों में तत्संबन्धी प्रचलित दृष्टिकोण की प्रतिच्छाया आपको नहीं मिलेगी—यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से वे मुक्तक ही हैं, उनका परिगणन निर्बन्ध काव्य के अन्तर्गत ही होता है ।

भारत-भारती और हिन्दू को भी कुछ लोग मुक्तक मानते हैं। उदाहरणतः श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' इन दोनों पुस्तकों को स्फुट काव्य कहते हैं ।[२] पर यह ठीक नहीं है क्योंकि इनके प्रकृत सौंदर्य की क्षति के बिना पद्यों के क्रम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता । यही बात कवितावली के विषय में भी कही जा सकती है—फिर भी पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का आग्रह है कि उसे मुक्तक ही माना जाए ।[3] किन्तु मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ—जहाँ क्रम-परिवर्तन की स्वतन्त्रता नहीं है वहाँ मैं मुक्तक की स्थिति मानने को तैयार नहीं हूँ । अतः मेरे विचार में भारत-भारती और हिन्दू भी मुक्तक नहीं हैं। क्योंकि इनके भी पद्यों को, पद्यों ही क्या उपशीर्षकों को भी, स्थानान्तरित नहीं कर सकते। कुछ लोग इन्हें शिक्षात्मक काव्य कहकर संतुष्ट हो जाते है । लेकिन यह तो कोई काव्य-रूप नहीं हुआ । और फिर शिक्षात्मक तो मूलतः सभी काव्य होते हैं । शिक्षारहित काव्य शायद काव्य ही नहीं रह जाएगा । एक अंग्रेज़ विद्वान् ने ठीक ही कहा है—"In a sense most good poetry teaches (is, in Arnold's words, a 'criticism of life')."[४] अभिप्राय यह कि भारत-भारती और हिन्दू शिक्षात्मक काव्य तो है पर मुक्तक नहीं। किन्तु इन्हें प्रबन्ध भी नहीं कह सकते—क्योंकि यहाँ कथा-सूत्र का एकदम अभाव है । वास्तव में इनमें एकता है विचार की—हिन्दू और भारत-भारती के तल में आरम्भ से अंत तक विचार का सूत्र एक-तार अनुस्यूत है । बस, इन दोनों काव्यों में यही सम्बद्धता है, यही बंध है । अंग्रेज़ी में भी चतुर्दशपदी-बन्ध (Sonnet Sequence) मिलते हैं जिनमें कि विचार की, या फिर भाव की एकता मिलती है । किन्तु हिन्दी में इस प्रकार का कोई काव्य-रूप प्रचलित एवं प्रसिद्ध नहीं है । इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि भारत-भारती और हिन्दू का ऐक्य सॉनेट सीक्वेन्स से भी प्रगाढ़ है, उससे भी अधिक व्यापक है । यही चीज़ यदि गद्य में लिखी जाती तो निबंध कहलाती—यहाँ 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग मैं साहित्यिक निबन्ध के लिए कर रहा हूँ जिसमें कि छन्दमय माध्यम के अतिरिक्त काव्य के प्रायः सभी तत्त्व विद्यमान रहते हैं। अतः मेरा निवेदन है कि हिन्दू और भारत-भारती को काव्य-निबन्ध कहना चाहिए । अस्तु !

---

१. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३०
२. दे० गुप्त जी की काव्यधारा, संस्करण सन् १९४६, पृष्ठ ९६
३. दे० बिहारी की वाग्विभूति, तृतीय संस्करण, पृष्ठ २५-२६
4. An Introduction to Poetry by Raymond Macdonald Alden, Edition September, 1937, page 37

अब इन पद्यात्मक काव्य-निबन्धों और मुक्तकों पर काव्य की दृष्टि से भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। मैथिलीशरण अधिकांशतः राष्ट्रीय भावनाओं से परिपूर्ण मुक्तक लिखते हैं। काव्य-निबन्धों—भारत-भारती और हिन्दू में भी यही भावना काम कर रही है। इन सब में भारत के प्राचीन गौरव, वर्तमान अधोगति और स्वातन्त्र्य की प्रेरणा आदि का आलेखन मिलता है। इस प्रकार अधिकतर विषाद और उत्साह की व्यंजना हुई है। अत्याचारियों के प्रति रोष और मुक्तकों में तो भक्तिपरक शृङ्गार भी कहीं-कहीं मिल जाता है। अभिप्राय यह कि गुप्त जी इनमें करुण, वीर, रौद्र और शृङ्गार को स्थान देते हैं। भारत-भारती में विशेषतः उसके वर्तमान खण्ड में शोक की ही व्यंजना हुई है। हिन्दू में अत्याचारियों—प्रमुखतः अंग्रेज़ों के प्रति क्रोध में रौद्र के दर्शन किए जा सकते है। स्वदेश-संगीत से वीर का भी एक सुख-सरल उदाहरण लीजिए—

यह न समझो तुम कि हम डर जायँगे
प्राप्य अपन छोड़कर घर जायँगे
चित्त में यह ठान हमने है लिया—
मोद पाकर मान पर मर जायँगे।[1]

इन पंक्तियों में शीश-दान के उत्साह का गान है। अहिंसात्मक वीरत्व का व्याख्यान है। भक्तिपरक शृंगार का चित्रण भी निम्नांकित आशीर्वादात्मक छन्द में देखिए—

हलधर बन्धु को उठाये गिरिराज सुन,
आई वृषभानुजा मराल की सी चाल से।
देख सखियों के संग सुन्दर लता सी उसे,
मुग्ध गिरिधारी हुए चंचल तमाल से।
डगता जान कम्प से करस्थ शैल क्रीड़ा का,
व्रीड़ावश बन्द किये लोचन विशाल से।
ऐसे घनश्याम का पवित्र स्वेद नीरजाल,
त्राण करे सर्वदा कराल काल-ज्वाल से॥[2]

यहाँ पर राधा और कृष्ण आलम्बन तथा आश्रय हैं। राधा की मराल-सी चाल तथा शारीरिक सौंदर्य उद्दीपन हैं। कृष्ण का कम्प एवं स्वेद अनुभाव हैं। चांचल्य आदि संचारी हैं। इस प्रकार शास्त्राभ्यासियों के लिए पूर्ण रस-सामग्री उपस्थित है।

वीभत्स, अद्भुत और हास्य का मैथिलीशरण के मुक्तकों में अभाव ही मिलेगा। यों तो एकाध स्थान पर वीभत्स का स्पर्श भी मिल जाता है—किन्तु वह रौद्र अथवा करुण का सहायक ही है—स्वतन्त्र नहीं।

कुल मिलाकर इन संग्रहों में कवित्वपूर्ण स्थल बहुत कम हैं। इन सब में हिन्दू तो विशेष रूप से नीरस है। श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने 'गुप्त जी की काव्य-धारा' में हिन्दू में

---

१. स्वदेश-संगीत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११५

२. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २८

संकलित 'विधवा' कविता की तुलना मौलाना हाली की इसी विषय की कविता से काफ़ी लम्बे उद्धरण देकर की है।[1] मैं उन्हें यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं समझता। किन्तु हिन्दू में 'अकड़ कर बैठी हुई नीरसता' से इन्कार नहीं किया जा सकता। अन्य संग्रहों में भी रस की अविरल धारा नहीं है। कई खण्ड तो सर्वथा नीरस और अरोचक हो गए हैं। वास्तव में आदर्शवादिता और उपदेशक-वृत्ति गुप्त जी का पीछा नहीं छोड़ती। हाँ उनकी पद्य-कथाएँ फिर भी काफ़ी रोचक हैं। यद्यपि रस का प्रवाह तो वहाँ भी क्षीण है किन्तु वहाँ 'केवल कथांश का वर्णन (मुख्य) होने से रस-बन्ध का विशेष आग्रह नहीं होता।'[2]

इस विषय में इतना और वक्तव्य है कि मैथिलीशरण में भावुकता की कमी नहीं है—किन्तु उनमें कोरी भावुकता भी नहीं है। वास्तव में उनकी काव्य-साधना एक कर्मयोग है जिसमें भावना का मणि-कांचन संयोग रहता है। इसीलिए गुप्त जी जनसाधारण के—जन जन के—कवि बन सके हैं। यदि उनमें केवल भावुकता का आतिशय्य होता तो वे चाहे और किसी भी कोटि के कवि होते, जनसाधारण के नहीं हो सकते थे। और यदि केवल कर्मयोगी होते तो नेता भले ही बन जाते—कवि नहीं।

नाटककार मैथिलीशरण गुप्त

साहित्य की वह विधा जिसका आस्वादन मुख्यतया नेत्रों द्वारा किया जाता है दृश्य-काव्य कहलाती है। यद्यपि आज नाट्य साहित्य केवल पाठ्य भी होने लगा है, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि दृश्य और श्रव्य की विभाजक रेखा अभिनय ही है। (वास्तव में रंग-मंच आज तक कभी हिन्दी वालों के हाथ में नहीं रहा इसीलिए अभिनेय नाटक भी प्रायः अनभिनीत ही रहे—और अब पाठ्य नाटकों की भी रचना होने लगी।) आचार्यों ने वस्तु, नेता और रस के आधार पर दृश्यकाव्य के दो भेद किए हैं—रूपक और उपरूपक। रूपक एवं उपरूपक के भी क्रमशः दस और अठारह भेद शास्त्रों में किए गए हैं। किन्तु आज ये भेदोपभेद शास्त्र की शोभा ही बढ़ाते हैं—लेखक और पाठक इनकी विशेष चिन्ता नहीं करते। नाटक भी रूपक के दस भेदों में से एक है—किन्तु अब यह जातिवाचक शब्द बन बैठा है। नाटक शब्द का इतना अर्थ-विस्तार हुआ कि अब वह दृश्यकाव्य का पर्यायवाची बन सकता है। आगे मैं भी नाटक शब्द का प्रयोग इस व्यापक अर्थ में ही करूँगा।

---

१. संस्करण सन् १९४६, पृष्ठ १०४

२. हिन्दी ध्वन्यालोक—आचार्य विश्वेश्वर : डा० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५१

नाटक के तत्त्व

साहित्य की प्रत्येक विधा के तत्त्व अपनी विशिष्टताओं के अनुसार हुआ करते हैं। नाटक की भी कुछ विशेषताएँ हैं : पहली बात तो यह है कि इसमें वस्तु की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर अधिक बल रहता है। दूसरे इसका कथानक कथित न होकर अभिघटित होता है—पात्रों के कथोपकथन और क्रियाकलाप द्वारा मंच पर उसका प्रदर्शन होता है। तीसरे नाटक सोद्देश्य होता है—उद्देश्य चाहे पाठकों और प्रेक्षकों में रस-सृष्टि हो और चाहे किसी समस्या की उपस्थिति एवं समाधान। इन विशेषताओं के आधार पर ही नाटक के निम्नलिखित तत्त्व होंगे :

१. कथावस्तु
२. चरित्र-चित्रण
३. उद्देश्य
४. कथोपकथन
५. अभिनय

भारतीय आचार्यों ने स्पष्ट शब्दों में कहीं भी नाटकीय तत्त्वों का परिगणन नहीं किया है। किन्तु वस्तु, रस एवं नेता को उसके विभिन्न रूपों का भेदक अवश्य माना है।[१] अभिनय का उल्लेख शायद इसलिए नहीं किया गया कि वह तो सभी नाट्य-रूपों में एक समान विद्यमान रहता है। अतः प्रकारान्तर से संस्कृत आचार्य के अनुसार नाटक के निम्नलिखित चार तत्त्व हुए—

१. वस्तु
२. नेता
३. रस
४. अभिनय

इनमें से नेता का चरित्र-चित्रण में और रस का उद्देश्य में अन्तर्भाव हो सकता है क्योंकि मैं समझता हूँ, नेता से यहाँ अभिप्रेत हैं सभी पात्र अथवा चरित्र। इसलिए प्राचीन आचार्य का नेता और आधुनिक आलोचक का चरित्र-चित्रण पर्यायवाची ही हैं। हाँ, जहाँ तक नायक की बात है उसका तो प्राचीन-अर्वाचीन सभी लेखक और आलोचक विशेष ध्यान रखते ही हैं। रस और उद्देश्य भी वास्तव में एक ही बात है। अनेक नाटकों का तो उद्देश्य ही रस-संचार होता है। परन्तु जिनमें किसी समस्या का समाधान होता है उनमें भी विकीर्ण वृत्तियों के संश्लेषण और शमन द्वारा रस-दशा की ही सृष्टि होती है। तात्पर्य कहने का यह है कि रस और उद्देश्य का अभिप्राय भी एक ही है। शेष रहा कथोपकथन। पौरस्त्य आचार्य ने तो उसे वाचिक अभिनय के अन्तर्गत मानकर छोड़ दिया है—किन्तु वह नाटक का अनिवार्य अंग है। क्योंकि नाटक में कथोपकथन के अभाव में एक पग भी नहीं चला जा

---

१. वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः— दशरूप

सकता—वहाँ लेखक मंच-निर्देशों के अतिरिक्त अपनी ओर से कुछ नहीं कह सकता। ऐसी स्थिति में कथोपकथन को भी स्वतन्त्र रूप में तत्त्व मान लेना ही उचित है।

अब प्रत्येक तत्त्व का संक्षिप्त विवेचन किया जाएगा :

वस्तु

किसी भी कृति की कथा को वस्तु के नाम से अभिहित किया जाता है। यह नाटक का आधारभूत अंग है। यद्यपि आज इस तत्त्व को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता—चरित्र-चित्रण को प्रधान माना जाने लगा है फिर भी नाटक कथाकाव्य है। उसमें वस्तु का त्याग असम्भव है। नाटक की कथावस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासंगिक। नाटक के फल को अधिकार और उसके भोक्ता को अधिकारी कहते हैं। अतः उससे अर्थात् मुख्य पात्र से सम्बद्ध कथा को, और स्पष्ट शब्दों में मुख्य कथा को, आधिकारिक कहते हैं। प्रसंगवश आई हुई बातों को—नायक-नायिका-इतर पात्रों की कथा को प्रासंगिक कहा जाता है। इन दोनों प्रकार की कथाओं के समुचित संगुम्फन पर ही नाटककार की सफलता निर्भर है।

एक बात और—वह यह कि नाटक की कथा का प्रवाह सुख-सरल न होकर वक्रता-पूर्ण होना चाहिए। उसमें मंच-आकर्षण की क्षमता होनी चाहिए।

चरित्र-चित्रण

घटना के कर्त्ता और भोक्ता चरित्र कहलाते हैं। जब नाटक में कथा होगी तो उसके वाहक चरित्र भी होंगे ही। चरित्र विकासशील होने चाहिएँ, और सभी में व्यक्तिगत वैशिष्ट्य। पुराना आचार्य चरित्र की जगह नेता शब्द का प्रयोग करता था। और स्पष्ट शब्दों में वह नायक के अतिरिक्त अन्य पात्रों के कुशल चित्रण की ओर सजग नहीं था। नायक भी साँचे में ढले हुए हुआ करते थे—उनके व्यक्तित्व की रेखाएँ इतनी स्पष्ट होती थीं कि वे एकदम आदर्श होते थे। उनमें विकास की गुंजाइश नहीं होती थी। किन्तु अब दृष्टिकोण बदल गया है। आज कोई भी पात्र आदर्श अथवा स्थिर नहीं है—सभी मानव हैं, गतिशील हैं। इसीलिए आधुनिक नाटकों में चरित्र-चित्रण की रोचकता होती है—वस्तु से भी अधिक !

उद्देश्य

सभी श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों का कुछ न कुछ उद्देश्य हुआ करता है। नाटक भी मनोरंजन के साथ-साथ कुछ सन्देश-दान करता है। केवल मनोरंजन भी कुछ विशिष्ट प्रकारों—जैसे प्रहसन आदि—का लक्ष्य हुआ करता था। किन्तु आज हास्य भी परिहास के रूप में—व्यंग्य के रूप में होता है। उसके पीछे भी किसी सामाजिक समस्या के निराकरण का प्रयत्न रहता है। अभिप्राय यह कि आज के सभी नाटक सोद्देश्य होते हैं।

कथोपकथन

कथोपकथन के माध्यम से नाटक आगे बढ़ता है। यद्यपि पं० गोविन्दवल्लभ पन्त का वरमाला आदि कुछ नाटक ऐसे भी हैं जिनमें मूक-अभिनय को भी स्थान मिला है, फिर भी

कथोपकथन नाटक का प्रधान अंग है—अधिकांश नाटकों के लिए यह अनिवार्य है। विशेषता संवादों की यह है कि वे छोटे-छोटे और स्वाभाविक हों। कथोपकथन में बातचीत का रस होना चाहिए।

अभिनय

अभिनय ही नाटक को साहित्य की अन्य विधाओं से पृथक् करनेवाला तत्त्व है। यदि केवल शैली की दृष्टि से देखा जाए तो इसे गद्य अथवा चम्पूकाव्य के अन्तर्गत रख सकते हैं—किन्तु अभिनय की विशेषता के कारण ही इसे भिन्न माना जाता है। आज कुछ नाटक केवल पाठ्य भी लिखे जा रहे हैं। लेकिन यदि वे अभिनेय भी होते तो नाटक की दृष्टि से उन्हें अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त होती।

नाटक के भेद

पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि नाटक जातिवाचक शब्द बन गया है।—और आचार्यों ने वस्तु, रस और नेता के आधार पर उसके २८ भेद किए हैं (१० रूपक के तथा १८ उपरूपक के)। किन्तु अब इस शास्त्रोक्त विभाजन का विशेष मूल्य नहीं रहा। अब विषय, विचार एवं रंगमंच की दृष्टि से नाटक के भेद किए जाते हैं। विषय की दृष्टि से पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक अथवा नैतिक, राजनैतिक और समस्यात्मक आदि भेद किए जा सकते हैं। विचार की दृष्टि से आदर्शवादी और यथार्थवादी, रंगमंच की दृष्टि से अभिनेय और पाठ्य तथा परिमाण के आधार पर नाटक और एकांकी आदि भेद किए जाते हैं। इस तरह आज का प्रकार-विभाजन शास्त्रीय पद्धति पर न होकर नवीन दृष्टियों से होता है।

मैथिलीशरण जी के नाटक

मैथिलीशरण जी मूलतः और मुख्यतः कवि हैं—नाटककार नहीं। आज हम उनके कवि-रूप से ही परिचित हैं। किन्तु उन्होंने तीन नाटक भी लिखे हैं—यह उनके साहित्यिक जीवन के आरम्भकाल की बात है। प्रौढ़ि की उपलब्धि से पूर्व संवत् १९७२ से १९८२ तक के अन्तराल में गुप्त जी ने तिलोत्तमा, चन्द्रहास और अनघ का प्रणयन किया है। मूलतः कवि होने पर भी गुप्त जी ने तीन-चार कारणों से नाटक-रचना की है। पहला कारण तो यह है कि उस समय तक उनको अपनी सीमा और शक्ति का सम्यक् ज्ञान नहीं था। जब तक रचयिता को यह ज्ञान नहीं होता तब तक उसका उपयुक्त क्षेत्र निश्चित नहीं हो सकता, और वह विभिन्न क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का प्रयोग करता रहता है। मैथिलीशरण जी ने ही नहीं अन्य अनेक साहित्यकारों ने भी ऐसे ही प्रयोग किए हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय के उपन्यास, मुन्शी प्रेमचन्द का नाटक तथा आचार्य शुक्ल की कविताएं मेरे अभिमत की पुष्टि करती हैं।

दूसरा कारण है युग की मांग। हिन्दी में आधुनिक काल से पहले नाटक नहीं थे। भारतेन्दु-मण्डल ने कुछ अंशों में इस क्षति की पूर्ति की। फिर द्विवेदी जी ने भी नाटक-रचना के लिए लेखकों को प्रोत्साहित किया। उसी प्रोत्साहन एवं प्रेरणा के फलस्वरूप प्रस्तुत कवि

ने भी नाटक लिखे। तीसरी बात यह थी कि सदुद्देश्य के वहन के लिए नाटक सर्वाधिक लोकप्रिय एवं सशक्त माध्यम था। नाटक का प्रभाव कविता आदि की अपेक्षा अधिक व्यापक है—क्योंकि जनसाधारण भी उससे लाभान्वित हो सकते हैं। अतः सुधार के इच्छुक कवि ने कविता के साथ-साथ नाटक को भी अपनाया।

मैथिलीशरणकृत तीन नाटकों में से दो—तिलोत्तमा और चन्द्रहास पौराणिक हैं—और अनघ आधुनिक लोकवृत्त पर आश्रित गीति-नाट्य है। इन्हीं के आधार पर गुप्त जी की नाट्यकला के विवेचन का प्रयत्न करेंगे :

वस्तु

महाकाव्य-विषयक धारणाओं के विवेचन में कहा जा चुका है कि उनका झुकाव इतिहास-सिद्ध कथाओं की ओर है—काल्पनिक की ओर नहीं। उनके इतिहास की परिधि अवश्य व्यापक है। वह आज के प्रमाण-शुद्ध इतिहास तक ही नहीं रामायण-महाभारत वरन् वेद-पुराण तक विस्तीर्ण है। नाटक में भी उनकी यही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। चन्द्रहास और तिलोत्तमा के कथानक तो स्पष्टतः पौराणिक हैं ही—अनघ की वस्तु भी सामयिक वृत्तों पर आधृत है। अतएव उसे भी सर्वथा कल्पित अथवा उत्पादित नहीं माना जा सकता। और स्पष्ट शब्दों में उसमें गांधी युग की बात है जो अभी इतिहास नहीं बन पाया है। इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि गुप्त जी जहाँ नाटकों के लिए कल्पित वस्तु का चयन नहीं करते वहाँ महाकाव्यों के समान अतिप्रसिद्ध कथानक भी नहीं अपनाते। अनघ में प्रख्यात चरित को स्वीकार भी किया है तो लघुरूप में—चरित्र-पटी को भी सीमित अथवा संकुचित कर दिया गया है। इसीलिए प्रचुर मौलिक उद्भावनाओं के अभाव में भी उनमें काफ़ी रोचकता है। दूसरे शब्दों में ऐतिहासिक-पौराणिक अथवा अनुत्पादित होकर भी ये कथाएं अपन अप्रसिद्धि एवं संक्षेपण आदि के कारण रुचिर बन गई हैं।

इन नाटकों के वस्तु-विन्यास में कोई विशेषता नहीं मिलती। कथावस्तु एकदम सपाट है—ऋजु-सरल है। उनके नाटकों के कथानक में नाटकीय व्यापार एवं गति का अभाव है; प्रौढ़ कल्पना का समावेश वहाँ आपको नहीं मिल सकता। वस्तु को वांछित विस्तार एवं वैविध्य प्रदान करने के लिए प्रासंगिक कथाएं भी आवश्यक हुआ करती हैं। पर मैथिलीशरण जी के नाटकों में उनकी न्यूनता खटकती है। प्रासंगिक का सर्वथा अभाव तो नहीं है—चन्द्रहास में विषया और भाभी का परिहास तथा अनघ में सुरभि और मालिन की वार्ता आदि प्रासंगिक के अन्तर्गत ही आएंगी, फिर भी इतना स्पष्ट है कि प्रासंगिक वृत्त अपेक्षित मात्रा में नहीं हैं। इस प्रकार गुप्त जी के कथानक जटिलताओं से मुक्त हैं अतएव उनकी सुव्यवस्था के लिए विशेष कौशल की अपेक्षा नहीं हुई।

चरित्र-चित्रण

गुप्त जी अधिकांशतः आदर्श चरित्रों को ग्रहण करते हैं—उनमें विकास की गुँजाइश नहीं होती। चन्द्रहास और तिलोत्तमा के चरित्र स्थिर एवं गतिहीन हैं। चन्द्रहास के पात्र तो कतिपय वृत्तियों के प्रतीक ही हैं अतः उनमें एकरसता है। तिलोत्तमा के पात्र भी अति-

मानवीय—सुर अथवा असुर होने के कारण विकासशील नहीं हैं। क्योंकि वे अपने गुण-अवगुणों के लिए पहले से ही प्रसिद्ध हैं। अपेक्षाकृत अनघ का चरित्र-निरूपण अच्छा है—उसके रचनाकाल तक लेखक की कला काफ़ी निखर चुकी थी। अनघ में स्नेहमयी माता के कोमल-स्निग्ध चित्रण में रचयिता ने कौशल का परिचय दिया है।—और अनघ मघ का उज्ज्वल चरित्र तो नाटक का प्राण है ही। किन्तु उसके चरित्रों में भी अपेक्षित गीतिमयता नहीं है। यद्यपि मां, रानी और सुरभि के कोमल-करुण व्यक्तित्व के संस्पर्श से कुछ माधुर्य अवश्य आया है पर अधिकांश पात्र परुष-कठोर हैं जो गीतिनाट्य की आत्मा के प्रतिकूल है। अनघ में व्यवहार-निपुण मुखिया का भी कुशल अंकन हुआ है, यद्यपि प्रेमचन्द की कोटि का वह नहीं बन पाया।

चरित्र-चित्रण के विषय में दूसरी बात यह है कि मैथिलीशरण विभिन्न चरित्रों का सापेक्षिक महत्त्व स्पष्ट नहीं कर पाते—उनके नाटकों में प्रमुख और गौण पात्रों के निश्चय में संशय बना रहता है। उदाहरण के लिए तिलोत्तमा नाटक में तिलोत्तमा को फल-प्राप्ति होती है। उसी के नाम पर नाटक का नाम रखा गया है। किन्तु नाटक में उसका प्रवेश अन्तिम अंक से पूर्व नहीं होता। इसी प्रकार सुरभि अनघ की नायिका है पर मां और मगध की रानी के समक्ष उसका चरित्र उभर नहीं पाता। अतः क्रमागत नियम के अनुसार नायिका होने पर भी उसका नायिका-रूप संदिग्ध ही है। वस्तुतः नन्ददुलारे जी ठीक कहते हैं, "नाटक के पूरे प्रवाह में प्रमुख पात्रों का संस्थान होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो किसी पात्र की सापेक्षिक प्रमुखता में संदेह हो जाता है।"[१] तिलोत्तमा और अनघ के चरित्र-चित्रण में नाट्य-विधान की दृष्टि से यह त्रुटि ही मानी जाएगी। चन्द्रहास इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है। यद्यपि वहाँ भी विषया अधिक देर नाटक में नहीं रहती पर उससे अधिक क्रियाशील अन्य कोई नारी-पात्र भी वहाँ नहीं है। इसीलिए उसका नायिका होना निर्विवाद एवं असंदिग्ध है।

कथोपकथन

कथोपकथन का सबसे पहला गुण स्वाभाविकता है। स्वाभाविकता दो प्रकार की होती है: एक तो परिस्थिति की अनुकूलता, दूसरी साधारण बोल-चाल का रंग। किन्तु मैथिलीशरण जी के कथोपकथन में ये गुण बहुत कम मिलते हैं। सभी पात्र एक ही प्रकार की भाषा बोलते हैं—उनकी भाषा में स्थिति और स्वभावगत अन्तर नहीं है। और बात-चीत का रस भी उनमें नहीं है। बोल-चाल में प्रयुक्त भाषा से यह अभिप्रेत नहीं कि वह बिल्कुल बोल-चाल की ही हो—यदि ऐसा होगा तो उसमें अनेक त्रुटियां मिलेंगी। वरन् अभिप्राय इसका यह है कि उसमें शिष्ट समाज की बात-चीत का ढंग हो। प्रस्तुत लेखक अपने कथोपकथन को दीप्ति प्रदान नहीं कर पाता। गीति-नाट्य अनघ तक के संवादों में अपेक्षित कान्ति एवं धार नहीं है। इसके अतिरिक्त उसके नाटकों के कथोपकथन पद्य के उन्मुक्त

१. आधुनिक साहित्य, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २४६

प्रयोग से और भी बोझिल और अव्यावहारिक हो गए हैं। वैसे गुप्त जी के संवाद संक्षिप्त और सरल होते हैं। वे भाषण के विस्तार, व्यंग्य के दंश और दर्शन के गारिष्ठ्य से एकदम मुक्त हैं। पर वे (गुप्त जी) कहीं भी प्रतिभा खड़ी नहीं कर पाते। उनके कथोपकथन में चमत्कार और वाग्वैदग्ध्य की कमी रहती है। दो-एक स्थलों पर संवाद सजीव और रस-दीप्त भी हैं—जैसे चन्द्रहास में विषया और विलासिनी का व्यंग्य-विनोद तथा अनघ में मालिन और सुरभि की विनोद-वार्ता आदि। विषया और विलासिनी के मधुर-स्निग्ध आलाप से एक उदाहरण लीजिए :

विषया—किसे, क्या दे दिया ?

विलासिनी—किसे दे दिया, सो तो तुम्हीं जानो। पर क्या दे दिया, यह मैं बता सकती हूं।

विषया—बताओ।

विलासिनी—देखती हूं मन ही दे दिया है।

विषया—जाओ, मैं तुमसे न बोलूंगी।

विलासिनी—अब मुझसे क्यों बोलोगी, बोलने वाले जो मिल गए हैं। पर जब तुम मुझसे नहीं बोलतीं तब मैं ही तुम से क्यों बोलूं ?[1]

पर ऐसे चमत्कृत स्थल गुप्त जी के नाटकों में गिनती के ही हैं—प्रयास करने पर भी दो-चार ही मिल सकेंगे।

उद्देश्य

मैथिलीशरण जी सोद्देश्य नाटक लिखते हैं, उन्होंने सदुद्देश्य से प्रेरित होकर ही नाटक लिखे थे। वस्तुतः उन्होंने नाटक को अपनाया ही इसलिए था कि उसके माध्यम से सुगमता-पूर्वक कोई संदेश प्रसारित किया जा सकता है।—और हम देखते हैं उनके सभी नाटक उसके वहन में सक्षम हैं। किन्तु वह उद्देश्य है अत्यन्त स्पष्ट एवं मुखर : चन्द्रहास का प्रतिपाद्य है नियति की प्रबलता—वहाँ स्वयं नियति ही पात्र-रूप में आकर बार-बार इस तथ्य की घोषणा करती है। तिलोत्तमा के प्रणयन का उद्देश्य भी सुन्द-उपसुन्द के निम्न पद्य में कथित है—

सुन्द और उपसुन्द का है सब से अनुरोध।
सावधान, देखो, कभी उठे न बन्धु-विरोध ॥[2]

इसी प्रकार अनघ का संदेश भी मघ के शब्दों में उल्लिखित है। तात्पर्य कहने का यह कि मैथिलीशरण जी के नाटकों में उद्देश्य व्यंग्य न होकर व्यक्त रहता है।

भारतीय दृष्टि से नाटक का साध्य रस है—सहृदय प्रेक्षकों में रस-संचार ही उसका उद्देश्य है। वस्तु, पात्र आदि तो साधन मात्र हैं। गुप्त जी भी अपने नाटकों में रस-योजना का सर्वाधिक ध्यान रखते हैं। चरित्र-चित्रण एवं परिस्थिति-निरूपण की ओर वे इतने सजग नहीं

---

१. **चन्द्रहास, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ १२०**

२. **तिलोत्तमा, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १०५**

हैं जितने कि रस-सृष्टि की ओर। उनके तिलोत्तमा नाटक में वीर, चन्द्रहास तथा अनघ में करुण रस प्रधान है, और उनमें यथास्थान नाटकीय प्रभावोत्पादन के लिए अद्भुत का भी नियोजन हुआ है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि गुप्त जी के करुण-प्रधान नाटक भी सुखान्त ही रहते हैं। यह भारतीयता का आग्रह है।

अभिनय

नाटक का अभिनय से विशेष सम्बन्ध है, किन्तु साहित्यिक नाटक अभिनय से अभिन्न नहीं हो सकता। वह अन्यान्य विधाओं के समान पाठ्य भी होना चाहिए। नहीं तो वह साहित्यिक कृति नहीं वरन् तमाशे की चीज़ बन जाएगा। मैथिलीशरण जी के नाटक अभिनेय हैं—वे अभिनय के लिए ही लिखे गए थे केवल पढ़ने के लिए नहीं। अभिनय में आकर्षण के लिए नाटक के दृश्यों में नवीनता, वैविध्य तथा आद्भुत्य की अपेक्षा हुआ करती है। गुप्त जी अपने नाटकों में उनका सन्निवेश तो करते हैं पर उनके बाहुल्य से बचते हैं। मैं समझता हूँ कि प्रभावान्विति एवं रंग-व्यवस्था के लिए यह श्रेयस्कर ही है।

कुछ बातें अनभिनेय भी मिल सकती हैं जैसे चन्द्रहास में नियति का प्रवेश—और आलोच्य लेखक ऐश्वर्य एवं आलोकमय, आकर्षक तथा विभूतिमय चित्र प्रस्तुत नहीं कर पाता जो बरबस प्रेक्षक को आकृष्ट कर लें। रंग-सज्जा एवं चित्र-विचित्र वेश-भूषा का सूक्ष्म निर्देश भी वह नहीं करता। भाषा की एकरसता तथा संवादों में जीवन्त शक्ति का अभाव तो प्रेक्षक के धैर्य की परीक्षा करता ही है।

मूल्यांकन

मैथिलीशरण गुप्त अपने नाटकों में शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करते हैं। गीति-नाट्य अनघ तो हाल ही में प्रचलित एक नवीन नाट्य-रूप है। किन्तु चन्द्रहास और तिलोत्तमा में शास्त्र का परिपालन हुआ है। वस्तु प्रख्यात अथवा मिश्र है—कल्पित नहीं। अनघ का कथानक भी साधार है। यदि ऐसा न भी माना जाए तो भी यह परम्परा-विरुद्ध बात नहीं है। संस्कृत में भी मालती-माधव जैसे उत्पादित नाटक मिलते हैं। नाटक की वस्तु को वैविध्य एवं विस्तार तथा आधिकारिक को सहायता देनेवाली प्रासंगिक कथाओं का उचित परिमाण में अभाव अवश्य खटकता है। वैसे वस्तु-योजना काफ़ी अच्छी है। किन्तु मैथिलीशरण जी कवि हैं—प्रथित प्रबन्धकार हैं। इसलिए वस्तु-विन्यास तो उनकी अपनी विशेषता है—वह उनके नाटककार होने का प्रमाण नहीं हो सकता। उनकी नाट्य-विधायिनी कल्पना की परख के लिए चरित्र-चित्रण को देखना चाहिए। इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि उनके चरित्रों में नाटकीयता है या नहीं। गुप्त जी के नाटकगत पात्रों पर दृष्टिपात करते हैं तो वे इस गुण से एकदम शून्य हैं—उनके चरित्रों में नाटकोचित उत्थान-पतन का अभाव है। एकाध पात्र में कुछ परिवर्तन अवश्य होता है किन्तु तब नाटक ही समाप्त हो जाता है। चरित्रों के सापेक्षिक प्रामुख्य की अस्पष्टता भी विचारणीय है। तिलोत्तमा में यह गड़बड़ बहुत है। तिलोत्तमा केवल अन्तिम अंक में प्रविष्ट होती है, फिर भी उसके नाम पर नाटक का नाम रखा जाता है। यह त्रुटि है। यों तो जयशंकर प्रसाद ने

भी नायिका कार्नेलिया को अल्पकाल के लिए नाटक में उपस्थित किया है—किन्तु उस नाटक का नाम तो 'चन्द्रगुप्त' है।

सर्वाधिक सदोष हैं प्रस्तुत लेखक के संवाद। वे निर्जीव एवं चमत्काररहित हैं। मंच पर उनके प्रयोग के समय ज़िन्दादिली के स्थान पर मुर्दनी का वातावरण छाया रहेगा। गुप्त जी स्वयं एक प्रत्युत्पन्नमति एवं बात-चीत में दक्ष व्यक्ति हैं। उनके आस-पास सजीवता बिखरी रहती है—क्षण-क्षण पर हँसी के फव्वारे छूटते रहते हैं। जिनको कभी घड़ी-आध-घड़ी उनके पास बैठने का सुअवसर मिला है वे मेरे कथन से सहमत होंगे।—और जिन्हें कभी यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ वे पंचवटी और साकेत की विदग्धतापूर्ण हाज़िरजवाबी में मेरे वक्तव्य का प्रमाण ढूंढ सकते हैं। ऐसे जीवन्त प्राणी के नाटकों के संवादों में भी रुचिरता का अभाव एक आश्चर्य की बात है। किन्तु मैंने पहले ही कहा था कि ये नाटक आरम्भकालीन हैं—प्रौढ़ि के पूर्व की रचनाएँ हैं। इसीलिए इनमें वैदग्ध्य की कमी है। उद्देश्य भी प्रत्यक्ष है। किन्तु कला का सौंदर्य अवगुण्ठन में है निरावरणता में नहीं। उसका प्रतिपाद्य परोक्ष ही रहना चाहिए—प्रत्यक्ष नहीं। इस दोष का कारण भी लेखक की अपरिपक्वता है। दूसरी बात यह भी है कि ये नाटक सदुद्देश्य से प्रेरित अभिनय के लिए लिखे गए थे।—और भारतवर्ष में दर्शकगण अधिकांशतः अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित होते हैं जिनको सुझाने से नहीं समझाने से काम चलता है। इसीलिए संदेश कथित है व्यंग्य नहीं।

निष्कर्ष

सर्वांशेन दृष्टिपात करने पर निष्कर्ष यह कि अपरिपक्व अवस्था एवं प्रयोगकाल की रचना होने से मैथिलीशरण जी के नाटकों की वस्तु संकुचित और अपूर्ण, चरित्र-चित्रण अविकसित, कथोपकथन कान्ति एवं चमत्कार-हीन और भाषा निर्जीव तथा उद्देश्य कथित है। गीति-नाट्य अनघ में गीति-तत्त्व भी अपुष्ट है। वास्तव में गुप्त जी प्रगीतकार नहीं हैं, फिर भी उन्होंने कुछ प्रगीत लिखे हैं—उनसे तुलना करने पर अनघ काफ़ी कोमल-सरस है।

वास्तव में साहित्य की अनेक अथवा एकाधिक विधाओं में उत्कृष्ट रचना करनेवाला कृती कलाकार युग-युगान्तरों में कोई एकाध हुआ करता है। विश्व साहित्य में ऐसे दो-चार व्यक्ति ही मिल सकेंगे। हिन्दी में तो जयशंकर प्रसाद के अतिरिक्त शायद और कोई नहीं है। मैथिलीशरण निश्चित रूप से उस श्रेणी के कलाकार नहीं है। उन्होंने तो अपने प्रकृत क्षेत्र के निर्धारण से पूर्व नाटक-रचना का प्रयास किया था। किन्तु ये नाटक चाहे किसी भी कोटि के क्यों न हों प्रणेता की बहुमुखी प्रतिभा के द्योतक अवश्य हैं।

लेकिन इस क्षेत्र में गुप्त जी सफल नहीं हो सके। इसीलिए वे बाद में कविता के ही हो रहे। हाँ, वे अब भी अपने प्रबन्धों में यथास्थान नाटकीय दृश्य-योजना अवश्य करते रहते हैं। उनके परवर्ती काव्य इसके साक्षी हैं। इस प्रकार असफल नाटककार होते हुए भी उनकी नाट्य-विधायिनी शक्ति से इन्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु वह शक्ति कवित्व से दबी रहती है—स्वतन्त्र रूप में उभर नहीं पाती। उभारने के प्रयास में वे सफल नहीं हुए। और यह अच्छा ही हुआ। अनेक साहित्यकारों ने बहुविध-रचना के चक्कर में अपनी शक्ति और

समय व्यर्थ खो दिया। उनको कहीं भी विशेषता नहीं मिल सकी। यदि मैथिलीशरण जी भी इस प्रदर्शन अथवा आत्म-प्रवंचना में फँस जाते तो शायद आज हमें उनकी श्रेष्ठ काव्यकृतियों से भी वंचित होना पड़ता।

नाटकीय कविता

नाटक एक मिश्र कला है। उसमें अन्यान्य शिल्पों के साथ कविता के तत्त्व भी समाहित रहते हैं। इसी प्रकार कविता में भी किसी न किसी अंश में नाटकीयता का समावेश होता ही है। किन्तु नाटकीय कविता वह है जिसका निर्माण रंगमंच पर अभिनय के लिए किया गया हो अथवा जिसकी रचना अभिनयोपयुक्त रूप में हुई हो। और स्पष्ट शब्दों में नाटकीय कविता में नाटक और कविता दोनों के ही गुण विद्यमान रहते हैं। उसमें नाटक से अधिक भावमयता और कविता से अधिक व्यापार रहता है। इसके अतिरिक्त उसकी भाषा पात्रों द्वारा बोली जाने के कारण काव्य की अपेक्षा अधिक यथार्थ होती है अथवा यों कहिए कि वह वास्तविक वार्तालाप की अनुकृति होती है। किन्तु वह कविताबद्ध होती है, इसलिए उसमें कवि-कल्पना के प्रयोग से कुछ सुकुमारता एवं कान्ति भी आ जाती है।

मैथिलीशरण जी ने दिवोदास, जेनी और पृथिवीपुत्र तीन नाटकीय कविताएँ लिखी हैं जो 'पृथिवीपुत्र' में संगृहीत हैं। स्वयं कवि उन्हें संवाद मानता है—पृथिवीपुत्र की भूमिका में गुप्त जी ने उसे संवाद-संग्रह कहा है। किन्तु वे संवाद नहीं हैं। वास्तव में संवाद अथवा डायलॉग शब्द का बड़ा शिथिल प्रयोग होता है। कुछ साल पहले तक स्कूलों और कालिजों में डायलॉग सिखाए जाते थे। पारसी थियेट्रीकल कम्पनियों के चटपटे संवाद (डायलॉग) भी प्रसिद्ध ही हैं। आज भी सिनेमा में डायलॉग का प्राचुर्य है। संवाद अथवा डायलॉग के इन सब प्रयोगों में उसका साहित्यिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। तात्पर्य कहने का यह है कि साहित्यिक रचना के लिए संवाद शब्द का प्रयोग उचित नहीं है। इसीलिए पृथिवीपुत्र को संवादों का संग्रह मानना ठीक नहीं।

दूसरी बात यह है कि संवाद प्रायः गद्य में ही लिखे जाते हैं। या यह कहिए कि हम परम्परा से संवाद के साथ गद्य का सम्बन्ध जोड़ने के आदी-से हो गए हैं। किन्तु पृथिवीपुत्र में संगृहीत रचनाएँ पद्यबद्ध हैं। इसलिए भी उन्हें संवाद नहीं कहना चाहिए। वस्तुतः वे नाटकीय कविता के अन्तर्गत ही आते हैं। क्योंकि उनमें नाटक का रंग है। उनका प्रणयन चाहे मंच पर अभिनय के लिए न हुआ हो—फिर भी वे निश्चित रूप से अभिनेय हैं। यहाँ पर यह भी निवेदन कर दूँ कि वे कविताएँ शुद्ध नाट्य के अन्तर्गत नहीं आ सकतीं—मूलतः कविताएँ ही हैं। लेकिन उन कविताओं की रचना नाटकीय ढंग पर हुई है, और अगर चाहें तो आसानी से उनका अभिनय किया जा सकता है। कुछ स्थल तो ऐसे भी हैं जहाँ

स्टेज (अथवा उसकी कल्पना) के अभाव में सौंदर्य ही बिखर जाता है। उदाहरण के लिए जेनी की कुछ पंक्तियाँ हैं—

जेनी

बंधु, कौन बाधा है तुम्हारे उस कर्म में ?

मार्क्स

कारागार ! निष्कासन !—कांप उठीं तुम ये ?

जेनी

मैं ही नहीं, कांप उठे सारे लता-द्रुम ये !
विप्लव करोगे तुम ? बोलो किस सत्ता से ?

मार्क्स

(हँसकर)

जेनी, यदि मैं कहूँ, तुम्हारी ही महत्ता से ?[१]

मैं समझता हूँ कि उपर्युक्त उद्धरण में 'काँप उठीं तुम ये' और कोष्ठकबद्ध 'हँसकर' आदि की सार्थकता मंच की अवस्थिति में ही है—अन्यथा नहीं। कम से कम कल्पना-चक्षुओं के समक्ष तो मंच का रहना अनिवार्य ही है। वर्ण्य विषय का चित्र तो काव्य मात्र के पठन के समय नेत्रों के समक्ष रहता है। किन्तु वहाँ पर मंच और मंच पर अभिघटन दृष्टिगत नहीं होता जैसा कि नाटकीय कविता में होता है। अस्तु !

गुप्त जी ने पृथिवीपुत्र की तीनों नाटकीय कविताओं का प्रणयन बड़े कौशल से किया है। वे नाटक-रचना में सफल नहीं हो सके—उस ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं है। किन्तु नाटकीय कविताओं की रचना में उन्हें आशातीत सफलता मिली है। शायद इसका कारण यह है कि चन्द्रहास-तिलोत्तमा के प्रणयन के समय कवि अनभ्यस्त और नवागत था—किन्तु पृथिवीपुत्र का रचयिता प्रौढ़ और दो दर्जन से अधिक ग्रंथों का प्रणेता है। अनघ इन दोनों स्थितियों के बीच का सेतुमार्ग है। कुछ भी हो गुप्त जी की नाटकीय कविताएँ काफ़ी अच्छी हैं। उनकी भाषा तो और भी समृद्ध कान्तिमयी एवं समासगुण-सम्पन्न है। इस प्रकार मैथिलीशरण जी नाटककार की दृष्टि से असफल होने पर भी कविता में नाटकीयता का कुशल समावेश करते हैं।

---

१. पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३४

पत्र-काव्य

पत्र व्यक्तिगत होते हैं—वे व्यक्ति के द्वारा व्यक्ति-विशेष के लिए लिखे जाते हैं। किन्तु कुछ पत्र व्यक्तिगत न होकर साहित्यिक होते हैं। अंग्रेजी में इनके लिए दो भिन्न नाम हैं—लैटर और ऐपिसिल। हिन्दी में लैटर के लिए तो पत्र शब्द है किन्तु ऐपिसिल के लिए उपयुक्त नाम के अभाव में हम उसे साहित्यिक पत्र कह सकते हैं। पत्र और साहित्यिक पत्र दोनों में काफ़ी अन्तर है। पत्र एकान्ततः व्यक्तिपरक होते हैं पर साहित्यिक पत्र अन्यान्य विधाओं के समान साहित्य की एक विधा हैं। वे साधारण पत्रों के समान सामयिक न हो कर स्थायी और सार्वकालिक होते हैं। प्रथम का श्रोता-समाज भी सीमित रहता है किन्तु द्वितीय का अपेक्षाकृत बृहत् वरन् असीम होता है।

साहित्यिक पत्र का माध्यम पद्य होता है—गद्य भी हो सकता है। किन्तु कम से कम हिन्दी में अभी तक किसी ने गद्य में साहित्यिक पत्र-लेखन का प्रयास नहीं किया है (पद्य में भी न होने के बराबर ही है)। अंग्रेजी के ऐपिसिल भी पद्यात्मक ही हैं। वहाँ पर तो यह काव्य का एक भेद ही बन गया है। ऐपिसिल और दूसरी कविताओं में मुख्य अन्तर यह है कि ऐपिसिल किसी मित्र, सम्बन्धी अथवा संरक्षक को सम्बोधित करके लिखा जाता है जबकि कविता में इस प्रकार का कोई सम्बोधन नहीं होता। साहित्यिक पत्र विषयगत और विषयीगत दोनों प्रकार के हो सकते हैं। वे पत्र जिनमें लेखक अपनी बात लिखता है, अपने मन के भाव दूसरे पर व्यक्त करता है विषयीगत होते हैं। तत्त्वतः वे प्रगीत होते हैं। इसके विपरीत जिन पत्रों में रचयिता की अपनी बात न मिलकर दूसरों का वृत्त आबद्ध होता है वे विषयगत अथवा वस्तुगत होते हैं।

पत्रावली में संगृहीत मैथिलीशरण जी के सभी पत्र ऐतिहासिक हैं—इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियों द्वारा लिखे गए हैं। इतिहास में कवि की दृढ़ आस्था है। वह अपने विषय का चयन प्रायः भारतीय इतिहास से ही करता है। पत्रावली में भी यही हुआ है। अतः उसके पत्र व्यक्ति-निष्ठ—अपनी जीवन-घटनाओं पर आधृत न होकर परनिष्ठ हैं। इसलिए वे वस्तुगत हैं—और उनमें पत्र का निजीपन न मिलकर कथाकाव्य का-सा विवरण उपलब्ध होता है। पत्रावली का रचयिता पत्र में वर्णित घटनाओं के वक्ता के रूप में हमारे समक्ष आता है—एक समभागी एवं सहभोगी के रूप में नहीं। इसीलिए उसके पत्रों में आपको वांछित चमक और उत्फुल्लता नहीं मिल सकेगी। उसके स्थान पर उपलब्धि होती है प्रकथनात्मक वस्तु-विन्यास की। दूसरे शब्दों में उनमें आत्मीयता, बात-चीत का रस अथवा सार्वजनिक भाषण का वेग और उत्साह नहीं मिलता जो कि पत्रों का प्राण है। फिर भी कहीं-कहीं पत्रोपयुक्त रचना में भी मैथिलीशरण समर्थ हो सके हैं। एक उदाहरण लीजिए—

कैसे पत्र लिखूँ तुम्हें कुलवती मैं क्षत्रिया बालिका,
होती है रुधिर-प्रदान करके जो शील-संचालिका।

साक्षी हैं सुर, किन्तु, जो पर नहीं मैं जानती हूँ तुम्हें,
हा लज्जा ! कब से अभिन्न अपना मैं मानती हूँ तुम्हें ।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों से प्रतीत होता है मानो रूपवती अपने समक्ष उपस्थित राजसिंह से अपने मन की बात कह रही है । सचमुच एक चित्र-सा सामने खड़ा हो जाता है । लेकिन ऐसा बहुत कम स्थलों पर हो सका है ।

दूसरी बात यह है कि ऐतिहासिक विषय ग्रहण करने के कारण पत्रों में कवि की कल्पना खुलकर नहीं खेल पाती । सभी पत्रों का प्रख्यात विषय और परम्पराभुक्त तर्क-वितर्क मेरे कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं । वस्तुतः देखा जाए गुप्त जी तो उन्हें केवल पद्यबद्ध करनेवाले हैं । फिर भी यहाँ कवि-कौशल का सर्वथा अभाव नही है । पूर्वनिश्चित तथ्य को अपनाने पर भी कम से कम उपस्थापन तो कवि का अपना ही है । निम्न उदाहरण की नाटकीय सजीवता और सहज प्रसन्नता देखते ही बनती है—

हे ना—नहीं, नाथ नहीं कहूँगी,
अनाथिनी होकर ही रहूँगी ।
होते कहीं जो तुम नाथ मेरे,
तो भागते क्या फिर पीठ फेरे ?[2]

एक उदाहरण और देकर प्रसंग को समाप्त करते हैं । महाराणा प्रताप के संधि-प्रस्ताव की बात श्रवण कर कवि पृथ्वीराज उन्हें सचेत करने के लिये पत्र लिखते हैं । महाराणा सामयिक चेतावनी के लिए कृतज्ञता-ज्ञापनार्थ पत्रोत्तर देते हैं । यह घटना ऐतिहासिक है—सर्वविदित एवं विश्वविख्यात है । लेकिन आलोच्य कवि द्वारा पद्यबद्ध पत्र की अन्तिम दो पंक्तियाँ लक्ष्य करने की हैं—

सुनोगे तुर्कों को न तनु रहते शाह हमसे,
वहीं—प्राची में ही—रवि उदित होगा नियम से ।[3]

यहाँ विषय की नवीनता नहीं है—किन्तु स्थापन द्रष्टव्य है । ऐसा प्रतीत होता है कि कोई आवेश-गद्गद वक्ता गर्जन-तर्जन करता हुआ एक-एक शब्द पर रुक-रुककर, ज़ोर दे-देकर बोल रहा है । पत्र-प्रेषक महाराणा का तेज-भास्वर ऊर्जस्वित व्यक्तित्व, पुष्ट-बलिष्ठ शरीर तथा विकट-गम्भीर कंठ-स्वर एक साथ परिलक्षित हो जाते हैं । पत्र में उसके प्रेषक की झलक आनी ही चाहिए । मैथिलीशरण जी को इस दृष्टि से इस पत्र में निश्चित सफलता मिली है । किन्तु अधिकांशतः वे अपने पत्रों में यह बात नहीं ला पाते । इसीलिए वे प्रायः अरुचिकर और गतिहीन हैं । उदाहरणतः निम्न पंक्तियों का अवलोकन कीजिए—

---

१. पत्रावली, संस्करण संवत् २०११, पृष्ठ २८
२. पत्रावली, संस्करण संवत् २०११, पृष्ठ २०
३. पत्रावली, संस्करण संवत् २०११, पृष्ठ ११

क्या विद्युद्वह्नि का भी कुछ कर सकती वृष्टि-धारा प्रणाली ?
हों भी तो आपदाएँ अधिक अशुभ हैं क्या पराधीनता से ?
वृक्षों जैसा झुकेगा अनिल-निकट क्या शैल भी दीनता से ?[1]

ऐसी पंक्तियाँ मूल पत्र के लेखक से असम्पृक्त हैं। इनसे उसके व्यक्तित्व का कुछ भी परिचय नहीं मिलता। बस पता चलता है तो केवल कवि के उपदेष्टा का। इसीलिए उसके पत्रों में भाव-दीप्ति का प्रायः अभाव है।

मूल्यांकन

गुप्त जी ने कुल सात पत्रों को छन्दोबद्ध किया है। ऐसी दशा में उनकी पत्र-रचना के संबन्ध में कोई निर्णय कर लेना न संभव है और न उचित। फिर भी पत्र-प्रणेता मैथिलीशरण जी का—उनकी शक्ति और सीमा का—कुछ आभास तो पत्रावली में मिल ही जाता है। हम देखते हैं कि उनके पत्रों में वांछित आत्मीयता, सहज प्रफुल्लता और गति की तीव्रता का प्रायः अभाव है। पत्र की बरबस खींच लेनेवाली आकर्षकता भी उनमें नहीं है। इसका कारण शायद यह है कि वे पत्र कवि के अपने नहीं हैं—उनमें व्यक्ति-विशेष के प्रति उसके अपने मन का भाव नहीं है। वरन् वे ऐतिहासिक पत्र हैं—कवि उनका मूल लेखक नहीं है। ऐसी दशा में उत्कृष्ट पत्रों के निर्माण की आशा नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह है कि हिन्दी में पत्र बहुत कम लिखे गए हैं। जो हैं भी वे गद्य में हैं—और स्वयं लेखकों के हैं। पद्यबद्ध पत्र तो कदाचित् मैथिलीशरण जी ने ही रचे हैं। पत्रावली से पहले के जो पद्यात्मक पत्र हैं भी वे स्वयं मैथिलीशरण जी द्वारा बंगला से अनूदित हैं। मेरा अनुमान है कि इस दिशा में हिन्दी साहित्य में यह प्रथम प्रयास है। इसलिए अनेक त्रुटियों की अवस्थिति में भी स्तुत्य है। और फिर उत्कृष्ट स्थलों का सर्वथा अभाव भी यहाँ नहीं है। पूर्वोद्धृत स्थलों के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यदि गुप्त जी आगे इस दिशा में प्रयत्न करते तो निश्चय ही कुछ अच्छे पत्र भी रचे जाते।

लेकिन इतना निर्विवाद है कि मैथिलीशरण इस क्षेत्र में 'हौरेस' और 'पोप' जैसे कलाकारों की समता नहीं कर सकते। आपको न तो उनमें 'हौरेस' के पत्रों का औज्ज्वल्य और समृद्धि मिलेगी और न 'पोप' के समान युक्ति-विलास की उपलब्धि हो सकेगी, फिर भी गुप्त जी का यह प्रयत्न श्लाघनीय है। उन्होंने तो माइकेल मधुसूदन के अनुकरण पर ये पत्र रचे थे। अतः इनमें कवि की शक्ति का सन्धान उचित नहीं है। यह तो एक नव-द्वार का उदघाटन मात्र है। पत्रावली की यही सबसे बड़ी विशेषता है।

---

१. पत्रावली, संस्करण संवत् २०११, पृष्ठ ५

कुछ नवीन प्रयोग

मैथिलीशरण जी को परम्परावादी माना जाता है—निश्चय ही वे परम्परा में विश्वास रखनेवाले हैं। फिर भी कहीं-कहीं वे उससे दूर हटने का सफल प्रयास कर सके हैं। काव्य-रूप की दृष्टि से परम्परा की यह मुक्ति हमें यशोधरा, कुणाल-गीत और द्वापर में स्पष्टतः दृष्टिगत होती है। वास्तव में गुप्त जी ध्यान रखते हैं अपने प्रतिपाद्य का—रूप-प्राकार की ओर से वे सजग अथवा सचेत नहीं हैं। अपने जीवन में भी मैथिलीशरण भाव और विचार की भव्यता में विश्वास रखते हैं—बाह्य वेश-भूषा की दमक में नहीं। लेकिन उसकी स्वच्छता और सुघड़ता का उनको बराबर ध्यान रहता है। यही बात उनकी रचनाओं में मिलती है। डा० नगेन्द्र ठीक ही कहते हैं कि रचयिता और उसकी कृति में रक्त का सम्बन्ध है।[1] इसके साथ ही यह भी लक्ष्य करने की बात है कि गुप्त जी के दैनिक जीवन में औपचारिकता का नहीं, आवश्यकता और सुगमता का आग्रह है। यही विशेषता उपर्युक्त तीनों रचनाओं में उपलब्ध है। इनके निर्माण में कवि ने किसी परम्परागत काव्य-रूप को न अपनाकर प्रतिपाद्य की स्वच्छता और प्रतिपादन की सुगमता का ध्यान रखा है। अब तीनों के काव्य-रूप का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करेंगे :

यशोधरा

परिचय-खण्ड में मैं निवेदन कर चुका हूँ कि यशोधरा को किसी भी प्रचलित-प्रथित काव्य-कोटि के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। क्योंकि उसमें गद्य-पद्य, दृश्य-श्रव्य, प्रगीत-प्रबन्ध सभी का समाहार हुआ है। कुछ आलोचक इसे चम्पू कहकर टाल देते हैं—सचमुच वे टाल जाते हैं, विश्लेषण नहीं करना चाहते। तर्क उन लोगों का यह होता है कि यशोधरा में गद्य भी है और पद्य भी है—इसलिए वह चम्पू काव्य है। लेकिन यह ठीक नहीं है। गद्य का प्रयोग यशोधरा के केवल नाटक-भाग में हुआ है।—और नाटक अपने आप में एक पृथक् विधा है अतः उसे चम्पू के अन्तर्गत नहीं मान सकते। यशोधरा में नाटक-भाग के अतिरिक्त और कहीं गद्य नहीं है। यदि थोड़ा-बहुत होता तो भी यशोधरा को चम्पू नहीं कहा जा सकता था। क्योंकि आचार्य विश्वनाथ ने गद्यपद्यमय रचना को चम्पू कहा है, जैसी कि पंचतन्त्र और हितोपदेश में मिलती है। इन पुस्तकों को विषय की दृष्टि से हम कथा-साहित्य कह देते हैं, किन्तु यदि शुद्ध काव्य-रूप की दृष्टि से देखा जाए तो ये चम्पू ही हैं। पर जहां गद्य अलग और पद्य अलग पड़ा रहे वह चम्पू नहीं कहला सकता। जो लोग यशोधरा को भी चम्पू मानते हैं वे वस्तुतः चम्पू के प्रकृत स्वरूप से ही अनभिज्ञ हैं।

किसी भी कृति के काव्य-रूप की परख से पहले उसकी मूल प्रेरणा देखनी चाहिए। क्योंकि रचना का मूल प्रेरणा से सहज-सम्बन्ध होता है—उसी के अनुसार उसका

१. आधुनिक हिन्दी नाटक—भूमिका

काव्य-रूप हुआ करता है। काव्य-रचना के मूल में दो प्रेरणाएँ हो सकती हैं। या तो कवि आत्माभिव्यक्ति करना चाहता है, या फिर व्यापक रूप से मानव जगत् के चित्रण में प्रवृत्त होता है। रचनाकार के आत्माभिव्यंजन में वैयक्तिकता एवं रागात्मकता का प्राधान्य रहता है।—और उसका माध्यम प्रगीत होता है। इसके विपरीत व्यापक मानव-जगत् के चित्रण में वस्तु तत्त्व की प्रधानता रहती है। उसमें कार्य-व्यापार का बाहुल्य मिलेगा और समावेश होगा व्यवस्थित जीवन-दर्शन का। और स्पष्ट शब्दों में अन्तःप्रवृत्ति की बजाए बाह्य प्रकृति का अंकन होता है। इसका उपयुक्त माध्यम प्रबन्ध है—और प्रबन्ध का चित्रण दो प्रकार का होता है: (क) प्रत्यक्ष चित्रण (ख) अप्रत्यक्ष चित्रण। दृश्यकाव्य इस प्रत्यक्ष चित्रण के अन्तर्गत ही आता है। तथा महाकाव्य और खण्डकाव्य आदि प्रकथनात्मक रचनाएँ अप्रत्यक्ष चित्रण अथवा वर्णन के अन्तर्गत आती हैं।

यशोधरा पर दृष्टिपात करते हैं तो उसकी मूल प्रेरणा आत्माभिव्यक्ति नहीं है। यशोधरा जैसी रचना में बुद्ध अथवा यशोधरा के प्रति भक्ति-निवेदन के रूप में आत्माभिव्यंजना हो सकती थी। किन्तु ऐसा नहीं हुआ—वरन् कवि को बुद्ध के तो जीवन-दर्शन में आस्था ही नहीं है। तात्पर्य कहने का यह कि यशोधरा आत्माभिव्यंजन-मूलक रचना नहीं है। वास्तव में यशोधरा का उद्देश्य है एक महच्चरित्र का पुनस्सृजन—अमिताभ की आभा से अभिभूत साहित्यिकों द्वारा उपेक्षित यशोधरा से सम्भ्रान्त चरित्र का पुनर्निर्माण ही यशोधरा का लक्ष्य है। महाराज शुद्धोदन स्पष्टतः कहते हैं—

गोपा-बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको[1]

उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रबन्ध ही उपयुक्त माध्यम है—प्रगीत नहीं। या यों कहिए कि पुनस्सृजन—उपेक्षिता-उद्धार आदि प्रबन्ध द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। मूलोद्देश्य के आधार पर प्रबन्ध के भी मुख्यतः दो रूप हो सकते हैं। एक तो वृत्त-वर्णन जिसमें अन्य पुरुष के माध्यम से समाख्यानात्मक वर्णन मिलता है। इस रूप में कवि का विशेष ध्यान घटनाओं की ओर रहता है—जीवन-घटनाओं में विशिष्ट अनुरक्ति रहती है। प्रबन्ध का दूसरा रूप नाट्य-रूप है। इसमें कवि किसी व्यक्तित्व में अनुरक्त होता है। अतः इसमें वृत्त-वर्णन की अपेक्षा चरित्रोद्घाटन मुख्य रहता है। यशोधरा का कवि जीवन-घटनाओं में अनुरक्त नहीं है। घटना-सूत्र बहुत क्षीण है। इसका कारण शायद यह है कि बुद्ध और यशोधरा के जीवन की घटनाएँ उपलब्ध ही नहीं हैं—अन्यथा मैथिलीशरण तो जीवन-व्यापी घटनाओं का चित्रण करनेवाले कवियों में से हैं। फलतः यशोधरा में गौतम-पत्नी यशोधरा का चरित्रोद्घाटन ही कवि का लक्ष्य रहा है। इसलिए उसमें प्रबन्ध का समाख्यानात्मक वृत्त-वर्णन न मिलकर नाट्य-रूप ही मिलता है। वास्तव में चरित्र के उद्घाटन के लिए अनुकूल माध्यम भी वही है।

चरित्रोद्घाटन के निमित्त यशोधरा में कार्य-व्यापार का प्रयोग नहीं हुआ। उसका तो प्रायः अभाव है। क्योंकि मुख्य पात्र स्त्री है—इसलिए कार्य-व्यापार के लिए अवकाश नहीं

१. यशोधरा, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ १२६

है। जहाँ कुछ है भी वहाँ सूच्य है—दृश्य नहीं क्योंकि उसका सम्बन्ध गौतम से है—और गौतम अनुपस्थित हैं। हाँ जो गोपा से सम्बद्ध है वह अवश्य चित्रित है—किन्तु ऐसा एकाध दृश्य में ही हुआ है। वस्तुतः यशोधरा में कार्य-व्यापार का नहीं भावना का प्रसार है। भावनामयी यशोधरा के चरित्रोद्घाटन के लिए उपयुक्त विधि कार्य-व्यापार नहीं है—उसके लिए तो कथोपकथन और स्वगत अपेक्षित हैं। यशोधरा में इन दोनों का ही उपयोग किया गया है। यशोधरा-राहुल तथा यशोधरा और उसकी सखियों के संवादों में यशोधरा के हृद्गत द्वन्द्व का प्रकटीकरण हुआ है, और उसके स्वगत में आत्म-निवेदन है। यशोधरा के गीत भी स्वगत के अन्तर्गत ही आते हैं—स्त्री-पात्र का स्वगत प्रायः गीत ही हुआ करता है। इस प्रकार कथोपकथन और स्वगत के द्वारा यशोधरा के चरित्र का स्पष्टीकरण हुआ है।

अन्ततः निष्कर्ष यह कि यशोधरा प्रबन्धकाव्य है—लेकिन समाख्यानात्मक नहीं। चरित्रोद्घाटन पर कवि की दृष्टि केन्द्रित रहने के कारण यह नाट्य-प्रबन्ध है। और एक भावनामयी नारी का चरित्रोद्घाटन होने से उसमें प्रगीतात्मकता का प्राधान्य है। इसलिए यशोधरा को प्रगीतात्मक नाट्य-प्रबन्ध कहना चाहिए।

कुणाल-गीत

कुणाल-गीत में कुल मिलाकर ९५ गीत संगृहीत हैं। वे सब गीत एक कथासूत्र में आबद्ध हैं। इन दो विरोधी काव्य-रूपों के मिश्रण के कारण कुणाल-गीत की काव्यकोटि का निर्विवाद निर्णय—अन्तिम निष्कर्ष सम्भव नहीं है। फिर भी उसका वर्गीकरण किया जा सकता है—यह असम्भव नहीं है।

कुणाल-गीत में आत्माभिव्यंजना नहीं है। वैसे आत्माभिव्यक्ति से एकान्ततः शून्य तो अत्यन्त वस्तुपरक काव्य भी नहीं हो सकता—क्योंकि वह भी स्रष्टा के अपने विचारों-भावों एवं मान्यताओं तथा संस्कारों से पुष्ट होता है—और नहीं तो कम से कम रचयिता के व्यक्तित्व से संस्पृष्ट तो होता ही है। कुणाल-गीत में भी जीवन-दर्शन कवि का अपना ही है। अतः आपको उसमें कुछ उत्कृष्ट विचारात्मक प्रगीत मिल जाएँगे। और फिर माध्यम (प्रगीत) भी आत्माभिव्यंजन के अनुकूल ही है। लेकिन उन विचारात्मक प्रगीतों और माध्यम के बल पर यह नहीं कहा जा सकता कि कुणाल-गीत आत्माभिव्यंजनात्मक (प्रगीत) काव्य है। क्योंकि उसमें आत्म-दर्शन—आत्म-साक्षात्कार नहीं है।

वस्तुतः कुणाल-गीत में आत्माभिव्यंजन नहीं—जीवनगत व्यापार का अंकन हुआ है। कुणाल-गीत के निर्माण में कवि का उद्देश्य कुणाल के दिव्य चरित्र का उद्घाटन रहा है। विकार-हेतु की अवस्थिति में भी राजकुमार कुणाल के चरित्र की पवित्रता ने कवि को बरबस आकृष्ट कर लिया है। उसमें अनुरक्त और उससे प्रभावित कृतज्ञ कवि-हृदय की आभार-स्वीकृति ही कुणाल-गीत में है। कुणाल के चरित्रोद्घाटन के साथ-साथ प्रसिद्ध राज-परिवार में अभिघटित कारुणिक घटना का वर्णन भी आनुषंगिक लक्ष्य माना जा सकता है। इनके लिए अनुकूल माध्यम प्रबन्ध है—प्रगीत नहीं।

लेकिन माध्यम के रूप में प्रगीत को अपना लेने पर भी कुणाल-गीत प्रबन्ध ही है।

उसके प्रगीतों के पीछे कथा का स्पष्ट आधार है—कथा की अन्तर्धारा अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है। अतः कुणाल-गीत का प्रबन्धत्व अक्षुण्ण है। प्रबन्ध के भी दो रूपों—श्रव्य और दृश्य में कुणाल-गीत दृश्य नहीं है। श्रव्य की समाख्यानात्मकता भी उसमें नहीं है फिर भी वह श्रव्य ही है। समाख्यानात्मकता का अभाव होने पर भी उसमें वृत्त-वर्णन हुआ है। किन्तु उसकी शैली वृत्त-वर्णनात्मक न होकर प्रगीतात्मक है। कुणाल-गीत में इन्हीं दो विरोधी तत्त्वों का सम्मिलन है—उसमें प्रबन्धोचित विषय प्रगीतों की मुक्तक शैली में आबद्ध है।

वृत्त-वर्णनात्मक प्रबन्ध के भी दो रूपों—महाकाव्य और खण्डकाव्य—में से कुणाल-गीत खण्डकाव्य के अन्तर्गत आता है। क्योंकि उसमें देश, काल और चरित्र का इतना विस्तार एवं व्यापकत्व नहीं है जितना कि महाकाव्य के लिए अपेक्षित है। वरन् कुणाल के जीवन की एक मार्मिक-कारुणिक घटना का चित्रण है जो खण्डकाव्य का ही विषय बन सकती थी। वास्तव में कुणाल एक त्यागी, तपस्वी, धीर-वीर, निर्भीक और सच्चरित्र नरपुंगव तो है—किन्तु उसमें महाकाव्योचित औदात्त्य नहीं है। वह जन-नायक नहीं है। एक बात और, वह यह कि कुणाल-गीत का प्रत्येक प्रगीत अपने आप में पूर्ण और स्वतन्त्र रूप से रसोद्रेक में समर्थ है। किन्तु उनका क्रम निश्चित है—प्रकृत सौंदर्य की क्षति के बिना उसमें परिवर्तन संभव नहीं है।

सर्वांशिन दृष्टिपात करने पर निष्कर्ष यह कि कुणाल-गीत एक प्रगीतात्मक खण्डकाव्य है। वह सूरसागर, गीतावली आदि उन प्रबन्धात्मक प्रगीतों अथवा प्रगीतात्मक प्रबन्धों की परम्परा में आता है जिनमें कि प्रबन्ध और प्रगीत दोनों ही आलिंगनबद्ध रहते हैं। यहाँ पर उक्त पुस्तकों से कुणाल-गीत की तुलना अभिप्रेत नहीं है। वक्तव्य केवल इतना ही है कि सूरसागर एवं गीतावली आदि के ही समान कुणाल-गीत का कथा-सूत्र भी विच्छिन्न नहीं है।

द्वापर

द्वापर में कृष्ण-कथा है। यद्यपि गुप्त जी भी तुलसी के समान राम के अनन्य भक्त हैं, फिर भी उन्होंने द्वापर के रूप में कृष्णकाव्य का प्रणयन किया है—तुलसी ने भी तो कृष्ण गीतावली लिखी थी!

मूल पुस्तक १५ खण्डों में विभाजित है। अन्त में 'द्वारकाधीश' शीर्षक एक खण्ड और है। किन्तु मेरे विचार में वह द्वापर की कथा का अंश नहीं है। क्योंकि कृष्ण के उस जीवन का—मथुरा से आगे के जीवन का—परिदर्शन कवि द्वापर में नहीं करना चाहता। चतुर्थावृत्ति की भूमिका में मैथिलीशरण स्वयं कहते हैं—"पुस्तक में उसे ('सुदामा' को) इसलिए नहीं दिया गया था कि लिखते-लिखते उसे तीन खण्डों में समाप्त करने का विचार किया था। पहला खण्ड 'गोपाल', दूसरा 'द्वारकाधीश' और तीसरा 'योगिराज'। परन्तु अनेक कारणों से अब तक कुछ न हो सका। आगे भी कोई बड़ी आशा नहीं। अस्तु इस बार पुस्तक के अन्त में वह अंश भी जोड़ दिया गया है।"[1] इस प्रकार लेखक स्वयं ही इस खण्ड

---

१. द्वापर संस्करण संवत् २०१२, पृष्ठ ७

को द्वापर का अंश नहीं मानता—और यह ठीक भी है। अन्यथा द्वापर का वस्तु-विधान विशृंखल हो सकता है—उसमें अतर्क्य दोषों और असंगतियों की सम्भावना है। इसीलिए मैंने 'ग्रंथ-परिचय' में कहा है कि इस भाग को परिशिष्ट रूप में ग्रहण करना चाहिए।

द्वापर की रचना आत्मकथन शैली पर हुई है। एक-एक पात्र आता है और आत्म-कथा कहकर चला जाता है। लेकिन आत्मनिवेदन शैली में प्रणीत होने पर भी द्वापर आत्माभिव्यंजनात्मक काव्य नहीं है। क्योंकि उसमें कवि की आत्माभिव्यंजना न होकर विभिन्न पात्रों का आत्मकथन है जो निश्चय ही आत्माभिव्यंजन से भिन्न है। वास्तव में प्रत्येक खण्ड को 'स्वगत वार्ता' कहना चाहिए। कुछ लोग इन्हें स्वगत कहना पसन्द करेंगे—किन्तु ये शुद्ध 'स्वगत' नहीं हैं। क्योंकि स्वगत में श्रोता-समाज की अपेक्षा नहीं है। लेकिन द्वापर का तो प्रत्येक पात्र कुछ सुनाना चाहता है, जो कुछ कहता है दूसरों को लक्ष्य अथवा सम्बोधन करके कहता है। अतः इन्हें स्वगत कहना समीचीन नहीं है। तात्पर्य यह कि द्वापर स्वगत वार्ता-संग्रह है।

लेकिन यह ठीक नहीं है। द्वापर को संग्रह कहना उचित नहीं है—क्योंकि ये वार्ताएँ मुक्तक अथवा स्फुट न होकर शृंखलाबद्ध हैं। इनमें प्रबन्ध-सूत्र अनिवार्यतः विद्यमान है। वह प्रत्येक खण्ड में अन्तःसलिला के समान प्रवहमान है। या यों कहिए कि ये माला के मनकों के समान पृथक्-पृथक् दृष्टिगत होने पर भी सूत्रबद्ध हैं।—और वह सूत्र है कृष्ण-चरित्र का जो सभी में एकतार अनुस्यूत है। अभिप्राय यह कि द्वापर का प्रबन्धत्व अक्षुण्ण तो है—किन्तु उसकी एकसूत्रता घटना की नहीं है। वरन् सबका एक विशेष चरित्र—कृष्ण—से सम्बन्ध है, सभी उन्हें अपने सम्बन्ध से देखते हैं—यही सबसे प्रबल शृंखला है जिसमें सभी खण्ड आबद्ध हैं। इस प्रकार द्वापर प्रबन्धकाव्य ही ठहरता है।

किन्तु किसी भी रचना की काव्यकोटि के निर्धारण से पूर्व उसके उद्देश्य पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। क्योंकि मूलतः उद्देश्य पर ही काव्य-रूप निर्भर रहता है। हम देखते हैं द्वापर में आत्माभिव्यंजन नहीं है वरन् व्यापक मानव-जीवन का चित्रण है—कवि के अपने जीवन-दर्शन का व्याख्यान है। द्वापर के कई पात्रों के स्वर में स्वर मिलाकर कवि स्वयं बोल रहा है, जैसे—

अपने युग को हीन समझना,
आत्महीनता होगी;
सजग रहो, इससे दुर्बलता
और दीनता होगी।[1]

बलराम की इस उक्ति में निश्चय ही कवि का भौतिकता के प्रति आस्थावान् प्रगति-वादी बोल रहा है। इसी तरह 'कुब्जा' खण्ड की निम्न पंक्तियों में मैथिलीशरण के भक्त का निष्काम आत्म-समर्पण है—

---

१. द्वापर, संस्करण संवत् २०१२, पृष्ठ ५२

रोम-रोम बस तुझे पुलक-सा
पाकर जड़ रह जावे;
और उन्हीं चरणों में जीवन
स्वेद बना बह जावे।[1]

ऐसे स्थलों में ही कवि के अपने विश्वास और मान्यताएँ समाहित हैं। निरूपण तो द्वापर में कंस के जीवन-दर्शन का भी हुआ है पर वह बराबर कवि की घृणा का पात्र रहा है। वास्तव में बलराम, विधृता, अक्रूर और कुब्जा के माध्यम से ही कवि ने अपने दृष्टिकोण को व्यक्त किया है।

प्रसंग चल रहा था द्वापर के काव्य-रूप का। तो जीवन-दर्शन-संवलित यह काव्य निश्चय ही प्रबन्ध है। लेकिन इसमें अधिकांश काव्य-प्रबन्धों के समान वृत्त-वर्णन न मिलकर प्रत्यक्ष चित्रण मिलता है। द्वापर के लिए उचित भी यही था—क्योंकि इसमें कृष्ण के चरित्रोद्घाटन द्वारा ही मानव-जीवन उपस्थित किया गया है। द्वापर की स्वगत वार्ताओं द्वारा गुप्त जी केवल इतिवृत्त ही उपस्थित नहीं करते अपितु द्वापर का समूचा जीवन ही चित्रित करते हैं—तत्कालीन व्यापक संदेह और व्यामोह का अंकन करते हैं। यद्यपि 'विधृता' के चरित्र का पुरस्कार और राधा एवं गोपियों के चरित्र का परिष्कार भी द्वापर में हुआ है पर वह तो आनुषंगिक बात है, मुख्य तो कृष्ण-चरित्र की प्रस्तुति ही है। उसी के अवलम्ब से सब खण्ड एकाकार हो गए हैं। यह चरित्रोद्घाटन और प्रत्यक्ष चित्रण नाटक की विशेषताएँ हैं। अतः द्वापर नाट्य-प्रबन्ध की ही एक विधा है जिसमें एकपात्री दृश्यों का समंजन है।

डा० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी यशोधरा और द्वापर को गीतिकाव्यात्मक प्रबन्धकाव्य मानते हैं।[2] किन्तु मैं उनके इस अभिमत से पूर्णतः सहमत नहीं हूँ। यशोधरा के विषय में तो उनका यह कथन सोलह आने सही है, सर्वथा उचित है। क्योंकि उसका प्रधान पात्र एक नारी है—और नारी-हृदय के अभिव्यंजन में प्रायः प्रगीतात्मकता आ ही जाती है। लेकिन द्वापर में ऐसा नहीं। उसमें प्रमुख पात्र नारी नहीं है। यद्यपि यशोदा, देवकी, विधृता, कुब्जा और गोपियों के करुण-मधुर गीतिमय व्यक्तित्व के संस्पर्श से प्रगीत-तत्त्व का समावेश भी अवश्य हुआ है, लेकिन लेखक का ध्यान जीवन-दर्शन के निरूपण और अपने विश्वासों के प्रतिपादन पर ही केन्द्रित रहा है। मान्यताओं और धारणाओं के उस घटाटोप में प्रगीतत्व विलीन हो गया है। —और प्रगीतता के माध्यम गेय पद का तो द्वापर में सर्वथा अभाव ही है। मैं समझता हूँ कि द्वापर का प्रगीतत्व विशेषतः उल्लेख्य नहीं है। थोड़ी बहुत प्रगीतता तो सत्काव्य में कहीं भी मिल जाएगी। अन्ततः निष्कर्ष यह कि द्वापर को नाट्य-प्रबन्ध का एक रूप कहना ही समीचीन होगा।

मूल्यांकन

यशोधरा, कुणाल-गीत और द्वापर काव्य-रूप की दृष्टि से गुप्त जी के सर्वथा नवीन

---

१. द्वापर, संस्करण संवत् २०१२, पृष्ठ १५८

२. हिन्दी साहित्य, संस्करण सन् १९५५, पृष्ठ ४४२-४४३

प्रयोग हैं। परम्परामुक्त अथवा परम्परा-विच्छिन्न होने पर भी उनकी काव्यकोटि का निर्णय किया जा सकता है—उनका वर्गीकरण हो सकता है। हम देखते हैं कि तीनों ही प्रबन्ध हैं। लेकिन प्रबन्धत्व स्थूल अथवा एकदम स्पष्ट नहीं है—प्रबन्ध-सूत्र सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष है। वस्तुतः वे तीनों हमारे युग के कुशल प्रबन्ध हैं। तीनों की वस्तु ऐतिहासिक है—और कवि ने मात्र इतिवृत्त ही नहीं वरन् तत्कालीन समाज और जीवन का अंकन किया है। लेकिन यह सब कुछ कवि के चिरप्रिय समाख्यानात्मक ढंग पर नहीं हुआ अपितु प्रगीतों और स्वगत वार्ताओं के माध्यम से हुआ है। यशोधरा और कुणाल-गीत के प्रगीतों में भी प्रबन्ध की स्थापना निश्चय ही कवि के कौशल की परिचायक है। किन्तु द्वापर में तो वह एक पग और भी आगे बढ़ गया है। वहाँ गुप्त जी स्वगत वार्ताओं के माध्यम से ही कहानी कहते हैं। वरन् यों कहिए कि एक चिरपेषित कथा के द्वारा उस युग की द्वापरता का रोचक चित्रण करते हैं। द्वापर की प्रबन्ध-कला हमारे लिए, हमारी काव्य-कला की प्रगति की सूचक है। वह प्रबन्धों की परम्परा में नवीन कल्पना है, मौलिक उद्‌भावना है।

(ख) अभिव्यंजना-कौशल

अभिव्यंजना साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है—उत्तम से उत्तम अनुभूति भी अभिव्यक्ति के बिना गूंगी रह जाती है। अभिव्यंजनावाद के प्रवर्त्तक क्रोचे की स्थापना तो यह है कि अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अनुभूति और कुछ है ही नहीं। वे दोनों में भिन्नता का अत्यन्ताभाव मानते हैं। उनके अनुसार अभिव्यक्ति से पूर्व मन में अनुभूति का अस्तित्व असम्भव है। लेकिन भारतीय आचार्यों ने दोनों में निश्चित पार्थक्य स्वीकार किया है। कुन्तक आदि मनीषियों ने अनुभूति और अभिव्यक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध तो माना है—किन्तु उनकी अभिन्नता नहीं। वस्तुतः दोनों में सम्वाय सम्बन्ध है अर्थात् एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है। पर अनिवार्य सम्बन्ध होने पर भी अनुभूति और अभिव्यक्ति सवर्गीय अथवा सजातीय नहीं हैं—इनमें आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है। अनुभूति यदि आत्मा है तो अभिव्यक्ति निश्चय ही शरीर है। एक के अनस्तित्व में दूसरी का अस्तित्व व्यर्थ है। अब रही बात अभिव्यंजना-कौशल की। क्रोचे तो कवि-कौशल का एकदम बहिष्कार कर देते हैं। लेकिन यह ठीक नहीं है। इसके विरुद्ध सबसे प्रबल तर्क, ज्वलन्त प्रमाण मीरा का काव्य है। मीरा की सरस अनुभूति की रमणीयता से इन्कार नहीं किया जा सकता। फिर भी उनकी अभिव्यक्ति रमणीय नहीं है। कारण स्पष्ट है—कौशल का अभाव। अतः मेरी विनम्र सम्मति में रमणीय अभिव्यक्ति के मूल में अनुभूति की रमणीयता के साथ-साथ कुछ न कुछ कौशल भी आवश्यक रहता है। कुशल कवि अभिव्यक्ति की रमणीयता एवं प्रभावक्षमता की सिद्धि के लिए अनेक साधनों का उपयोग करता है। यहाँ पर हम गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त उन प्रसाधनों का ही विवेचन करेंगे।

चित्रण-कला

पहले ही कहा जा चुका है कि रंग, रेखा, शब्द आदि के माध्यम से अनुभूति को चित्र, मूर्ति अथवा काव्य का रूप दे दिया जाता है। किन्तु मूलतः एक ही अन्तर्वृत्ति से संबद्ध होने के कारण एक में दूसरे का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता। कवि में अंशतः चित्रण शक्ति होती ही है। निश्चय ही कवि की चित्र-विधायिनी प्रतिभा जितनी प्रखर होगी उसके काव्य में इन दो कलाओं के मणि-कांचन संयोग से उतनी ही सहज प्रसन्नता और मधुरता मिलेगी। प्राचीन आचार्य का विभाव और अनुभाव-विधान भी चित्रण-कला का ही समानार्थक है।

मैथिलीशरण जी ने मानव जीवन को उसकी समग्रता में ग्रहण किया है। अतः उनके काव्य में सभी प्रकार के—मधुर-तरल, रुद्ध-क्रुद्ध, छाया-प्रकाशमय चित्र उपलब्ध हैं। पहले कुछ पूर्ण चित्र लीजिए। 'रणधीर द्रोणाचार्यकृत दुर्भेद्य चक्रव्यूह' के ध्वस्त चित्र का अवलोकन कीजिए—

> ....रक्त की यह कीच कैसी मच रही !
> है पट रही खण्डित हुए बहु रुण्ड-मुण्डों से मही।
> कर-पद असंख्य कटे पड़े, शस्त्रादि फैले हैं तथा
> रंगस्थली ही मृत्यु की एकत्र प्रकटी हो यथा !
> दुर्योधनानुज हैं पड़े ये भीम के मारे हुए,
> काम्बोज-नृप वे सात्यकी के हाथ से हारे हुए।
> मृत अच्युतायु-श्रुतायु हैं ये, वह अलम्बुष है मरा;
> यह सोमदत्तात्मज पड़ा है, रक्त-रंजित है धरा ॥[1]

यहाँ पर कवि ने चक्रव्यूह के ध्वंसावशेष का दृश्य उपस्थित किया है। किन्तु वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सका। 'दुर्योधनानुज हैं पड़े ये भीम के मारे हुए' आदि पंक्तियों से स्थिति का बोध भले ही हो जाए पर उस घटना का चित्र नेत्रों के समक्ष नहीं आ सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि युद्ध-भूमि के उस दृश्य का विधान करने की बजाए मृतकों का लेखा-जोखा उपस्थित करने लगा है। लेकिन इस परिगणनात्मकता में भी 'कर-पद असंख्य कटे पड़े, शस्त्रादि फैले हैं तथा' जैसी एकाध पंक्ति तत्कालीन अस्त-व्यस्तता के बिम्ब-ग्रहण में सहायक है।

वास्तव में उपर्युक्त चित्र में मैथिलीशरण अनेक तथ्यों को एक साथ अंकित करना चाहते हैं—किन्तु पाठकों के मानस-चक्षु उन्हें स्वीकार करने में असमर्थ हैं। कवि को चाहिए कि वह कुशलतापूर्वक आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग करे। तभी उसके चित्र का अभिलषित प्रभाव पड़ सकता है। पंचवटी से ऐसा ही चित्र प्रस्तुत करता हूँ—

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ ८९

पंचवटी की छाया में है
सुन्दर पर्ण-कुटीर बना;
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर
धीर, वीर, निर्भीकमना ।
जाग रहा यह कौन धनुर्धर
जबकि भुवन भर सोता है ?
भोगी कुसुमायुध योगी-सा
बना दृष्टिगत होता है ॥[1]

देखिए कवि ने कितने कौशल से वन के स्तब्ध वातावरण और शिला पर बैठे हुए धनुर्धारी लक्ष्मण का संश्लिष्ट चित्र अंकित किया है। यद्यपि यहाँ पर बहुत कम वस्तुओं का चित्रण कवि ने किया है। फिर भी सारा चित्र नेत्रों के सामने घूम जाता है। यदि वह पूर्वोद्धृत चित्र के समान एक-एक बात का ब्योरा देने लगता तो सारा सौंदर्य नष्ट हो जाता। इसीलिए यह आवश्यक है कि चित्र अंकित करते समय कवि कौशल के साथ आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग करे। आवश्यक वा अनावश्यक के प्रति आलोच्य कवि की सजगता ब्राह्मण की सद्गृहस्थी के निम्न चित्र में और भी स्पष्ट है—

था पास ही तुलसी धरा
जो वायु-शोधक था हरा;
सुमुखि सुता थी दीप उस पर धर रही ।
बस, ब्राह्मणी निश्चल खड़ी,
मुकुलित किये आँखें बड़ी
कैसे कहें किस भाव से थी भर रही ॥[2]

यह चित्र भड़कीले रंग-रूप से एकदम मुक्त है लेकिन फिर भी अपनी सहज-सरलता की दिव्य आभा से उद्भासित है। यह चित्र घर का दृश्य ही उपस्थित नहीं करता वरन् इसमें ब्राह्मण की सद्गृहस्थी की सुख-शान्ति, सहज श्रद्धा तथा आडम्बरहीन सज्जा अंकित है। और स्पष्ट शब्दों में वहाँ का पावन वातावरण तक इस चित्र के द्वारा प्रेषणीय हो सका है। निश्चय ही यह पाठक के मन पर शान्त-सौम्य प्रभाव डालने में सक्षम है—ठीक उसी तरह जैसे महात्मा बुद्ध की प्राचीन मूर्तियाँ दर्शकों के मन पर ऐसा प्रभाव छोड़ती हैं जैसा कि साक्षात् बुद्ध के दर्शन पर पड़ सकता था। अब लीजिए गुप्त जी की सर्वप्रिय और सर्वोत्कृष्ट रचना साकेत से एक मनोरम चित्र—

तरु तले विराजे हुए,—शिला के ऊपर,
कुछ टिके,—धनुष की कोटि टेक कर भूपर,

---

१. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ६
२. बक-संहार, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ७

निज लक्ष-सिद्धि-सी तनिक घूमकर तिरछे,
जो सींच रही थीं पर्णकुटी के बिरछे—
उन सीता को, निज मूर्तिमती माया को,
प्रणय प्राण को और कान्त काया को,
यों देख रहे थे राम अटल अनुरागी,
योगी के आगे अलख-ज्योति ज्यों जागी ![१]

दिव्य युगल के पावन दाम्पत्य जीवन का यह अलौकिक चित्र कितना मुखर है। उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़ते ही जो संश्लिष्ट चित्र कल्पना में घूम जाता है वह कितना भव्य और मनोहारी है। इस उद्धरण में चित्र के सम्पूर्ण गुण आ गए हैं। 'कुछ टिके,—धनुष की कोटि टेक कर भूपर' में वनवासी राम की मुद्रा तक स्पष्ट है। निश्चय ही इस चित्र में काव्य और चित्र-कला का मणि-कांचन संयोग हुआ है।

मैथिलीशरण शृंगारी कवि नहीं हैं—किन्तु समग्र जीवन को ग्रहण करनेवाला कवि उससे अछूता भी नहीं रह सकता। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार तो अधिकांश मानवीय व्यापारों के मूल में काम ही रहता है। गुप्त जी के काव्य में भी अनेक रूप-चित्र मिल सकते हैं। सब से पहले तो उनकी एक प्रारम्भिक रचना 'तिलोत्तमा' से एक चित्र प्रस्तुत करता हूँ—

रूप के समुद्र की रमा सी यह कौन यहाँ
सारी सुघराई का इसी में एक वास है
कोमलता कंज की है, कान्ति है कलाधर की
सुवर्ण की सुवर्णता, लताओं का विलास है।
गति में मरालता है, भौहों में करालता है;
अलकों में अरालता, कपोलों में विभास है
अंगों में उमंग अहा ! आँखों में अनंग रंग,
मुख में सु-हास और श्वास में सु-वास है ॥[२]

रीतिकालीन शैली में अंकित इस चित्र में चित्र के गुणों का प्रायः अभाव ही है। नायिका तिलोत्तमा के रूप का भान बिल्कुल भी पाठक को नहीं हो पाता। इसमें एक भी ऐसी पंक्ति नहीं है जो कल्पना-चित्र खड़ा करने में समर्थ हो। किन्तु यह कवि का आरम्भ-कालीन प्रयास है। बाद में तो उसने कई मधुर-स्निग्ध चित्र उपस्थित किए हैं। उदाहरण के लिए सिद्धराज से उद्धृत निम्न चित्र का अवलोकन कीजिए—

रात हो चुकी थी दीप दीपित था पौर में;
कांपती शिखा-सी लिपे आंगन में रूपसी

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १५६
२. चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ६७-६८

रानकदे संकुचित और नत थी खड़ी;
था खंगार सम्मुख सजीव एक चित्र सा।[1]

कुम्भकार-पालित राज-कन्या रानकदे और नवयुवक राजा खंगार एक-दूसरे के सम्मुख उपस्थित हैं। रात्रि का नीरव पर मादक क्षण है—दीपक का मन्द प्रकाश उस मादकता को और भी गहरी बनाने में सहायक है। ऐसे मधुमय वातावरण में अनिंद्य सुन्दरी, लज्जाविष्ट, संकोचसंकुल कुलबालिका रानकदे सात्विक-संचारी के प्रभाव से विकम्पित है—पौर में प्रज्वलित दीप-शिखा के समान ही काँप रही है। और खंगार! वह तो रूप और शील की इस साकार प्रतिमा को देखकर स्तब्ध रह जाता है—चित्रस्थ-सा निश्चेष्ट और मूक खड़ा रह जाता है। मानस-चक्षुओं से चित्र का साक्षात्कार कर पाठक भी खंगार के समान ही मन्त्र-मुग्ध हुए बिना नहीं रह पाता। यह तो हुआ एक संस्कार-पोषिता, लज्जा-शीला कुलबालिका का शुद्ध सात्विक रूप-चित्रण। और अब देखिए संस्कार एवं संकोचहीन रमणी का अनावृत सौंदर्यांकन। पंचवटी में पर्णकुटी के प्रहरी के रूप में लक्ष्मण बैठे हुए हैं। ढलती रात है—स्वच्छ ज्योत्स्ना प्रसारित है। लक्ष्मण एक क्षण के लिए उर्मिला के ध्यान में डूब जाते हैं—किन्तु आँख खुलते ही सामने क्या देखते हैं—

अनुपम रूप अलौकिक वेष!
चकाचौंध-सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख एक हास्यवदनी बाला!
रत्नाभरण भरे अंगों में ऐसे सुन्दर लगते थे—
ज्यों प्रफुल्ल बल्ली पर सौ सौ जुगनू जगमग करते थे।
थी अत्यन्त अतृप्त वासना दीर्घ दृगों से झलक रही,
कमलों की मकरन्द-मधुरिमा मानों छवि से छलक रही![2]

बिजली की तरह कौंध जानेवाली रूप की कैसी प्रखर जगमगाहट है। वासना-लिप्त यह चित्र कितना उत्तेजनापूर्ण है। इसमें चित्र-तारिकाओं के नागरिक विलास की स्पष्ट छाप है। किन्तु ऐसे चित्र मैथिलीशरण के काव्य में आपको अधिक नहीं मिलेंगे। उन्होंने अधिकांशतः उत्तेजनाहीन सहज-सौंदर्य का ही अंकन किया है। सीता माता का यह चित्र विशेषतः द्रष्टव्य है—

अंचल-पट कटि में खोंस, कछोटा मारे,
सीता माता थीं आज नई धज धारे।
अंकुर-हितकर थे कलश-पयोधर पावन,
जन मातृ-गर्वमय कुशल वदन भव-भावन।
पहने थीं दिव्य दुकूल अहा! वे ऐसे,
उत्पन्न हुआ हो देह-संग ही जैसे।

---

१. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ६०
२. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १५

कर, पद, मुख तीनों अतुल अनावृत पट-से,
थे पत्र-पुंज में अलग प्रसून प्रकट - से !
कन्धे ढक कर कच छहर रहे थे उनके,
रक्षक तक्षक से लहर रहे थे उनके ।
मुख घर्म-बिन्दुमय-ओस-भरा अम्बुज-सा,
पर कहाँ कण्टकित नाल सुपुलकित भुज-सा ?[1]

सीता का यह रूप-चित्रण देखते ही कालिदास की शकुन्तला का वन्य सौंदर्य स्मरण हो आता है । अपने आप में कितना भव्य और पावन चित्र है । पाठक को सौंदर्यानुभूति तो होती है—किन्तु वासनाहीन—एकदम उत्तेजना रहित ! कवि पयोधरों की पीनता तक का उल्लेख करता है पर अगली ही पंक्ति में 'जन-मातृ-गर्वमय' शब्दावली का प्रयोग कर पाठक की श्रद्धा को जगा देता है । यदि इस चित्र की तुलना पूर्वोद्धृत पंचवटी के चित्र से की जाए तभी इसकी गरिमा का पूर्ण आभास मिल सकता है ।

स्थिर चित्रों का दिग्दर्शन तो हो चुका । अब गतिमय चित्रों का वैभव भी देखिए । वास्तव में गतिमय चित्र ही काव्य की प्रकृति के अनुकूल हैं—स्थिर चित्र काव्य की अपेक्षा चित्रकारी के लिए अधिक उपयुक्त हैं । क्योंकि साक्षात् दर्शन करने पर बहुसंख्यक वस्तु-विन्यास अनुभवगम्य हो सकता है—किन्तु कल्पना-चक्षुओं द्वारा उसे हृदयंगम करना दुष्कर है । इसके विपरीत गति की कल्पना सुगमता से हो सकती है पर पट पर उसका चित्रण अथवा प्रस्तर में उसका अंकन कठिन होता है । एक अंग्रेज़ विद्वान् ने ठीक ही कहा है—"यदि गतिशील व्यापार के क्षेत्र से चित्रकार को बहुत कुछ त्याग देना चाहिए तो कवि के छोड़ने के लिए भी काफ़ी कुछ है—उसे ऐसी वस्तुओं का जमघट उपस्थित नहीं करना चाहिए जो एक साथ नेत्रगम्य हों ।"[2] अभिप्राय यह कि स्थिर चित्र का पट पर और गतिमय चित्र का काव्य में अपेक्षाकृत अधिक सफलता से अंकन किया जा सकता है । अस्तु !

विकट भट से एक गतिमय चित्र लीजिए—

निर्भय मृगेन्द्र नया करता प्रवेश है—
वन में ज्यों, डाले बिना दृष्टि किसी ओर त्यों
भोर के भभूके सा प्रविष्ट हुआ साहसी
बलवीर, मन्द-मन्द धीर गति से धरा

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १५६-१५७

2. If, then, there is much in the domain of progressive action which the painter must renounce, there is much also that the poet must renounce. He must not paint—must not, that is to say, present a multitude of things which are to be apprehended simultaneously by the eye.

—The making of Literature by R. A. Scott James, Edition 1928, pp. 185-186.

मानों बँसी जा रही थी बदन गभीर था,
उठता शरीर मानों अंगे में न आता था ।[1]

आप देख रहे हैं कि कुल-मर्यादा का अभिमानी क्षत्रिय किशोर किस शान से राज-दरबार में प्रविष्ट होता है । उपर्युक्त पंक्तियाँ पढ़ते ही उसका पुष्ट शरीर और मन्द-मस्त चाल स्पष्टतः दृष्टिगत हो जाते हैं । यह तो हुआ एक 'सिंह सपूत' की निर्भय गति का चित्र । अब देखिए अश्वारोही नवयुवतियों के सैनिक वेष और गति का सौन्दर्य—

वामाएँ अनेक, दीर्घ शूल लिए दाहिने
हाथ में, लगाम धरे बाएँ हाथ में, कसे
क्षीण कटि जटित विचित्र कटि बंधों से,
पीठ पर बाल छोड़ ढाल के से ढंग से,
हैम शिरस्त्राण बांधे, मोतियों की कलगी
जिन पर खेलती है स्वच्छ गुच्छ रूपिणी

* * *

मन्दिर-समान उस सुन्दर शिविर की
करती हैं मण्डल बनाकर परिक्रमा ।[2]

हम देखते हैं कवि ने वांछित सामग्री का चयन कर कितने कौशल से सुसज्जित सैनिकाओं के शक्ति-समन्वित सुन्दर रूप और गतिशील चेष्टाओं का चित्र प्रस्तुत किया है । और यदि गति की तीव्रता देखनी हो तो निम्नोद्धृत चित्र का अवलोकन कीजिए—

प्रिया-कंठ से छूट सुभट कर शस्त्रों पर थे,
त्रस्त-वधू-जन-हस्त स्रस्त से वस्त्रों पर थे ।[3]

शत्रुघ्नकृत आपत्सूचक शंखनाद को श्रवण करते ही विलासमग्न दम्पति चौंक उठते हैं । आलिंगनमुक्त हो वीर योद्धा शस्त्रास्त्र-सज्जित सैनिक रूप धारण करते हैं और तुमुल ध्वनि से आतंकित अंगनाएँ अपने अस्त-व्यस्त वस्त्रों को सँभालती हैं । यह सब काम दो क्षण में ही हो जाता है । चेष्टा की गति कितनी तीव्र है । और उसका कैसा स्वाभाविक चित्र है । गतिशीलता का इससे भी अधिक सजीव चित्र देखना हो तो पद्य-प्रबन्ध की 'गोवर्द्धन लीला' से एक उदाहरण लीजिए । इन्द्र के कुपित होने पर ब्रज में घोर वर्षा होने लगी—मेघों का तुमुलनाद और तड़ित् का भयावना प्रकाश वातावरण की भीषणता में और भी वृद्धि कर रहे थे । भयभीत गोप-ग्वाल, पशु-पक्षी आश्रय की खोज में इधर-उधर भागते हैं—ब्रज में हड़बड़ी मच जाती है । उस हड़बड़ी के चित्र के ही दर्शन कीजिए—

आने लगी वन से रँभाती हुई गायें शीघ्र
भागे गोप-वृन्द वेग सारे सराबोर से ।

---

१. विकट भट, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ १४
२. सिद्धराज, तेरहवाँ संस्करण, पृष्ठ ७
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३०५

कान पड़ी बात भी सुनाई पड़ी नेंक नहीं;
मेघों ने मचाया शोर ऐसे बड़े जोर से।
दौड़े खेल छोड़ छोड़ बालक जो ठौर ठौर,
दीखे वीथियों में बहे वारि की हिलोर से।
मार कर कूक मानो मोरनी भी प्यार भरी
बोली बार बार छिपने को कहीं मोर से ॥[१]

घबड़ाहट की द्रुतगति का यह काफ़ी अच्छा चित्र है। तुमुल कोलाहल के योग से चित्र सवाक् हो उठा है। इस पद्य में गति की तीव्रता और ध्वनि की तुमुलता मूर्तिमन्त हो गई है।

यह तो हुई पूरे चित्रों की बात जिनमें अनेक वाक्य-खण्ड चित्र के विभिन्न अवयवों को उभारते हैं। किन्तु कभी-कभी कविगण एक ही रेखा के द्वारा—एक ही अनुभाव के अंकन के द्वारा बड़े कौशल से चित्र उपस्थित कर देते हैं। गुप्त जी के प्रौढ़तर काव्य में भी अनेक रेखा-चित्र उपलब्ध हैं। दो-एक उदाहरण लीजिए। नृशंस कंस द्वारा कारावद्ध दीन देवकी बड़ी उत्सुकता से अपने उद्धारक कृष्ण की बाट जोह रही हैं। निम्न पंक्ति में उनकी करुण दैन्यपूर्ण दशा का अंकन देखिए—

लगी सतृष्ण देवकी की वह कातर दृष्टि उसी पर[२]

आप देखते हैं कि एक ही अनुभाव के चित्रण से करुण-दृष्टि असहाय देवकी का चित्र सामने आ जाता है। चित्र ही नहीं कंस की क्रूरता और कृष्ण द्वारा उसके वध की सारी कथा भी मन में घूम जाती है। इस प्रकार कवि ने एक रेखा के द्वारा ही सम्पूर्ण चित्र का अनुभव करा दिया। साकेत से एक उदाहरण देता हूँ जहाँ यह एक रेखा भी काफ़ी हल्की है। राम के वन से लौट आने पर तपस्वी भरत से उनके मिलाप का चित्र है—

हिल हिल कर मिल गई परस्पर लिपट जटाएँ[3]

लक्ष्य करने की बात है कि यह एक पंक्ति कितनी सारगर्भित है। राम और भरत चौदह वर्ष के पश्चात् मिल रहे हैं। इस चौदह वर्ष के अन्तराल में राम तापस वेष में रहते हैं—और भरत घर में ही वनवास ले लेते हैं। दोनों की काली कुंचित अलकें रूक्ष जटाओं में परिवर्तित हो जाती हैं। दोनों की जटाओं के 'हिल हिल कर' मिल जाने से प्रगाढ़ालिंगन का संकेत मिलता है और इस मिलन-चित्र के साथ ही दोनों की चौदह वर्ष की तपस्या, उस तपस्या के कारण और बीच में आनेवाली विघ्न-बाधाओं की स्मृति हो आती है। इस एक पंक्ति के द्वारा चित्र-विशेष ही नहीं सम्पूर्ण वृत्त चल-चित्रों की भांति घूम जाता है।

अभी तक जितने चित्र प्रस्तुत किए गए हैं वे सभी मानव-चित्र हैं—सब में मानवीय रूप अथवा चेष्टाएं आभासित हैं। वास्तव में गुप्त जी ने अधिकांशतः अंकन भी मानव-चित्रों

---

१. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २५
२. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १२४
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३२६

का ही किया है—वे मूलतः मानवीय संबंधों के कवि हैं। मानवेतर सृष्टि पर उनकी दृष्टि कम ही जाती है। फिर भी प्रकृति-चित्रों का उनके काव्य में एकान्ताभाव नहीं है। सर्वप्रथम उनकी एक प्रारम्भिक कृति 'पद्य-प्रबन्ध' से एक प्राकृतिक चित्र देखिए। वनवास काल में एक बार लक्ष्मण के कार्यवश जंगल में चले जाने पर राम और सीता प्राकृतिक छटा देख रहे हैं। सीता कहती हैं—

देते जो द्विज-गान-पूर्ण तरु ये पुष्पादि की सम्पदा,
पूजा-सी करते सुमन्त्र-पढ़ के मांमेदिनी की सदा।

*　　　*　　　*

क्रीड़ा-पूर्वक वन्य जीव फिरते कैसे सभी ओर हैं,
देखो मेघ-समान देख तुमको वे नाचते मोर हैं।
नापे थे जिसके सुनेत्र तुमने मेरे दृगों से मिला,
आके पास अहो! मृगी यह वही ग्रीवा रही है हिला॥[1]

आप देखते हैं कि ये पंक्तियाँ पढ़ने के पश्चात् कोई संश्लिष्ट चित्र उपस्थित नहीं होता—वस्तु-परिगणन की प्रवृत्ति मात्र परिलक्षित होती है। एक उदाहरण और लीजिए—

चाँदनी छिटकी थी उस रात,
विचरता था वासान्तिक वात।
सो रहे थे यद्यपि जलजात,
अयुत शशि थे सर में प्रतिभात।[2]

प्रकृति का यह चित्र भी विशेष आकर्षक नहीं है—फिर भी पहले चित्र से काफ़ी अच्छा है। मैथिलीशरणकृत सर्वश्रेष्ठ प्रकृति-चित्र पंचवटी और साकेत में मिलेंगे। दोनों से एक-एक उदाहरण देकर इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ। पंचवटी का तो आरम्भ ही प्रकृति-वर्णन से होता है—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चान्दनी बिछी हुई है अवनि और अम्बरतल में।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से,
मानों झीम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोकों से॥[3]

शुभ्र-ज्योत्स्ना में पृथ्वी पुलकित है। आनन्द-मत्त वृक्ष मन्द पवन में 'झीम' रहे हैं। प्रकृति का कैसा सहज-प्रसन्न और आह्लादकारी रूप है। मानवीकरण ने इसे और भी सजीव बना दिया है। 'नग-नाग' चित्रकूट की शोभा भी विशेषतः द्रष्टव्य है—

शिला-कलश से छोड़ उत्स उद्रेक-सा,
करता है नग-नाग प्रकृति-अभिषेक-सा।

---

१. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ११-१२
२. वन-वैभव, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २२
३. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ५

क्षिप्त सलिलकरण किरणयोग पाकर सदा,
वार रहे हैं रुचिर रत्न-मरिण-सम्पदा।
वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जड़ा,
किसे न होगा यहाँ हर्ष-विस्मय बड़ा ?[1]

देखिए निर्जीव पर्वत पर जीवन्त गजराज के व्यापारों का आरोप कितनी कुशलता से हुआ है। यदि झरनों और विकीर्ण जल-सीकरों का सीधा विवरण दे दिया जाता तो उनमें कभी यह सौंदर्य दृष्टिगत न होता। किन्तु इस विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि ऐसे उत्कृष्ट उदाहरण गुप्त जी के काव्य में दो-चार ही मिल सकते हैं—अधिक नहीं !

वर्ण-योजना

चित्रण-कला के साथ ही कवि की वर्ण-योजना पर भी विचार कर लेना आवश्यक है—वर्णों की व्यवस्थित योजना ही तो चित्र है ! वास्तव में उसी के काव्य में उत्कृष्ट चित्रों की उपलब्धि हो सकती है जिसे वर्णों का सूक्ष्म परिज्ञान होगा। संस्कृत में कालिदास और अंग्रेजी में कीट्स रंगों की व्यवस्था में बहुत निपुण थे। इसीलिए वे अपने-अपने साहित्य को अत्यन्त समृद्ध चित्र भेंट कर सके हैं। हिन्दी में भी विद्यापति, सूर, देव और बिहारी के नाम इस विषय में उल्लेखनीय हैं। किन्तु हिन्दी में इस कला के सब से बड़े कोविद सुमित्रानन्दन पन्त हैं—वे इस क्षेत्र में अद्वितीय हैं। गुप्त जी पन्त के समान सजग शिल्पकार नहीं हैं। अतः उनके काव्य में वर्णों की कुशल योजना का सन्धान व्यर्थ है। रंगों का प्रसंग आने पर वे प्रायः बात को इस प्रकार टाल जाते हैं—

कोट-कलशों पर प्रणीत विहंग हैं,
ठीक जैसे रूप वैसे रंग हैं।[2]

फिर भी गुप्त जी से कृती कलाकार के काव्य में वर्ण-योजना के कई अच्छे उदाहरण मिल जाएँगे। इस विषय में यह स्मरणीय है कि रंगों की यह व्यवस्था एकदम अनायास है—सचेष्ट शिल्पकारों के समान यत्नसाधित नही। सब से पहले एक ही रंग की उज्ज्वल आभा का अवलोकन कीजिए—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बरतल में।[3]

अठखेलियाँ करती हुई चन्द्र किरणों एवं विश्व-व्यापी ज्योत्स्ना की धवलता के प्रभाव से पृथ्वी और आकाश श्वेत हैं। अत्यन्त संक्षिप्त होने पर भी यह विवरण कैसा चन्द्रिका-धवल है ! यदि रंग की और अधिक चमक देखनी हो तो उषाकालीन लालिमा का निम्नलिखित स्फुरण देखिए—

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ११३
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १४
३. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ५

स्वर्णालोक पूर्ण नभ है,
जो सूना था सु-प्रभ है।

* *

यह सोने की मूर्ति उषा,
नवस्फूर्ति की पूर्ति उषा।

* *

वह ललाट सिन्दूर अहा।
देखो कैसा दमक रहा।

* *

यह सोने का थाल लिये,
उज्ज्वल उन्नत भाल किये।
सृष्टि तुम्हारे लिए खड़ी,
दृष्टि तुम्हारी किधर पड़ी।[1]

यह रक्ताभ उषा का वर्णन है। उषा की दो विशेषताएँ हैं—लालिमा और चमक। कवि ने कितने कौशल से 'स्वर्णालोक', 'सोने की मूर्ति', 'ललाट सिन्दूर' और 'सोने का थाल' आदि शब्दावली का प्रयोग करके लालिम कान्ति का दृश्य उपस्थित किया है। परन्तु मैथिलीशरण जी ज्योत्स्ना, उषा आदि के उज्ज्वल एवं उद्भासित रंगों की ही नहीं कालिमामय कलुषित वर्णों की भी योजना करते हैं। जय भारत से एक उदाहरण लीजिए—

सब ओर असित आवरण निशा का घोर घना तम छाया,
छिप गई उसी में श्रान्त-क्लान्त-सी शिथिल सृष्टि की काया।
मारी मेघों की फूंक पवन ने दिव के दीप बुझाये,
गोड़े तमसा ने मार्ग सदा के सूझे और सुझाये।[2]

रात्रि का समय है, गहन अन्धकार छाया हुआ है। आकाश मेघों से आच्छादित है—नैश दीप नक्षत्र भी छिप जाते हैं। इसलिए जाने-पहचाने मार्ग भी दिखाई नहीं देते—चारों ओर कालिमा ही का प्रसार है, सम्पूर्ण सृष्टि उसी में लीन है। यहाँ कालिमा का वैभव द्रष्टव्य है। पर एक बात आप देख रहे हैं कि आलोच्य कवि के चित्रों में रंगों की जगमगाहट नहीं है—वर्णों की प्रखरता का अभाव है। कवि के जीवन में भी जगमगाहट एवं प्रखरता ग्राह्य नहीं और काव्य में भी उसी की प्रतिच्छाया मिलती है।

अभी तक हमने जो उदाहरण लिए उनमें एक ही रंग का वैभव था। उसका निरूपण अपेक्षाकृत सरल होता है। कवि के वर्ण-परिज्ञान की परीक्षा तो वास्तव में अनेक वर्णों की योजना से होती है। हमारे कवि की विभिन्न वर्णों की योजना प्रायः परम्परागत है, यथा—

---

१. वैतालिक, संस्करण संवत् २००८, पृष्ठ ८-९
२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४०३

नाक का मोती अधर की कान्ति से
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है[1]
आदि ।

फिर भी कहीं-कहीं सर्वथा नूतन एवं अछूते प्रयोग मिल जाएँगे । ऐसे प्रयोग ही किसी कवि की शक्ति के परिचायक हुआ करते हैं । वैतालिक की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

हरे पाँवड़े बड़े-बड़े
जिनमें लाखों रत्न जड़े
बिछा चुकी है वसुन्धरा[2]

यहाँ पर कवि ने घास की हरीतिमा और हिम-बिन्दु की श्वेत आभा का आभास दिया है। वर्ण-योजना का अच्छा प्रयास है । किन्तु वैतालिक तो आरंभिक कृति है । बाद की रचनाओं में आप वर्णों की और भी कुशल योजना देखेंगे । एक उदाहरण साकेत से उपस्थित करता हूँ—

क्षिप्त सलिल कण किरण योग पाकर सदा
वार रहे हैं रुचिर रत्न-मणि-सम्पदा[3]

चमकते हुए जलबिन्दु सूर्य की किरणों के प्रभाव से और भी दीप्त हो जाते हैं । उस समय वे जलकण ही नहीं, रत्न और मणि बन जाते हैं । उनकी वह सतरंगी आभा देखते ही बनती है—वर्णों की कैसी सूक्ष्म योजना है ! अनेक वर्णों की संश्लिष्ट और सूक्ष्म-योजना का एक और उदाहरण लीजिए—

उत्थित वसुन्धरा से रत्नों की शलाका थी
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी
अंग मानों फूल, कच भृंग हरी शाटिका
ओस मुसकान बन ओठों पर आई थी
सुरभि-तरंग वायु-मण्डल में छाई थी[4]

सुन्दरी हिडिम्बा का चित्र है । उसके गौर वर्ण, कृष्ण अलकों, हरी साड़ी और श्वेत मुस्कराहट की योजना में कवि ने अद्‌भुत कौशल का परिचय दिया है । सभी रंग अपनी अलग आभा विकीर्ण कर रहे हैं । कौशल है उन सब के संश्लेषण में—एक साथ सभी की अनुभूति में ! अन्तिम पंक्ति द्वारा तो कवि ने गंध का भी अनुभव कराने का प्रयत्न किया है । पूर्वोद्धृत पंक्तियों के रंग में थोड़ी चटक है । किन्तु कहीं-कहीं रंगों को बहुत ही हल्का करके मिलाया गया है, यथा—

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २१
२. वैतालिक, संस्करण संवत् २००८, पृष्ठ ६
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ११३
४. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२-१३

झलकता आता अभी तारुण्य है
आ गुराई से मिला आरुण्य है[1]

स्वास्थ्य, सौंदर्य और यौवन के मिश्रण से शरीर में हल्की रंगीनी आ गई है। नव-यौवन की उस अरुणाभ गुराई में सचमुच कितना आकर्षण होगा ! अरुण एवं गौर वर्णों का यह मिश्रण निम्न पंक्तियों में और भी सूक्ष्म हो गया है——

अरुण पट पहने हुए आह्लाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में ?
प्रकट-मूर्तिममती उषा ही तो नहीं ?
कान्ति की किरणे उजेला कर रहीं।
यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई,
आप विधि के हाथ से ढाली गई।[2]

विहान की मधुर वेला में अरुण पट भूषित प्रसन्नवदन उर्मिला प्रासाद में खड़ी है। स्वस्थ और सुन्दर शरीर से स्वर्णिम आभा फूट रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मूर्तिमन्त उषा ही हो। अभिप्राय यह कि शरीर की गुराई, वस्त्र की अरुणाई और वातावरण की दमक सब मिलकर एक हो गए है—अपनी-अपनी आभा एक साथ विकीर्ण कर रहे हैं। रंगों की यह योजना कितनी कोमल-मधुर है। इनसे आगे की पंक्तियों में तो कवि स्पर्श का भी अनुभव करा देता है—

कनक-लतिका भी कमल-सी कोमला,
धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला।[3]

अन्ततः निष्कर्ष यह कि चित्रण एवं वर्ण-योजना आदि की ओर गुप्त जी का विशेष ध्यान नहीं है। विद्यापति और सूर तथा देव और बिहारी आदि के समान चित्रण शक्ति इस कवि में नहीं है। उसकी कल्पना में पन्त के समान सभी भावनाएँ मूर्तरूप में नहीं उपस्थित होतीं। वर्णों का भी सूक्ष्म परिज्ञान मैथिलीशरण जी को नहीं है। चटकीले रंगों एवं रंगों की जगमगाहट का तो अभाव ही है। फिर भी वे कुछ अच्छे चित्र खींच सके हैं, कुछ स्थलों पर उनकी वर्ण-योजना भी स्तुत्य बन पड़ी है। यह उनकी प्रकृत कवि-प्रतिभा का प्रमाण है। उनके चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता है वैविध्य। जीवन और जगत् के विभिन्न क्षेत्रों से उनकी सामग्री का चयन हुआ है। यहीं पर यह भी उल्लेख्य है कि गुप्त जी की चित्रण शक्ति में उत्तरोत्तर विकास होता गया है। उनके प्रौढ़तर काव्यों में आपको अपेक्षाकृत अनेक उत्कृष्ट चित्र मिलेंगे। चित्र तो आरंभिक काव्य में भी हैं—किन्तु उनमें अपरिपक्वता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। उपर्युक्त विवेचन के अन्तर्गत उदाहरणों के चयन में इस तथ्य के स्पष्टी-करण का बराबर ध्यान रखा गया है।

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १९
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १९
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १९

अप्रस्तुत-विधान

वर्ण्य विषय की स्पष्टता एवं सुबोधता के लिए कविगण अप्रस्तुत-योजना करते हैं। प्रकृत अथवा प्रस्तुत की गोचरता एवं बोधगम्यता के निमित्त सभी कवियों ने जीवन के नाना किन्तु परिचित क्षेत्रों से अप्रस्तुत का विधान किया है। वस्तुतः अप्रस्तुत-विधान अभिव्यक्ति को रमणीय एवं सबल बनाने का सबसे सहज तथा उपयोगी साधन है।[1] इस अप्रस्तुत-विधान का मुख्य आधार है साम्य। पर पंडित रामदहिन मिश्र के अनुसार अप्रस्तुत-योजना के मूल में जन्म-जन्मान्तरों की संचित वासना काम करती है।[2] लेकिन यह वासना तो अप्रस्तुत-योजना ही क्या, काव्य मात्र के मूल में अवस्थित रहती है। वास्तव में जब हम अप्रस्तुत-योजना के मूल आधार की बात करते हैं तो अभिप्राय हमारा यह होता है कि अप्रस्तुत के चयन में कवि किस बात का विशेष ध्यान रखता है। इस दृष्टि से अप्रस्तुत का प्रमुख आधार साम्य ही है—किसी भी भाषा के साहित्य की अप्रस्तुत-योजना के मूल में अधिकांशतः आपको किसी न किसी प्रकार की समता ही मिलेगी। साम्य के प्रमुख प्रकार तीन हैं : रूप-साम्य अथवा सादृश्य, धर्म-साम्य अथवा साधर्म्य और प्रभाव-साम्य। गुप्त जी के काव्य से इन तीनों प्रकार के साम्य के उदाहरण लीजिए :

सादृश्य

प्रस्तुत के रूप एवं आकार को स्पष्ट करने के लिए सदृश अप्रस्तुत का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि आज का कवि रूप-रंग के सादृश्य की अवहेलना करने लगा है—वह साधर्म्य एवं प्रभाव-साम्य के प्रति अधिक सचेष्ट है, फिर भी सादृश्य का सर्वथा त्याग कोई नहीं कर सका—क्योंकि वस्तु के स्वरूप का बोध कराने के लिए इसका प्रयोग अनिवार्य है। अनादि काल से कवि-समाज सादृश्य का निरूपण करता आ रहा है। परिणामतः बहुत से उपमान रूढ़ हो गए—किन्तु कालान्तर में अतिरिक्त प्रयोग के फलस्वरूप उनका सारा सौंदर्य बासी पड़ गया। आज के पाठक को उन पिष्टपेषित उपमानों में कोई रस नहीं मिलता। अतः अब सजग कवि उन्हें सयत्न बचाता है—वह अपनी रूप-चेतना को संवेदनीय बनाने के लिए नवीन अप्रस्तुतों की कल्पना करता है। लेकिन गुप्त जी के हृदय में तो परम्परा के प्रति महती श्रद्धा है—उन्हें उसका सर्वथा त्याग स्वीकार्य नहीं। अतएव उनके काव्य में 'कोमलता कंज की है, कान्ति है कलाधर की'[3] आदि परम्परासिद्ध उपमानों का नियोजन आपको अनायास ही मिल जाएगा। साकेत जैसे प्रौढ़तर काव्य में भी ऐसे अप्रस्तुतों का अभाव नहीं है। उर्मिला का रूपचित्रण करता हुआ कवि लिखता है—

पद्मरागों से अधर मानों बने,
मोतियों से दाँत निर्मित हैं घने।[4]

---

१. देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, संस्करण सन् १९४९, पृष्ठ १८२

२. काव्य में अप्रस्तुत योजना : रामदहिन मिश्र, प्रथम संस्करण की भूमिका

३. तिलोत्तमा, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ९७

४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १९

पद्मराग और मोती क्रमशः ओष्ठ तथा दाँतों के लिए प्रसिद्ध उपमान हैं। पद्मराग की लालिमा तथा मौक्तिक की धवल कान्ति से इन्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु सतत प्रयोग ने इन उपमानों से सौंदर्योद्भावना की शक्ति का निराकरण कर दिया है। अतः इनके प्रयोग में असमर्थ परम्परा का पालन मात्र है—आज के पाठक को ऐसे उपमानों से सौंदर्य की कुछ भी अनुभूति नहीं होती।

परम्परा-भक्ति के अतिरिक्त कवि की रूप-चेतना भी विशेष सूक्ष्म एवं प्रखर नहीं है। फिर भी मैथिलीशरण प्रतिभासम्पन्न कवि हैं—उनके काव्य में बिना प्रयास ही सादृश्य के कुछ अच्छे प्रयोग हो गए हैं। सबसे पहले आकार के सादृश्य का एक उदाहरण लीजिए—

"प्यार किया है तुमने केवल !" सीता यह कह मुसकाईं,
किन्तु राम की उज्वल आँखें सफल सीप-सी भर आईं।[1]

अश्रु-पूर्ण नेत्रों की तुलना सफल सीप से की गई है। अश्रुयुक्त नेत्र और मोतीयुक्त सीप में वर्ण-साम्य भी है—किन्तु कवि यहाँ आकार का ही बोध कराना चाहता है। वास्तव में इस उद्धरण का सौंदर्य आकार के साम्य में ही निहित है। पर आकार-साम्य सादृश्य का स्थूल रूप है। सादृश्य का वास्तविक सौंदर्य तो रंग और रूप के साम्य में प्रकट होता है। गुप्त जी के काव्य में इसका भी वैभव देखा जा सकता है। गुरुकुल की निम्नांकित पंक्तियों का अवलोकन कीजिए—

तोपों के उस धुवांधार में,
शस्त्र चमकते थे इस भाँति,
विद्युद्दाम दमक उठते हैं
घिरते मेघों में जिस भांति।[2]

तमसावृत युद्ध-स्थल में चमकते हुए शस्त्रों वरन् चमक-चमक कर अन्धकार में विलीन हो जाने वाले शस्त्रों के स्वरूप बोध के लिए कवि कैसा सटीक उपमान प्रस्तुत करता है। जिसने एक ओर घोर अन्धकार में चमक-दमक कर विलीन होने वाले शस्त्र देखे हैं—और दूसरी ओर मेघाच्छादित आकाश में तड़ित् का तीव्र-तीक्ष्ण पर क्षणिक प्रकाश देखा है वही दोनों के सादृश्य का अनुभव कर सकता है। उपर्युक्त पंक्तियों में तोपों की गड़गड़ाहट से थोड़ी कर्कशता आ गई है। एक कोमल-करुण उदाहरण लीजिए—

होकर भी स्वर्गेश्वरी घोर चिन्ता-चर्विता,
हो उठी प्रदीप्त आत्म-गौरव से गर्विता।
दीख पड़ी अश्रुमुखी धूल-धुली माला-सी,
किंवा धूम-राशि में से जागी हुई ज्वाला-सी ![3]

इन्द्र के स्वर्ग-भ्रष्ट और नहुष के इन्द्र हो जाने पर महादेवी शची घोर चिन्ता में मग्न

---

१. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ४

२. गुरुकुल, संस्करण संवत् २००४, पृष्ठ १६६

३. नहुष, दशमावृत्ति, पृष्ठ २०

हैं। वे धूल से आवृत कुसुम के समान म्लान अथवा धूम्र-निहित वह्नि सदृश मलिन हैं। इस दुःख के अवसर पर असहाय अवस्था में उन्हें अपने वीर-कृत्य स्मरण हो आते हैं। फलतः वे अपने को अबला व अशक्त न समझकर आत्म-गौरव से दीप्त हो उठती हैं। शची की इस अकस्मात् परिवर्तित दशा की स्पष्ट अनुभूति कराने के लिए कवि ने दो उपमाएँ दी हैं : रुदनरत शची आत्मगौरव-संभूत दीप्ति के कारण धुली हुई माला के समान प्रतीत होने लगीं (अश्रुबिंदु पुष्प-स्थित जलकण दिखाई दिए) या फिर चिन्ता की म्लानता में तेज के उद्‌भास से वे घनीभूत धूम से समुद्‌भूत अग्नि-शिखा तुल्य शोभायमान हुईं। मैं समझता हूँ कि ये दोनों उपमाएँ कवि-हृदय में उत्थित शची के जटिल रूप को संवेद्य बनाने में सक्षम हैं। यहाँ पर मैं साकेत के बहुप्रशंसित सादृश्य-निदर्शन को उदाहृत करने का लोभ भी संवरण नहीं कर सकता—

जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,
हत जिसकी पंकज-पंक्ति, अचल-सी काया।
उस सरसी-सी, आभरण रहित, सितवसना,
सिहरे प्रभु माँ को देख हुई जड़ रसना।[1]

अलंकारहीना, श्वेतवस्त्रा विधवा कौशल्या के अभिशप्त व्यक्तित्व और हिमाच्छादित, पद्मपुंजविहीन सरसी के विनष्ट अस्तित्व में अद्‌भुत सादृश्य है। डा० नगेन्द्र इस उद्धरण के सादृश्य-सौंदर्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं—"इस चित्र में कवि ने कौशल्या के विधवा-वेश को अंकित करने में सादृश्य का बड़ा ही सूक्ष्म-विधान किया है। उसमें सादृश्य के कई तत्व हैं, इसीलिए रूप का बिंब बड़ा पूर्ण उतरा है।"[2]

साधर्म्य

साधर्म्य का आधार है धर्म अथवा गुण का साम्य। सादृश्य में तो कवि का उद्देश्य पाठक को रूप-रंग और आकार-प्रकार का बोध कराना ही होता है। किन्तु साधर्म्यमूलक उपमानों के द्वारा वह प्रस्तुत के गुण अथवा धर्म को प्रेषणीय बनाता है। और स्पष्ट शब्दों में साधर्म्य के प्रयोग द्वारा कवि वस्तु के धर्म-विषयक आत्मस्थ अनुभूति को पाठक के लिए संवेदनीय बनाता है। आज सादृश्य का महत्व उतना नहीं रह गया है, शायद सदृश उपमानों के प्रायः रूढ़ हो जाने से उनमें रस नहीं रहा। अब तो अधिकांश अप्रस्तुतों के मूल में आपको धर्म-साम्य ही मिलेगा। आधुनिक कवि बड़ी कुशलता से साधर्म्य का प्रयोग करता है। गुप्त जी ने भी अपनी रचनाओं में इसका सफल उपयोग किया है। प्रमाण के लिए हम यहाँ केवल दो-तीन उदाहरण उपस्थित करेंगे—

उड़ते प्रभंजन से यथा तप मध्य सूखे पत्र हैं,
लाखों यहाँ भूखे भिखारी घूमते सर्वत्र हैं।[3]

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७३
२. साकेत : एक अध्ययन, पञ्चम संस्करण, पृष्ठ १८१-१८२
३. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ ८७

सूखे पत्तों और भूखे भिखारियों में कोई सादृश्य नहीं है। दोनों में कृशता अवश्य है—पर केवल उसके बल पर इनमें रूप-साम्य नहीं मान सकते। वास्तव में दोनों में समता है उड़ने की, मारे-मारे फिरने की। कवि ने शुष्क पत्तों के उड़ने की उपमा द्वारा भूखे भिखारियों की दुर्दशा को स्पष्ट किया है। ये पंक्तियाँ मैथिलीशरण जी की आरम्भिक रचना से उद्धृत की गई हैं। अतः इनमें विशेष चारुत्व का संधान व्यर्थ है। पंचवटी की निम्न पंक्तियों में भी साधर्म्य की छटा देखिए—

हुई विचित्र दशा रमणी की सुन यों एक एक की बात,
लग नाव को ज्यों प्रवाह के और पवन के भिन्नाघात।[1]

लक्ष्मण शूर्पणखा को पूज्या मानकर उससे प्रेमालाप करने से इन्कार कर देते हैं। राम उसको अनुजवधू मानकर उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर देते हैं। उन दोनों के तर्कों में उलझी हुई शूर्पणखा की स्थिति ठीक ऐसी ही है जैसे कि कोई नाव वायु और जल के सम्मुख विरोधी प्रवाहों में फँसकर निकलने का रास्ता न पा रही हो। शूर्पणखा की अवर्णनीय दशा के स्पष्टीकरण के लिए साधर्म्य के आधार पर कवि ने कैसे सटीक अप्रस्तुत की योजना की है! यशोधरा के निम्न उद्धरण में साधर्म्य का द्विगुणित प्रयोग हुआ है—

रवि पर नलिनी की, पितृ-छवि पर मौन दृष्टि तब जा रही,
वहाँ अंक में मधुप, यहाँ मैं, गिरा एक गुण गा रही।[2]

जय भारत से भी साधर्म्य का एक उदाहरण लीजिए—

धुंआ रहा था जो भीतर ही गीला-सा ईंधन पाकर,
हुआ प्रज्वलित दुर्योधन का द्वेषानल झोंका खाकर।[3]

इन्द्रप्रस्थ-स्थित 'मयकृत सभाभवन' के दर्शन कर ईर्ष्या-मलिन दुर्योधन का करुणार्द्र द्वेष भड़क उठा जैसे गीले ईंधन की आग हवा के झोंके से सुलग उठती है। पाण्डवों की समृद्धि देखकर जागृत दुर्योधन के आर्द्र द्वेष में और वायु के झोंके से प्रज्वलित गीले ईंधन की आग में सादृश्य का एकदम अभाव है। समता है केवल एक साथ भड़क उठने के धर्म की। कवि ने सूक्ष्म बात को स्थूल अप्रस्तुत की सहायता से सहज बोधगम्य बना दिया है। बस, द्वापर से एक उदाहरण और देख लीजिए—

······सील-सी लोकालय में
रूढ़ि बैठ जाती है[4]

जैसे किसी स्थान की सील समाप्त होने में नहीं आती—वह अन्दर ही अन्दर गहनतर गह्वरों में प्रविष्ट होती चली जाती है ऐसे ही जब कोई चीज़ रूढ़ि बन जाती है तब उसे

---

१. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ३९
२. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ११७
३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३५
४. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ४३

उखाड़ना असंभव हो जाता है—वह दिन प्रतिदिन समाज में घर करती चली जाती है। सील और रूढ़ि का यह साधर्म्य कितना सूक्ष्म-तरल है !

प्रभाव-साम्य

सादृश्य, साधर्म्य और प्रभाव-साम्य में प्रभाव-साम्य सर्वाधिक श्रेष्ठ और सूक्ष्मतम है। इसकी योजना प्रस्तुत और अप्रस्तुत के प्रभाव की समानता को ध्यान में रखकर की जाती है। "इसका प्रयोग व्यक्ति अथवा वस्तु के गुण को संवेदनीय बनाने के स्थान पर किसी प्रभाव की अनुभूति को स्पष्टतर करने के निमित्त होता है।"[1] सादृश्य और साधर्म्य से प्रभाव की अनुभूति अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इसीलिए उसे स्पष्टतर करने वाले प्रभाव-साम्य का इतना महत्त्व है। लक्षणा के पुजारी आधुनिक कवि की अधिकांश अप्रस्तुत-योजना का आधार प्रभाव-साम्य ही है। इसे देखकर प्राचीनतावादी पंडित भी हर्षित है—"प्रसन्नता की बात है कि छायावादी युग की कविता प्रायः प्रभाव-साम्य पर ही अधिक दृष्टि रखकर की गई है।"[2] प्त जी के काव्य में भी इसका प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। कुछ उदाहरण देखिए—

जी रही है देवराज्ञी कैसे मरे अमरी,
मंडरा रही है शून्य वृन्त पर भ्रमरी[3]

इन्द्र-वियुक्त शची के लिए नीरस जीवन भार हो गया है—उन्हें अमरत्व के अभिशप्त वरदान को वहन करना पड़ रहा है। वे उसी प्रकार उल्लासरहित हैं जैसे कि निष्पुष्पा लता पर मंडराती हुई कोई भृंगी। इन्द्राणी और भ्रमरी में सादृश्य नहीं है। यहाँ साधर्म्य भी आपको नहीं मिलेगा। किन्तु अनाथ शची और शून्य वृन्त पर मंडराती हुई भ्रमरी दोनों का अन्तिम प्रभाव मन पर एक ही पड़ता है—यही इन दोनों का साम्य है। देवराज्ञी की विषम स्थिति को स्पष्ट करने के लिए इससे अधिक उपयुक्त उपमान शायद और नहीं हो सकता। जय भारत की निम्न पंक्तियों में भी प्रभाव-साम्य का ही चमत्कार है—

खलबल से व्याकुल कुल-ललना वाष्प वेग से बफरी सी,
अपने खिचते केशजाल में तड़प रही थी शफरी सी ![4]

दुःशासनकृत केश-कर्षण के समय व्याकुल द्रौपदी जाल में अवरुद्ध मछली के समान छटपटा रही थी। यहाँ द्रौपदी और मीन के छटपटाने में स्थूल साधर्म्य है पर उसमें कुछ सौंदर्य नहीं है। सौंदर्य निहित है दोनों के सम्मिलित प्रभाव की समता में। जिन्होंने कभी जाल में फँसकर खिचती हुई मछली की तड़फड़ाहट को देखा है, और जो बाल पकड़ कर खींची जाती हुई द्रौपदी की आकुल दशा की कल्पना कर सकते हैं वे लोग ही यह बता सकेंगे कि दोनों के सम्मिलित प्रभाव में कितना अद्भुत साम्य है।

---

१. देव और उनकी कविता : डा० नगेन्द्र, संस्करण सन् १९४९, पृष्ठ १८५
२. काव्य में अप्रस्तुत योजना : पं० रामदहिन मिश्र, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ९४
३. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ९
४. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३६

अर्जन और विसर्जन की निम्न पंक्तियों पर भी दृष्टिपात कीजिए—

टूटती ज्वलन्त एक तारा-तुल्य अपनी
लीक कर जाने के लिये ही तुम सहसा
मेरे शून्य भाग्य में हा! उदित हुई थी क्या ?[1]

एक अस्वीकृत प्रेमी अपनी प्रेमिका को ये शब्द कहता है। टूटती हुई तारिका और प्रेमी को छोड़कर जाती हुई प्रेयसी में सादृश्य तो एकदम नहीं है—साधर्म्य भी न होने के बराबर है किन्तु साम्य है प्रभाव का। आकाश से टूटती हुई तारिका दर्शक के मन पर एक कोमल करुण लीक-सी छोड़ जाती है—ठीक ऐसा ही सघन प्रभाव मन पर उस समय पड़ता है जब कोई प्रेमिका अपने प्रेमी को त्याग कर चल दे। प्रभाव-साम्य का यह निदर्शन कितना अनुभवगम्य है। साकेत से भी प्रभाव-साम्य के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। किन्तु मैं केवल एक उदाहरण देकर ही सन्तोष कर लेता हूँ—

हिया-पींजरा शून्य माँ को मिला,
गया सिद्ध मेरा, रही मैं शिला।[2]

यह नव-वय में ही विश्लिष्ट उर्मिला की आत्माभिव्यंजना है। वह अपने को सिद्ध-शून्य शिला के समान मानती है। यह प्रयोग कितना लाक्षणिक है! पति-वियुक्त उर्मिला के लिए सिद्ध-शून्य शिला कैसा सटीक उपमान है! विरहिणी का अवसाद से जड़ीभूत जीवन मन पर जो करुण प्रभाव छोड़ जाता है, सिद्ध रहित शिला की करुण शून्यता और विजन वातावरण की भयानकता भी वही प्रभाव डालती है। प्रभाव-साम्य का यह करुण-माधुर्य निश्चय ही आकर्षक है।

साकेत से ही सादृश्य के उदाहरण-स्वरूप उद्धृत 'जिस पर पाले का एक पर्त सा छाया' आदि पद्य में भी प्रभाव-साम्य का सौंदर्य देखा जा सकता है।—और 'रथ मानो एक रिक्त घन था' (साकेत) आदि छन्द तो प्रभाव-साम्य के उत्कृष्ट निदर्शन के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर ही चुका है। प्रदक्षिणा से एक उद्धरण और देख लीजिए—

मध्य भाग में कुटिल भाग्य-सा
रक्खा था हर का कोदण्ड।[3]

सीता-स्वयंवर प्रसंग चल रहा है। शिव-धनुष मंच पर रखा हुआ है—वह वक्र है। उसकी वक्रता के द्योतनार्थ कवि कुटिलता के लिए प्रसिद्ध अप्रस्तुत—भाग्य—का विधान करता है। इस प्रकार धनुष का अत्यन्त टेढ़ा-मेढ़ा आकार स्पष्ट होता है। दूसरे धनुष की गति भी भाग्य के समान ही कुटिल है अर्थात् जैसे भाग्य का कुछ पता नहीं चलता—उससे पार पाना असम्भव है, वैसे ही शिव-धनुष से पार पाना भी कठिन है। तीसरे भाग्य की कुटिलता

१. अर्जन और विसर्जन, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २३९
३. प्रदक्षिणा, सप्तमावृत्ति, पृष्ठ १५

का उल्लेख होते ही मानव-मन कुछ असमर्थता का-सा अनुभव करने लगता है। अशक्ति और असामर्थ्य की-सी वैसी ही अनुभूति शंभुचाप की बात चलने पर भी होती है। अतः दोनों का प्रभाव भी एक ही है। यह सब कहने का अभिप्राय यह कि प्रदक्षिणा के इस उदाहरण में सादृश्य, साधर्म्य और प्रभाव-साम्य तीनों का स्पृहणीय संगम है। अस्तु!

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् मुझे यह कहने में तनिक भी हिचकचाहट नहीं है कि गुप्त जी को औपम्य-मूलक अलंकार सर्वाधिक प्रिय हैं। चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से रहित कवि के लिए शायद सबसे उपयोगी भी वे ही हैं! मैथिलीशरण जी के काव्य में औपम्य-मूलक अलंकारों के उदाहरण प्रचुर मात्रा में यत्र-तत्र विकीर्ण हैं—एक से एक श्रेष्ठ उदाहरण पुष्कल परिमाण में उपलब्ध हैं। ये पृष्ठ लिखते समय मेरे सामने चयन की जटिल समस्या बराबर बनी रही है। विवेचन से अधिक समय चयन में ही लगा है।—और अब भी हमें पूर्ण संतोष नहीं है। अनेक अनुद्धृत पंक्तियों के प्रति लेखक के मन में मोह बना हुआ है—किन्तु विस्तारभय से उन्हें छोड़ना पड़ रहा है।

इस विषय में इतना और वक्तव्य है कि कवि ने जीवन और जगत् को अपनी समग्रता में ग्रहण किया है अतः उसका अप्रस्तुत-योजना का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसी कारण आपको उसके अप्रस्तुतों में अत्यधिक विभिन्नता मिलेगी। एक ओर जहाँ नित्यप्रति के साधारण जीवन से गृहीत उपमान मिलेंगे—

बस दीप से कज्जल सदृश निज पूर्वजों से हम हुए।[1]

या फिर,

चिन्तामयी मानों चिता,
होती सुता है हे पिता।[2]

वहाँ समाज और राजनीति के व्यापक क्षेत्र से भी—

बाहर से कुछ दीखे न आज,
सब रहे किन्तु भीतर विराज।
रम रहा व्यक्ति में ज्यों समाज।[3]

और प्रकृति की विस्तीर्ण क्रोड़ से लिए गए अप्रस्तुत तो संख्यातीत ही हैं। केवल एक उदाहरण लीजिए—

बैठी है सीता सदा राम के भीतर,
जैसे विद्युद्द्युति घनश्याम के भीतर![4]

एक बात और! गुप्त जी के काव्य-शिल्प का शनैः शनैः विकास हुआ है। साकेत के समय में ही उन्हें प्रौढ़ि की उपलब्धि हो सकी थी। इसीलिए साकेत तथा उसके पश्चात् की

---

१. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ १४७
२. वक-संहार, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १५
३. कुणाल-गीत, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ २४
४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६३

रचनाओं से उद्धृत उदाहरणों में आपको प्रौढ़ि एवं परिमार्जन के दर्शन होंगे। किन्तु उनसे पहली रचनाओं—विशेषतः पंचवटीपूर्व कृतियों—में से जो उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं वे अपरिपक्व और दीप्तिहीन मिलेंगे। उनका चयन केवल विकास-क्रम के स्पष्टीकरण के निमित्त किया गया है।

मूर्त्त और अमूर्त्त अप्रस्तुत

स्वरूप-बोध तथा भाव-तीव्रता की स्पष्टतर अनुभूति के निमित्त कविगण क्रमशः मूर्त्त एवं अमूर्त्त उपमानों की योजना करते हैं। इसके चार रूप हो सकते हैं: मूर्त्त का मूर्त्त-विधान, अमूर्त्त का अमूर्त्त-विधान, मूर्त्त का अमूर्त्त-विधान तथा अमूर्त्त का मूर्त-विधान। इनमें से प्रथम दो तो सुगम और सहज-साध्य हैं—साधारण कवियों की रचनाओं में भी उनका उपयोग देखा जा सकता है। किन्तु अन्तिम दो का वैभव श्रेष्ठ कलाकारों की कृतियों में ही उपलब्ध होगा। वास्तव में इन दो के विधान में ही कवि-कौशल की परीक्षा होती है। आलोच्य कवि की रचनाओं में इनके उदाहरण प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। पहले मूर्त के अमूर्त्त-विधान के कुछ उदाहरण लीजिए—

चला धन्य गुरु विजय पंथ वह
यहाँ यवन भय के ही संग;
ग्रहणकाल भी दे जाता है
मन्त्रसिद्धि का योग अभंग।[1]

यवनों के अत्याचारों से पीड़ित समाज में स्वरक्षा के निमित्त 'पंथ' का शुभ जन्म हुआ। उस दूषित वातावरण में भी श्रेय का उद्भव हुआ जैसे कि ग्रहण के अमंगल काल में ही कतिपय विशिष्ट मन्त्रों की सिद्धि का मंगल अवसर मिलता है। यहाँ यवन-राज्य में पंथ का चल निकलना यह उपमेय है जो मूर्त है। इस जटिल तथ्य को बोधगम्य बनाने के लिए ग्रहणकाल में मन्त्रसिद्धि के अवसर जैसा अमूर्त उपमान ही उपयुक्त है। सिद्धराज से एक उद्धरण देखिए—

हाथी पर बैठा सिद्धराज जयसिंह था,
भाव मानो मूर्तिमान हो उठा था छन्द में।[2]

स्वास्थ्य और सौंदर्य की प्रतिमा राजा जयसिंह गजराज पर सवार हैं—गज भी सर्वगुणसम्पन्न है। हाथी सवार के और सवार हाथी के अनुकूल है। परस्पर की इस अनुकूलता से सौंदर्य बिखर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो अनुकूल छन्द पाकर भाव-सौंदर्य उत्कीर्ण हो रहा हो। अप्रस्तुत अनुभूतिगम्य अतएव अमूर्त है—किन्तु उपमेय के मूर्त सौंदर्य का बोध कराने में सक्षम है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जो स्वयं अमूर्त है वह मूर्त की अनुभूति में कैसे सहायक होगा? इसका समाधान यह है कि कुछ अमूर्त भावनाएँ हमारे मन में मूर्त

१. गुरुकुल, संस्करण संवत् २००४, पृष्ठ ३४
२. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १२२

वस्तुओं से भी अधिक स्पष्ट होती हैं। पूर्वानुभूत होने के कारण वे अमूर्त होते हुए भी अनेक मूर्त किन्तु अननुभूत तथ्यों की अपेक्षा हमारे निकटतर होती हैं। इसीलिए वे उन तथ्यों को हृदयंगम करने में सहायक सिद्ध होती हैं।

अंजलि और अर्घ्य की निम्न पंक्ति में भी मूर्त महात्मा गाँधी के लिए प्रयुक्त उपमान अमूर्त ही हैं—

आया था हम में तू जय-सा
किन्तु अभय-सा चला गया[1]

और—

बुरे स्वप्न में वीर आगया उद्‌बोधन-सा[2]

—तो गुप्त-साहित्य में मूर्त्त के अमूर्त्त-विधान का एक श्रेष्ठ निदर्शन है ही। यह पंक्ति लक्ष्मण-शक्ति प्रसंग से उद्धृत है। शोक-संतप्त राम के शिविर में संजीवनी लेकर हनुमान के आते ही आशा की एक लहर दौड़ जाती है जैसे दुस्स्वप्न की विभीषिका में जागरण से उल्लास का संचार हो जाता है। कैसा सटीक और भावाभिव्यंजक उपमान है। किन्तु यदि पन्त के समान अमूर्त अप्रस्तुतों की झड़ी देखनी हो तो द्वापर से गोपियों की गोष्ठी के लिए नियोजित निम्नलिखित उपमानों का अवलोकन कीजिए—

श्रम कर जो क्रम खोज रही हो,
उस भ्रमशीला स्मृति-सी;
एक अतर्कित स्वप्न देखकर,
चकित चौंकती धृति-सी;
हो होकर भी हुई न पूरी,
ऐसी अभिलाषा-सी;
कुछ अटकी आशा सी, भटकी,
भावुक की भाषा-सी;
सत्य-धर्म-रक्षा हो जिससे,
ऐसी मर्म मृषा-सी;
कलश कूप में, पाश हाथ में,
ऐसी भ्रान्त तृषा-सी।
उस थकान सी ठीक मध्य में,
जो पथ के आई हो;

* * *

---

१. अंजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३९
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३१८

तुल्य दुःख में हृत-ईर्ष्या-सी,
विश्व व्याप्त समता-सी ![1]

आदि ।

, अब अमूर्त्त के मूर्त्त-विधान के भी दो-तीन उदाहरण देखिए—

फिर भी एक विषाद वदन के तपस्तेज में पैठा था,
मानो लोह-तन्तु मोती को वेध उसी में बैठा था ।[2]

माण्डवी के मुख-मण्डल का चित्रण है—वह तप के तेज से दीप्त है । पर उस दीप्ति में विषाद का मालिन्य भी है । इस म्लान दीप्ति की स्पष्टतर अनुभूति के लिए—भावमय अमूर्त्त रूप को सहज-ग्राह्य बनाने के निमित्त कवि मूर्त्त उपमान उपस्थित करता है : मानो वह लौह-तन्तु-बिद्ध मोती हो । मौक्तिक की सहज कान्ति के प्रसार में जैसे लौह-तन्तु बाधा उपस्थित करता है वैसे माण्डवी के तेज-दीप्त मुख के अकृत्रिम सौन्दर्य का प्रकाश विषाद की मलिनता से व्याहत है । इस प्रकार कवि ने बड़े चातुर्य से एक अमूर्त्त तथ्य को मूर्तिमन्त कर दिया है । जय भारत से भी एक उदाहरण देखिए—

यदि जीवित होती, क्या कहती माद्री मुझ से आज,
शल्य-विद्ध-सा विकल हो गया विवश शल्य नरराज ।[3]

दुर्योधन के कपट-कृत्य के वशीभूत होकर मद्रराज शल्य को उसकी ओर होना पड़ता है । अनीप्सित कर्म करने की विवशता के कारण उन्हें अत्यधिक मानसिक कष्ट है । वे स्वभागिनेय पाण्डवों के कल्याणकामी हैं—किन्तु प्रतिश्रुत होकर उनको पक्ष लेना पड़ता है कुरुराज दुर्योधन का । मन और शरीर के इस असामंजस्य के कारण, परिस्थिति के भीषण वैषम्य के कारण वे विवश हैं । उनकी वृत्तियाँ विकीर्ण हैं । — और यदि उनकी बहन माद्री जीवित होती तो इस तरह शत्रु का पक्ष लेते देखकर वह क्या कहती—यह ध्यान आते ही तो वे तड़प उठते हैं । महाराज शल्य की इस तड़फड़ाहट और अकुलाहट का उपमान है शल्यविद्ध व्यक्ति । अभिप्राय यह कि उनके मन में द्वन्द्वजनित इतनी पीड़ा और व्याकुलता थी जितनी कि शल्य से विद्ध होने पर किसी के शरीर में होती है । यहाँ कवि ने मन की अमूर्त्त भावना के लिए मूर्त्त अप्रस्तुत की योजना करके उसे गोचरता प्रदान की है । मंगल-घट में संकलित 'भीष्म प्रतिज्ञा' शीर्षक कविता के निम्नोद्धृत पद्य में भी यही बात देखी जा सकती है—

यों देख शोभा उसकी गम्भीर,
तत्काल भूपाल हुए अधीर ।
क्या देख पूर्णेन्दु नितान्त कान्त,
कभी रहा है सलिलेश शान्त ?[4]

---

१. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १६१, १६२ और १६४
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २६६
३. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २६८
४. मंगल-घट, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ६५

यहाँ धीवर-कन्या योजनगंधा पर लुब्ध महाराज शान्तनु के मानसिक उद्वेलन का अनुभव कराने के लिए कवि ने कुशलतापूर्वक वैसे ही मूर्त्त अप्रस्तुत का विधान किया है। अस्तु !

धर्म के लिए धर्मी का प्रयोग

मूर्त्त के लिए अमूर्त्त और अमूर्त्त के लिए मूर्त्त अप्रस्तुत-विधान से भी अधिक आकर्षक एवं सप्रभाव अभिव्यंजना प्रणाली है धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग। कविगण प्रभाव को तीव्रता प्रदान करने में इसका उपयोग करते हैं। निश्चय ही किसी वस्तु के गुण अथवा धर्म के बदले स्वयं उस वस्तु का उल्लेख होने पर संवेदन में तीव्रता आजाएगी। किन्तु यह प्रयोग बहुत कठिन है। इस प्रणाली को अपनाते समय कवि को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि धर्म के लिए प्रयुक्त धर्मी परम्परा से उसी धर्म-विशेष के लिए प्रसिद्ध हो। और स्पष्ट शब्दों में धर्मी ऐसा होना चाहिए कि हम संस्कारतः उसके उल्लेख मात्र से वांछित धर्म को ग्रहण कर सकें। छायावादी कवियों में इस प्रणाली का विशेष प्रयोग मिलेगा। महाकवि पन्त की निम्न पंक्तियों में इसके उपयोग के कारण कितनी रमणीयता है—

उषा का था उर में आवास
मुकुल का मुख में मृदुल विकास;
चांदनी का स्वभाव में भास
विचारों में बच्चों के सांस ![1]

छायावादी न होने पर भी युग-प्रतिनिधि मैथिलीशरण जी में इस प्रवृत्ति का अभाव नहीं है। उनके दो-तीन प्रयोग देखिए—

(१) **'तुम पर आप जयसिंह निछावर है !'**
"मुझ पर ?" आके लगी मूठ सी गुलाल की
रानक को, ... ।[2]

राणा खंगार अनिंद्य सुन्दरी रानकदे से बात कर रहे हैं। वे उसे सूचना देते हैं कि जेता जयसिंह भी उस पर मुग्ध है। यह सुनते ही रानकदे के मुख पर लज्जा की लालिमा दौड़ जाती है मानो गुलाल की मूठ आ लगी हो। गुलाल अपने रक्तवर्ण के लिए प्रसिद्ध है अतः रानकदे की लज्जा की सघन लालिमा अथवा घनीभूत लज्जा की अनुभूति में सहायक है। एक उदाहरण पृथिवीपुत्र से लीजिए—

तुमसे साँझ मिले प्रिय, मुझको मुझसे तुम्हें सवेरा।[3]

यहाँ पर विराम के लिए 'साँझ' और उल्लास एवं प्रकाश के लिए 'सवेरा' का प्रयोग हुआ है। ये दोनों उपमान अपने इन गुणों के लिए परम्परा से प्रसिद्ध हैं वरन् यों कहिए कि

---

१. आधुनिक कवि २ (पन्त), छठा संस्करण, पृष्ठ ११
२. सिद्धराज, तेरहवाँ संस्करण, पृष्ठ ६५
३. पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ५०

प्रतीक बन गए हैं। ऐसे उपमान ही इस प्रणाली में उपयोगी सिद्ध होते हैं। काबा और कर्बला की निम्न पंक्ति की भी यही विशेषता है—

पशु बाईस-सहस्र उधर वे लड़ने वाले।[1]

गौतम के 'महाभिनिष्क्रमण' पर महाप्रजावती की यह उक्ति तो अत्यन्त तीव्र है—

किया मुझे कैकेयी तूने।[2]

कैकेयी के समान कुख्यात न कहकर कैकेयी ही कह देने में निश्चय ही अतिशय तीव्रता है—उक्ति विशेषतः प्रभावपूर्ण बन गई है।

धर्मी के लिए धर्म का प्रयोग

इसके विपरीत लेखकगण व्यक्ति अथवा वस्तु के स्थान पर गुण या धर्म का प्रयोग भी करते हैं। धर्म के लिए धर्मी का प्रयोग करने में यदि कवि का उद्देश्य तीव्रता होता है तो अभिव्यंजना की इस प्रणाली का लक्ष्य व्यापकता हुआ करता है। उदाहरण लीजिए—

हित में अहित अहित में ही हित
किन्तु मानता है अविवेक।[3]

यहाँ अविवेकी न कहकर अविवेक कहा गया है जिसने निश्चय ही उक्ति के प्रभाव को व्यापक बना दिया है। यदि धर्मी का प्रयोग किया जाता तो उसका क्षेत्र प्रसंगगत व्यक्ति-विशेष तक सीमित रहता—किन्तु धर्म के प्रयोग से इसका क्षेत्र-विस्तार हो गया है। साकेत की निम्नोद्धृत पंक्ति की सप्रभावता का कारण भी यही विशेषता है—

राक्षसता उनको विलोक कर
थी लज्जा से लोहित-सी।[4]

राम-लक्ष्मण के आर्योचित सात्विक कर्मों को देखकर राक्षस अपनी हीनता पर, अपने दूषित कृत्यों पर लज्जित थे। कवि ने राक्षसों के स्थान पर उनके गुण अथवा धर्म राक्षसता का प्रयोग करके अपनी बात को अधिक गम्भीर और व्यापक बना लिया है।—और काबा और कर्बला के इस उद्धरण—

नंगी होकर नची जहाँ वह दानवता है।[5]

—में दानवों के स्थान पर दानवता के प्रयोग ने अत्याचार की उस विभीषिका को द्विगुणित कर दिया है। इनके अतिरिक्त उक्ति को चमत्कृत एवं वक्रतापूर्ण बनाने की और भी कई युक्तियों का प्रयोग गुप्त-साहित्य में मिलेगा, जैसे :

---

१. काबा और कर्बला, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ८१
२. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ २८
३. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ६२
४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २७८
५. काबा और कर्बला, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ८१

१. कर्त्ता के स्थान पर कार्य का ग्रहण—

शंका-समाधान दोनों का

यों ही चिर आलाप चला ![१]

२. आधेय के स्थान पर आधार का प्रयोग—

भरी भरी फिरती है तेरे

अंचल-धन से धरती ।[२]

३. अंश की जगह अंशी का प्रयोग—

सुख-दुःख दोनों दृष्टियों से सृष्टि सुध-बुध खो रही ।[३]

अथवा—

लिपि मुद्राओ भूमि-भाग्य की दमको-दमको ।[४]

४. अंशी की जगह अंश का ग्रहण—

जब अंचल की छाया पाली,

तब क्या तप, क्या वृष्टि ?[५]

५. साधक के स्थान पर साधन का वर्णन—

ढाल लेखनी, सफल अन्त में मसि भी तेरी ।[६]

मानवीकरण

यह भी अभिव्यक्ति को कलापूर्ण बनाने की एक उत्तम युक्ति है। इसमें निर्जीव पदार्थों, अमूर्त भावनाओं अथवा अवयव-विशेष पर मानवीय गुणों का आरोप किया जाता है। जिससे उनकी संवेदनशीलता में पर्याप्त वृद्धि होती है। अंग्रेज़ी में तो मानवीकरण को अलंकारत्व-पद ही प्राप्त हो गया है। किन्तु हमारे यहाँ अलंकारों का विवेचन और ही ढंग से होने के कारण इसे यह पदवी नहीं मिल सकी। फिर भी भारतीय कवि चिरकाल से जाने-अनजाने इसका थोड़ा-बहुत प्रयोग करता रहा है। कालिदास ने तो मेघ को दूत बनाकर मानवीकरण के प्रति अपने असीम अनुराग का परिचय दिया है। हिन्दी के प्राचीन कवियों—विशेषतः विद्यापति, सूर, तुलसी, देव आदि—में भी प्रयास करने पर कुछ उदाहरण मिल सकते हैं। किन्तु इसका प्रचुर प्रयोग आधुनिक काल में ही हुआ है—प्रसाद, पन्त और निराला की रचनाएँ मानवीकरण से परिपूर्ण हैं। हमारे कवि ने भी इस विधि को अपनाकर अपने साहित्य की श्रीवृद्धि की है। उसकी आरम्भ-कालीन रचनाओं में भी मानवीकरण का सौन्दर्य देखा जा सकता है—

---

१. **झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १०१**

२. **द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १५३**

३. **यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ६४**

४. **साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३०४**

५. **कुणाल-गीत, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ६४**

६. **साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २९४**

कान पकड़ कर मन को,
प्रिय का गुण-जाल खींच झट लेता है।[1]

मन एक अगोचर इन्द्रिय है—किन्तु कवि ने मानवता का आरोपण करके उसे शरीरी के रूप में उपस्थित किया है। तभी तो उसका कान पकड़कर खींचा जा रहा है। इस उद्धरण में तो मानव अंगों का आरोप सूक्ष्मेन्द्रिय मन पर हुआ है। पर निम्न पंक्तियों में स्थूल अवयव नासिका को सशरीर व्यक्तित्व प्रदान किया गया है—

जन्म दिया जिसने तुमको फिर,
पाला, बराबर अन्न खिलाया।
नाक की नाक तुम्हारे लिए यहीं,
चन्द्र की चांदी जो चान्दनी लाया।[2]

इसी तरह कवि अमूर्त यौवन को भी मानव शरीर दे देता है—और फिर वार्द्धक्य द्वारा उसके दाँत तोड़ने, अंग-भंग करने आदि का उल्लेख करता है—

बोल, युवक, क्या इसीलिए है
यह यौवन अनमोल हाय!
आकर इसके दांत तोड़ दे,
जरा भंग कर अंग-काय?[3]

यहाँ मानवीकरण की सहायता से कवि यौवन और जरा के चिरसंघर्ष की अपनी गहरी अनुभूति को मूर्त रूप देने में समर्थ हो सका है। अब लीजिए भावना पर मानवीय व्यापारों के आरोप का एक उदाहरण—

नहीं अन्ध ही किन्तु बधिर भी अबला वधुओं का अनुराग।[4]

यहाँ अबलाओं के अनुराग को अन्धा और बहरा बताया गया है—वह कवि के सामने अमूर्त्त न होकर साकार प्रतिमा के रूप में आता है। अतएव कवि ने उस पर मानव-गुण आरोपित कर दिया है। अबला वधुओं के अनुराग की मूर्ति होने के कारण वह अन्ध और बधिर है—क्योंकि कामिनियाँ प्रेम के वशीभूत हो जाने पर न कुछ देखती हैं और न कुछ सुनती हैं। मानवीकरण के साथ-साथ लक्षणा का चमत्कार भी द्रष्टव्य है। साकेत के इस उद्धरण—

मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है कुछ गाऊँ,
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ।[5]

—में शिशु स्वभाव एवं चेष्टाओं का आरोपण और भी स्पष्ट है। रुदन और गान दो

---

१. चन्द्रहास, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ ७७
२. स्वदेश-संगीत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२०
३. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १४
४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २८२
५. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २३६

हठी बालकों के समान शर्त लगाए बैठे हैं ।

निर्जीव पदार्थों में गुप्त जी ने केवल प्रकृति का ही मानवीकरण किया है । यद्यपि वे मानव और मानवता के गायक हैं—मानवेतर सृष्टि अथवा प्रकृति के प्रति उनके मन में छायावादी कवि का सा सहज अनुराग नहीं है फिर भी उन्होंने अपनी रचनाओं में यथा-प्रसंग प्रकृति चित्रण किया है ।—और तन्मयता के क्षणों में उन्होंने कहीं-कहीं उसका मानवी-करण भी कर दिया है । केवल दो उदाहरण प्रस्तुत करना यथेष्ट होगा—

है बिखेर देती वसुन्धरा मोती, सबके सोने पर,
रवि बटोर लेता है उनको सदा सवेरा होने पर ।
और विरामदायिनी अपनी संध्या को दे जाता है,
शून्य श्याम तनु जिससे उसका नया रूप झलकाता है ।[1]

बिखेरना, बटोरना, देना—ये सब मानवीय व्यापार हैं । प्राकृतिक वस्तुओं पर इन क्रियाओं का आरोप करके उनका मानवीकरण किया गया है । यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि पृथ्वी से आकाश तक, हिमबिन्दुओं से तारागण तक विस्तीर्ण विराट् क्रिया-कलाप को कवि ने किस कौशल से मानवीय रंग दिया है । साकेत में छाया का मानवीकरण और भी अधिक कौशल से हुआ है—

कहीं सहज तरु तले कुसुम-शय्या बनी,
ऊंघ रही है पड़ी जहाँ छाया घनी ।
घुस धीरे से किरण लोल दलपुंज में,
जगा रही है उसे हिलाकर कुंज में ।
किन्तु वहाँ से उठा चाहती वह नहीं,
कुछ करवट-सी पलट लेटती है वहीं ।[2]

मानव-चेष्टाओं का आरोप इससे अधिक और क्या होगा ? यहाँ पर कवि ने मानवी-करण की अपनी अद्‌भुत क्षमता का परिचय दिया है । इसे किसी भी छायावादी कलाकार की रचना के समकक्ष रखा जा सकता है । साकेत में ये पंक्तियाँ पढ़ते ही मेरे मन में तो छाया को मानव-रूप में उपस्थित करने वाली पन्त की बहु-प्रशंसित कविता—

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई
आदि ।

—अकस्मात् ही घूम जाती है । गुप्त जी के उक्त उद्धरण में मानवीकरण-सौन्दर्य के साथ ही उनके सूक्ष्म पर्यवेक्षण की भी दाद देनी पड़ेगी । लेकिन उनके काव्य में ऐसे उदाहरण दो-एक ही मिलेंगे—अधिक नहीं ।

---

१. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ७
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ११०

नारीत्व का ग्राभास

'कहीं सहज तरु तले कुसुम-शय्या बनी' ग्रादि पूर्वोल्लिखित उद्धरण में ग्रापने एक बात लक्ष्य की होगी कि छाया को ग्रर्द्धनिद्रित पार्श्व-परिवर्तन करती हुई नायिका के रूप में उपस्थित किया गया है। उस उपस्थितीकरण में मानवीकरण का वैशिष्ट्य है—ग्रचेतन पर चेतन के ग्रारोपण का सौन्दर्य है। किन्तु उस सौन्दर्य का बहुत कुछ श्रेय नारीत्व को है। यदि नायिका के ग्रतिरिक्त ग्रौर किसी चेतन व्यक्तित्व का ग्रारोप छाया पर होता तो निश्चय ही सौन्दर्य में ग्रंशतः कमी ग्रा जाती। नारी की 'सुन्दर कोमलता' का कुछ प्रभाव ही ऐसा है कि जहाँ भी उसका उल्लेख होता है वहीं ग्रभिनव सौन्दर्य की विचित्र सृष्टि हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रकृति के जिन चित्रों में नारीत्व का ग्राभास मिलता है वे विशेषतः रमणीय होते हैं। ग्रधुनातन कवियों में इस प्रवृत्ति का विशेष विकास दृष्टिगत होता है। हमारा कवि भी उससे ग्रछूता नहीं रह सका।

ग्ररुण सन्ध्या को ग्रागे ठेल,
देखने को कुछ नूतन खेल,
सजे विधु की बेंदी से भाल ;
यामिनी ग्रा पहुँची तत्काल।[1]

यहाँ वर्णन है विलीन होती हुई सन्ध्या ग्रौर बढ़ती हुई रात्रि का। उनको देखा गया है दो मुग्धा नायिकाग्रों के रूप में। शृङ्गारित-प्रसाधित रात्रि कुतूहलवश 'नूतन खेल' देखने के लिए ग्रपने ग्रागे खड़ी हुई सन्ध्या को धकेल कर ग्रागे बढ़ रही है।

पावस के ग्रागमन पर चिर-तृषित वनस्थली की तुष्टि हो जाती है, कम से कम कुछ दिन के लिए तो उसे शान्ति मिल ही जाती है—

लेकर सुख की। सांस स्वस्थ थी ग्रागतपतिका वनिका,
चौमासे भर तक चिन्ता से मुक्त हुई वह धनिका।[2]

प्राकृतिक वर्णन के पीछे झाँकता हुग्रा चिन्तामुक्त ग्रागतपतिका का मधुर-तरल चित्र उसे कितना ग्राकर्षक बना देता है।—ग्रौर निम्नांकित पंक्तियों में गणिका के विलासी व्यक्तित्व का ग्रारोपण भी देखिए—

तारक-चिह्नदुकूलिनी पी-पी कर मधुमात्र,
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर-पात्र।[3]

एक स्थान पर तो ग्रमूर्त्त नियति पर भी नारी-सुलभ चेष्टाएं ग्रारोपित हैं—

नियति, कितना स्वप्नमय है यह ग्रसित ग्रभिसार तेरा ?[4]

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ४५
२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७३
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २२०
४. कुणाल-गीत, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ३८

यहां कृष्णाभिसारिका की मनोरम कल्पना ने नियति के कुटिल-कराल चक्र को भी रमणीय बना दिया है। अस्तु !

विशेषण-विपर्यय

मानवीकरण के साथ-साथ विशेषण-विपर्यय पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। पश्चिम के इन दोनों अलंकारों को आज के कवियों ने बड़े मनोयोग से अपनाया है। मानवीकरण का उल्लेख तो पहले ही हो चुका है। विशेषण-विपर्यय भी उसी के समान काव्य की श्रीवृद्धि में सहायक एक सशक्त साधन है। इसमें विशेषण को उसके वास्तविक—अभिधा द्वारा निर्धारित—स्थान से हटाकर किसी दूसरे स्थान पर रख दिया जाता है। इस स्थानान्तरण के मूल में भारतीय आचार्य की प्रयोजनवती लक्षणा रहती है। विशेषण-विपर्यय के उपयोग से जहाँ उक्ति वक्र और चमत्कारपूर्ण बनती है वहाँ भाव-गाम्भीर्य की व्यक्ति भी सहज ही हो जाती है। श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु के अनुसार 'भावाधिक्य की व्यंजना के लिए विशेषण-विपर्यय अलंकार का व्यवहार बहुत सुन्दर है।'[1] यह अलंकार, उक्ति की यह विधि यद्यपि पश्चिम की देन है फिर भी प्राचीन काव्य में इसका एकान्ताभाव नहीं है। काव्य के उस अतल पारावार में डुबकी लगाने पर उदाहरण मिल ही सकते हैं, यथा—

ह्वै है सोऊ घरी भाग उघरी अनंदघन
सुरस बरसि लाल देखि हौं हरी हमें।[2]

यहाँ 'भाग उघरी घरी' का उल्लेख किया गया है। शुभ घड़ी में मनुष्य का भाग्य खुला करता है—किन्तु कवि ने विशेषण-विपर्यय से घड़ी को ही खुले भाग्य वाली बना दिया है।

प्राचीनों के काव्य में उदाहरण प्राप्त होने पर भी यह प्रवृत्ति आधुनिक काव्य की ही विशेषता है। आज का कवि इसका सयत्न प्रयोग करता है। गुप्त जी ने भी किया है। बस, अन्तर केवल इतना है कि और कवि तो विशेषण-विपर्यय के प्रति सचेष्ट हैं—किन्तु उनमें प्रयत्न का अभाव है। इसीलिए उनके विपुल काव्य में भी इसके बहुत कम उदाहरण हैं, पर हैं अवश्य : इन्द्रपदारूढ़ महाराज नहुष को 'शुक्ल-श्यामांग सौभाढ्या', चिरयौवना उर्वशी कामोपभोग का निमन्त्रण देती है—

आपमें हमारा काम आज मूर्त्तिमन्त है !
चलिए न, नन्दन में उत्सुक बसन्त है !![3]

यहाँ वसन्त की उत्सुकता का उल्लेख किया गया है। पर वास्तव में वसन्त उत्सुक नहीं है वरन् वसन्त के प्रभाव से उल्लसित नन्दन वन का चिर उपभोगी अप्सरा-समाज नए इन्द्र के सम्पर्क के लिए उत्कण्ठित है। कवि ने उक्ति में वैचित्र्य तथा विशेष अर्थ के समाहार

---

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १५१
२. काव्य-दर्पण : पं० रामदहिन मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४३३ से उद्धृत
३. नहुष, दशमावृत्ति, पृष्ठ ३७

के लिए वसन्त को ही उत्सुक कह दिया है। एक उदाहरण और लीजिए—

मैं अपने लिए अधीर नहीं,
स्वार्थी यह लोचन-नीर नहीं।[1]

राम और सीता के आराध्य युग्म के साथ ही लक्ष्मण के भी अयोध्या का परित्याग कर वन को चले जाने पर दुखी उर्मिला अपनी सखी सुलक्षणा को यह बात कह रही है। वह उसे समझा रही है कि मैं इस समय अपने लिए व्यग्र नहीं हूँ—मेरे रुदन का कारण अपने स्वार्थ की अपूर्ति अथवा उसके पूर्ण होने की आशा का अभाव नहीं है। और स्पष्ट शब्दों में वह बता रही है कि मैं स्वार्थी नहीं हूँ पर कवि ने विशेषण-विपर्यय से 'लोचन-नीर' को ही अस्वार्थी कह दिया है। इससे कथन में वक्रता तो आ ही गई है—उसके साथ ही अद्भुत समास गुण भी! 'स्वार्थी यह लोचन-नीर नहीं' में विशेषण-विपर्यय का उपयोग न करके इसमें समाविष्ट भाव को यदि अभिधा के द्वारा प्रकट किया जाता तो कुछ इस प्रकार की बात कहनी पड़ती—मेरे नेत्रों से अश्रुपात हो रहा है, इसे देखकर तुम यह सोच सकती हो कि मैं अपने सुखाभाव के कारण रो रही हूँ। किन्तु यह बात नहीं है—मैं इतनी स्वार्थिनी नहीं हूँ। इतनी लम्बी बात को विशेषण-विपर्यय के बल पर ही कवि केवल एक पंक्ति—'स्वार्थी यह लोचन-नीर नहीं' में आबद्ध करने में समर्थ हो सका है। 'शशि खिसक गया निश्चिन्त हंसी हंस बांकी' में भी विशेषण-विपर्यय का ही सौंदर्य है। इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि मैथिलीशरण जी ने विशेषण-विपर्यय के आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अभिशंसित प्रकार का भी प्रयोग किया है, यथा—

कैसी हिलती डुलती अभिलाषा है, कली, तुझे खिलने की।[2]

लेकिन ऐसे उदाहरण गुप्त जी के काव्य में बहुत कम हैं।

अन्य अलंकार

गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त मानवीकरण एवं विशेषण-विपर्यय जैसे पाश्चात्य अलंकारों तथा औपम्यमूलक उपमानों का विवेचन हो चुका है। अल्पांश में उन्होंने अन्यान्य प्रकार के अलंकारों एवं अप्रस्तुत-योजनाओं का प्रयोग भी किया है। कवि की अभिव्यंजना-प्रणाली के पूर्ण परिचय के लिए उनका उल्लेख भी आवश्यक है। यहाँ पर उन्हीं का दिग्दर्शन कराया जाएगा।

सम्भावनामूलक अप्रस्तुत

कुछ उपमानों का सौंदर्य सादृश्य, साधर्म्य अथवा प्रभाव-साम्य में न रहकर संभावना में निहित रहता है। कल्पना-प्रधान कवि बड़े मनोरम संभावित उपमानों की कल्पना किया करते हैं—उन्हें यहीं पर अपनी कल्पना की उन्मुक्त उड़ान भरने का अवसर मिलता है। किन्तु हमारा कवि कल्पना-प्रिय कवि नहीं है, फिर भी उसके काव्य में कुछ मनोरम संभावनामूलक

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ११७
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २३१

अप्रस्तुत-योजनाएँ सहज-प्राप्त हैं। केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ—

पहुँचे गंगा-तीर धीर, धृति धार कर
यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी
स्वर्ग-कण्ठ से छूट, धरा पर गिर पड़ी
सह न सकी भव-ताप अचानक गल गई[1]

गंगा को गली हुई मौक्तिक-माला बताया गया है। मौक्तिक-माला के द्रव में और गंगाजल में जो रंग का सादृश्य है वह तो बहुत स्थूल है। वास्तव में यहाँ रमणीयता सादृश्य की नहीं संभावना की है। कल्पना का विलास ही इसमें द्रष्टव्य है। साथ ही उसके स्वर्ग से गिरने, भव-ताप से द्रवित होने आदि का उल्लेख होने के कारण इस लोक में गंगा के अवतरण की पौराणिक कथा मन में घूम जाती है। जिससे यह सम्भावना और भी प्रभावपूर्ण बन जाती है।

आरोपमूलक अलंकार

वे अलंकार जिनके मूल में किसी न किसी प्रकार से प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोपण रहता है, आरोपमूलक कहलाते हैं। प्राचीनों के रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपह्नुति इसी प्रकार के अलंकार हैं। हमारे कवि ने भी आरोपमूलक अलंकारों का काफ़ी प्रयोग किया है—

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से,
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के ?[2]

विरहिणी उर्मिला पर रुदन्ती (जड़ी विशेष) का आरोप किया गया है। कवि ने अद्भुत कौशल से रूपक की योजना की है। निम्नोद्धृत पंक्तियों में भी सांग रूपक की छटा देखिए—

निशि की अंधेरी जवनिके, चुप चेतना जब सो रही,
नेपथ्य में तेरे, न जाने, कौन सज्जा हो रही !
मेरी नियति नक्षत्रमय ये बीज अब भी बो रही,
मैं भार फल की भावना का व्यर्थ ही क्यों ढो रही ?[3]

आरोपमूलक अलंकारों के दो-एक उदाहरण और लीजिए—

उस काल मारे क्रोध के तनु कांपने उनका लगा,
....

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ६६
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६५
३. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ६३

मुख बाल-रवि-सम लाल होकर ज्वाल-सा बोधित हुआ,
प्रलयार्थ उनके मिस वहां क्या काल ही क्रोधित हुआ ॥[1]

*　　　　*　　　　*

उत्थित वसुन्धरा से रत्नों की शलाका थी,
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी।[2]

या

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझकर भ्रांति से,
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है।[3]

इनमें से प्रथम में 'मिस' शब्द के द्वारा क्रुद्ध अर्जुन पर काल का, दूसरे उदाहरण में सन्देह के द्वारा हिडिम्बा पर भिन्न-भिन्न वस्तुओं का आरोप किया गया है। अन्तिम पद्य में अधर की लालिमा से प्रभावित नाक के मोती में दाड़िम के बीज का और उर्मिला के नाक पर शुक का आरोपण है।

प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का विधान

कभी-कभी अप्रस्तुत प्रस्तुत को निगीर्ण ही कर जाता है अर्थात् प्रस्तुत सर्वथा अनुल्लिखित रहता है।—उसके स्थान पर वर्णन होता है अप्रस्तुत का। इसमें ध्यान रखने की बात यह है कि अप्रस्तुत-योजनाएँ ऐसी हों जिनसे प्रस्तुत के ग्रहण में कोई बाधा न पड़े। नहीं तो यह भूषण न होकर दूषण हो जाएगा। रूपकातिशयोक्ति एवं अन्योक्ति आदि के मूल में यही विशेषता रहती है। गुप्त जी के काव्य से इसके उपयोग के केवल तीन उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ—

पंजर भग्न हुआ, पर पंछी अब भी अटक रहा है आर्य ![4]

*　　　　*　　　　*

गजराज पंक में धँसा हुआ,
छटपट करता था फँसा हुआ।
हथनियां पास चिल्लाती थीं,
वे विवश विकल बिल्लाती थीं।[5]

*　　　　*　　　　*

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां संस्करण, पृष्ठ ३६
२. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १२
३. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २१
४. प्रदक्षिणा, सप्तमावृत्ति, पृष्ठ ७३
५. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १२१

अरे विहंग, लौट आ, तेरा
नीड़ रहा इस वन में;
छोड़ उच्चपद की उड़ान वह,
क्या है शून्य गगन में ?[१]

पहली पंक्ति में मरणासन्न जटायु, दूसरे छन्द में राम-वियोग में छटपटाते महाराज दशरथ और तीसरे पद्य में गोपियों द्वारा मथुरा-स्थित कृष्ण के प्रति निवेदन का आलेखन हुआ है। ये सभी उदाहरण स्वयं व्यक्त हैं, इनके विवेचन की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में ऐसे उदाहरणों का गुण भी यही है।

चमत्कारमूलक अलंकार

उत्तम काव्य का मूलोद्देश्य सहृदय के मन का प्रसादन है। किन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसमें अल्पांश में बौद्धिक विस्मय भी निहित रहता है। प्रसादन और विस्मय के मणि-कांचन संयोग से काव्य की रोचकता एवं दीप्ति में वृद्धि होती है। किन्तु इन दोनों का मिश्रण उचित अनुपात में होना चाहिए। जो लोग विस्मय अथवा चमत्कार का एकान्त विरोध करते हैं उनकी रचना में एकरसताजनित अरुचि आजाती है—और जो लोग चमत्कार के चक्कर में पड़कर भाव की हत्या करते हैं उनका काव्य खिलवाड़ बन जाता है। गुप्त जी के काव्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि चमत्कारमूलक अलंकार उन्हें विशेष प्रिय नहीं हैं। ऐसे अलंकारों के उदाहरण उनके काव्य में गिनती के ही मिलेंगे।—और जो हैं भी उनमें चमत्कार भावाभिव्यंजना में साधक ही हुआ है बाधक नहीं—

हा ! नेत्र-युत भी अन्ध हूँ, वैभव-सहित भी दीन हूँ,
वाणी-विहित भी मूक हूँ, पद-युक्त भी गति-हीन हूँ।[२]

अथवा—

देखो, दो दो नयन बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी ![३]

यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है—कारण के विद्यमान होने पर भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। किन्तु चमत्कार-आधृत यह अलंकार उत्तरा अथवा यशोधरा के विलाप की गंभीरता में बाधक नहीं है वरन् उनकी असहाय अवस्था की प्रभावपूर्ण व्यंजना में सहायक ही सिद्ध हुआ है। और भी दो-एक उदाहरण लीजिए—

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो, रात का जाना हुआ।

---

१. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १८५

२. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ २६

३. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ११६

क्योंकि उसके अंग पीले पड़ चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले ।[1]

*　*　*

प्राण तो हैं, किन्तु कोई प्राणी नहीं जिनमें
एक हैं जो, किन्तु ऐक्य भाव नहीं जिनमें ।[2]

*　*　*

दीप्ति मुझे देगा अभिराम कृष्ण पक्ष ही ।[3]

ये सब उदाहरण चमत्कारमूलक अलंकारों के हैं—प्रथम में विभावना, द्वितीय और तृतीय में विरोधाभास का उद्‌भास है। किन्तु आप देखते हैं कि आलंकारिकता कहीं भी भाव-व्यंजना में व्याघात नहीं डालती। अन्तिम पंक्ति को छोड़कर और कहीं तो अलंकारत्व का भान भी नहीं होता।—और उसमें भी कोई क्लिष्ट कल्पना नहीं है। वरन् उसकी आलंकारिकता सहज-ग्राह्य है।

आतिशय्यमूलक अलंकार

प्रभावक्षमता की वृद्धि के निमित्त कविगण अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हैं। मानव-स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह विषय के साधारण वर्णन से प्रभावित नहीं होता—अतिशयोक्ति-पूर्ण उपस्थिति से ही उसमें वांछित प्रभाव की सृष्टि की जा सकती है। अतएव आतिशय्य-मूलक अलंकार चिरकाल से प्रभाव की सिद्धि के लिए मुख्य साधन रहे हैं। पर अतिशयोक्ति का महत्त्व साधन रहने में ही है। जब वह स्वयं साध्य बन जाती है, भाव और प्रभाव को भूलकर जब कवि आतिशय्य को ही उद्देश्य मान बैठता है तब उसकी रचना काव्य न होकर बौद्धिक कसरत मात्र रह जाती है। किन्तु इस बौद्धिक ऊहापोह में इतना आकर्षण है कि बिहारी जैसे रससिद्ध कवि भी उसके प्रयोग का लोभ संवरण नहीं कर पाए। उनके—

इत आवति, चलि जाति उत, चलि छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरें-सी रहै, लगी उसासन साथ ॥[4]

—आदि दोहों में ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाने वाली यही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। भाव की सप्रभाव व्यक्ति के साधन के स्थान पर जब अतिशयोक्ति स्वयं साध्य बन बैठती है तब भाव की इसी तरह मट्टी पलीद हुआ करती है। सौभाग्य से हमारे कवि में इस प्रवृत्ति का एकान्ताभाव है। चमत्कारमूलक अलंकारों के समान ही आतिशय्यमूलक अलंकार भी उसे प्रिय नहीं हैं। फिर भी कोई कवि आतिशय्य से बिल्कुल बच नहीं सकता। हाँ, गुप्त जी ने उसे साधन रूप में ही स्वीकार किया है। अपनी स्थापना की पुष्टि के लिए केवल दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७
२. पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४६
३. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३४
४. बिहारी-बोधिनी, ला० भगवानदीन 'दीन,' दोहा नं० ४६६

(१) शर खींच उसने तूण से कब किधर सन्धाना उन्हें ;
बस विद्ध होकर ही विपक्षी-वृन्द ने जाना उन्हें ।[1]

(२) वहाँ हर्ष के साथ कुतूहल छा गया,
नाव चली या स्वयं पार ही आगया ।[2]

प्रथम उद्धरण में अभिमन्यु के अद्भुत युद्ध-कौशल तथा द्वितीय में नाव की तीव्र गति के वर्णन में आतिशय्य का उपयोग हुआ है। किन्तु आप देख रहे हैं कि यह प्रयोग किसी प्रकार भी उपहासास्पद नहीं है वरन् भाव की सप्रभाव व्यंजना में सहायक ही है। अतिशयोक्तिपूर्ण अन्य वर्णनों की भी यही विशेषता है।

अन्ततः निष्कर्ष यह कि गुप्त जी के काव्य में प्रायः सभी अलंकार विद्यमान हैं। अभिव्यंजना की सभी श्रेष्ठ प्रणालियों का सुष्ठु प्रयोग हुआ है। अपेक्षाकृत औपम्यमूलक अप्रस्तुत-योजनाएं अधिक हैं। उनके प्रभूत निदर्शन सहज उपलब्ध हैं। किन्तु चमत्कारमूलक अलंकार बहुत कम हैं—और जो हैं भी वे साधन-रूप में ही आए हैं, साध्य कभी नहीं बन पाए। यह कवि की समृद्ध भावुकता का परिणाम है। उधर विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण, धर्मी के स्थान पर धर्म का प्रयोग और धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग आदि लक्षणामूलक अलंकार उसके कलात्मक दृष्टिकोण के परिचायक हैं। इन अभिव्यंजना-प्रणालियों के कई प्रयोग तो अत्यन्त उत्कृष्ट हैं जो किसी भी छायावादी रचना के प्रतियोगी के रूप में उपस्थित किए जा सकते हैं।

साधारणतः मैथिलीशरण जी के काव्य को अलंकारहीन कह दिया जाता है। किन्तु उपर्युक्त परिदर्शन के पश्चात् इस भ्रम का निवारण हो जाना चाहिए। अभिव्यंजना की विभिन्न प्रणालियों के निदर्शन-स्वरूप पूर्वोद्धृत अवतरण अलंकृत स्थलों का अंश मात्र हैं। और भी एक-से-एक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अतः गुप्त जी का काव्य अलंकृतिहीन नहीं है। हाँ, अलंकार के प्रति आग्रह उनको कभी नहीं रहा है। इसीलिए उनकी रचना अलंकार-भूषित तो है—किन्तु अलंकार-मुखर नहीं। यहाँ पर यह भी उल्लेख्य है कि आलोच्य कवि के अलंकरण के उपकरणों का क्षेत्र अधिकांश आधुनिक कवियों के समान परिमित नहीं है। वरन् उनमें जीवन-व्यापी विस्तार मिलता है जो उसे सूर, तुलसी प्रभृति साहित्यिक महारथियों की समकक्षता प्रदान करता है।

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ १२

२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १०४

(ग) भाषा

भाषा अभिव्यक्ति का सहज और सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। चाहे वह ईश्वर-प्रदत्त हो या व्यक्तिकृत—निश्चय ही वह सबल और निर्भ्रांत अभिव्यंजना का अनिवार्य साधन है। भाषा के आविष्कार से पहले मनुष्य किस प्रकार विचार-विनिमय करते होंगे आज इसकी कल्पना भी हमारे लिए असह्य और असम्भव है, फिर भी कोई ऐसा युग रहा होगा अवश्य ! और नहीं, कम से कम ऐसा युग तो निश्चय ही रहा होगा जिसका शब्दकोष सौ-पचास शब्दों तक ही सीमित था। प्रमाण के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। हमारे कवि द्वारा प्रयुक्त उस खड़ी बोली को ही लीजिए जिसे हम लिखते, पढ़ते और बोलते हैं। आज यह काफ़ी समृद्ध और समर्थ है—इसमें कोमलता और मसृणता, पौरुष और ओज तथा कान्ति और माधुर्य—ये सभी गुण सुतरां उपलब्ध हैं। पर यह सदा से ऐसी ही नहीं चली आई है—अनेक संस्थान इसके जीवन-पथ में रहे हैं। शुरू-शुरू में इसकी शब्द-संख्या भी अल्प ही थी। विस्तृत देश की बृहत् योजनाओं एवं हृदय के 'गहनतर गह्वरों की सूक्ष्म भाव-वीचियों' की अभिव्यक्ति में सक्षम खड़ी बोली का शब्द-भण्डार भी आरम्भ में निश्चित रूप से संकुचित ही था। आरम्भ में ही क्यों, साहित्य-क्षेत्र में मैथिलीशरण जी के पदार्पण के समय भी वह निर्धन और अपुष्ट थी—मार्दव एवं कान्ति का तो उसमें सर्वथा अभाव ही था। ऐसी क्षीण-कोशा और अपरिमार्जित भाषा उन्हें उत्तराधिकार स्वरूप मिली थी ! उसके वर्द्धन और मार्जन में कवि के योगदान का विवेचन एवं मूल्यांकन करने से पूर्व हिन्दी साहित्य के पूर्वमैथिलीशरण युगों के काव्य में खड़ी बोली के प्रयोग का संक्षिप्त दिग्दर्शन भी आवश्यक है।

गुप्त जी से पूर्व काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली

ऐतिहासिक दृष्टि से प्राकृत और अपभ्रंश के पश्चात् हिन्दी का उद्भव हुआ। किन्तु परवर्ती अपभ्रंश में भी स्पष्टतः हिन्दी के लक्षण विद्यमान हैं अतएव कतिपय भाषाविद् तो उसे पुरानी हिन्दी कहना ही अधिक पसंद करते हैं। "मध्यकाल के पहले भाग में हिन्दी की पुरानी बोलियों ने विकसित होकर ब्रज, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण किया।"[१] इनमें से ब्रज और अवधी तो साहित्यिक भाषाओं के रूप में स्वीकृत हुईं—उनमें प्रचुर मात्रा में काव्य-प्रणयन हुआ, किन्तु खड़ी बोली वर्तमान काल से पहले उपेक्षित ही रही। इसीलिए उसकी उत्पत्ति के विषय में अनेक विद्वानों को भ्रान्ति रही है। उपर्युक्त तथ्य से अपरिचित मनीषियों ने खड़ी बोली को एक नवाविष्कृत भाषा माना। खड़ी बोली के सम्बन्ध में दूसरा भ्रम यह भी रहा है कि उसका निर्माण उर्दू के फ़ारसी-अरबी के शब्दों के स्थान पर संस्कृत शब्द रखकर किया गया है। किन्तु यह सब एकदम अशुद्ध है। इनके विरुद्ध सबसे बड़ा तर्क यह है कि रामप्रसाद निरंजनी, इंशाअल्ला खाँ, सदलमिश्र, लल्लूलाल तथा सदासुखलाल की

---

१. हिन्दी भाषा : श्यामसुन्दरदास, संस्करण सन् १९५४, पृष्ठ ४३-४४

रचनाओं में उपलब्ध भाषागत प्रौढ़ि और वाक्यगत विन्यास किसी नव-निर्मित भाषा में नहीं आ सकते ।

उपर्युक्त भ्रान्तियों का मुख्य कारण शायद यह है कि विक्रम की बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक काव्य-भाषा के रूप में ब्रज का एकच्छत्र राज्य रहा है (और उस समय तक हिन्दी साहित्य में काव्य के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं), खड़ी बोली अन्यान्य उपभाषाओं के समान उपेक्षित होकर 'एक कोने में पड़ी रही' । लेकिन, जैसा कि शुक्ल जी कहते हैं, "किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व नहीं था ।"[1] वस्तुतः खड़ी बोली की विद्यमानता का आभास अपभ्रंश काल से ही बराबर मिलता चला आ रहा है । यह बात दूसरी है कि काव्य-भाषा के रूप में वह आधुनिक काल से पूर्व गृहीत नहीं हुई ।

खड़ी बोली की सर्वस्वीकृत विशेषता है 'आ'कार-बाहुल्य । ब्रज की प्रवृत्ति 'ओ'कार की ओर है तो अवधी 'ए'कार-बहुला भाषा है । पुरानी हिन्दी और अपभ्रंश में इनकी ये परस्पर-भिन्न प्रवृत्तियाँ ही इनके अस्तित्व की परिचायक हैं । इस दृष्टि से देखें तो खड़ी बोली का इतिहास भी काफ़ी पुराना है, काव्य-भाषा के रूप में अंगीकृत न होने पर भी प्राचीन काल से ही उसका व्यवहार हो रहा है । सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन (बारहवीं शताब्दी) में अपभ्रंश के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत—'भल्ला हुआ जु मारिया.........'—आदि प्रसिद्ध दोहे के भल्ला, हुआ, मारिया आदि शब्दों में खड़ी बोली की उक्त विशेषता द्रष्टव्य है । बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों के अन्य अनेक अपभ्रंश-कवियों की कृतियों में भी खड़ी बोली का विशेष लक्षण—'आ'कार प्रामुख्य—स्पष्टतः वर्तमान है । अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि कोई अपभ्रंश खड़ी बोली के रूप में विकसित हो रही थी । अपभ्रंश के पश्चात् रासो ग्रन्थ आते हैं—शायद हिन्दी के प्रथम ग्रन्थ वे ही हैं । उनकी भाषा में भी खड़ी बोली की विशिष्ट प्रकृति स्पष्टतः परिलक्षित है । बीसलदेव रासो की निम्न पंक्तियों का अवलोकन कीजिए—

सुरनर मोह्या सुरगका ।[2]

* * *

दवका दाधा हो कूपल लेइ
जीभका दाधा न पाल्हवइ ।[3]

—फिर चौदहवीं शताब्दी के अमीर खुसरो ने तो खड़ी बोली के काफ़ी परिमार्जित रूप का प्रयोग किया ही है, यथा—

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, नवाँ संस्करण, पृष्ठ ४०८-४०९

२. बीसलदेव रासो, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त तथा अगरचंद नाहटा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७१

३. बीसलदेव रासो, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त तथा अगरचंद नाहटा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ९७

एक पुरुष बहुत गुन भरा। लेटा जागे सोवे खड़ा॥
उलटा होकर डाले बेल। यह देखो करतार का खेल॥[1]

आप देख रहे हैं खड़ी बोली का कैसा व्यवस्थित और निखरा हुआ रूप है। परन्तु खुसरो की रचनाओं के ऐसे अंश एकान्ततः मौलिक और प्राचीन नहीं हैं। असल में खुसरो के नाम से प्रचारित सभी पहेलियों, मुकरियों और दो-सखुने आदि को प्रामाणिक मानना असम्भव और असंगत कल्पना है, फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनमें निश्चित रूप से खड़ी बोली का पूर्वाभास है। अस्तु !

इसके बाद साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भक्ति काल आता है। उसमें भी खड़ी बोली की विद्यमानता का आभास है। प्रमाण के लिए निम्नांकित उद्धरण पर्याप्त हैं—

कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।
राम कहें भला होइगा, नहिं तर भला न होइ॥[2]

—कबीर

हरि-सा हीरा छाँड़ि कै, करै आन की आस।[3]

—रैदास

घीव दूध में रमि रह्या, व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ें ते और॥[4]

आगे के काव्य में भी खड़ी बोली का बराबर प्रयोग होता रहा है। रहीम, भूषण, सूदन, तोष आदि कवियों की रचनाओं में उसके प्रचुर उदाहरण सहज उपलब्ध हैं। रहीम विरचित मदनाष्टक के अधोलिखित पद्य—

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखन-वाला चांदनी में खड़ा था॥
कटि तट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला॥[5]

—में खड़ी बोली का माधुर्य दर्शनीय है। इसी प्रकार भूषण के—

तुझसे सवाई तेरा भाई सलहेरि पास,
कैद किया साथ का न कोई वीर गरजा।[6]

—जैसे पद्यांशों में निश्चित रूप से खड़ी बोली व्यवहृत है।

मध्यकाल में ही गद्य में भी खड़ी बोली का प्रयोग आरंभ हुआ। अकबर के सम-

---

१. कविता-कौमुदी (पहला भाग), सं० रामनरेश त्रिपाठी, सातवाँ संस्करण, पृष्ठ ५३९
२. कबीर-ग्रंथावली, सं० श्यामसुन्दरदास, पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ ४
३. कविता-कौमुदी (पहला भाग), सं० रामनरेश त्रिपाठी, पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ १६४
४. " " " " पृष्ठ २७५
५. रहीम रत्नावली, सं० मायाशंकर याज्ञिक, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ ७३
६. भूषण-भारती, इंडियन प्रेस (प्रयाग), प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १५३

कालीन कवि गंग ने 'चंद छंद बरनन की महिमा' की रचना खड़ी बोली गद्य में की। इसकी भाषा परिमार्जित नहीं, फिर भी काफ़ी व्यवस्थित और सहज-ग्राह्य है। 'चंद छंद बरनन की महिमा' को देखने पर मन में यह बात जम जाती है कि इसकी रचना के समय (१६वीं शताब्दी में) खड़ी बोली बोल-चाल की भाषा अवश्य रही होगी। रामप्रसाद निरंजनीकृत 'भाषा योगवासिष्ठ' की स्वच्छ और व्यवस्थित खड़ी बोली को देखकर यह विश्वास और भी दृढ़ हो जाता है—क्योंकि भाषा में वैसा परिमार्जन पर्याप्त प्रयोग के पश्चात् ही आता है। अतएव मध्यकाल में खड़ी बोली को प्रचारित मान लेना सुसंगत और साधार है।

किन्तु मध्यकाल में खड़ी बोली का निश्चित व्यवहार होने पर भी साहित्य में वह आदृत कभी नहीं हुई—उसे काव्य-भाषा का स्थान तो कभी नहीं मिला। आधुनिक काल के प्रवर्तक भारतेन्दु ने भी खड़ी बोली का व्यवहार गद्य में ही किया है। उनके पद्य में प्रायः चिरव्यवहृत ब्रज ही प्रयुक्त है—क्योंकि ब्रजभाषा-काव्य का अभ्यस्त उनका रसिक मन खड़ी बोली को काव्योचित ही स्वीकार नहीं कर सका। पं० बालकृष्ण भट्ट के अनुसार भी खड़ी बोली की कविता में सरसता, मनोहरता, और काव्य-गुणों का समावेश असम्भव है।[1] पं० प्रतापनारायण मिश्र का भी यही विचार था। किन्तु यह धारणा उचित नहीं है—निर्भ्रान्त नहीं है। वास्तव में किसी भी भाषा का सौरस्य एवं माधुर्य एकान्ततः वस्तुनिष्ठ नहीं हुआ करता वरन् अधिकांशतः आत्मनिष्ठ ही होता है। इसकी पुष्टि के लिए उदाहरण प्रस्तुत करना अनावश्यक है; हरिऔध जी अपने प्रिय-प्रवास की विद्वत्तापूर्ण भूमिका में इस विषय का विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। उनका यह निष्कर्ष सोलह आने सही है—"जिन प्राचीन विद्वान् सज्जनों का संस्कार ब्रजभाषा के माधुर्य और कान्तता के विषय में दृढ़ हो गया है, और इस कारण उसकी ममता उनके हृदय में बद्धमूल है, वे यदि कहें कि खड़ी बोली की कविता कर्कश होती है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या!"[2] यह 'दृढ़ संस्कार' और 'बद्धमूल ममता' ही भारतेन्दु, भट्ट जी और मिश्र जी की पूर्वोल्लिखित धारणा का मूल है।

धीरे-धीरे ब्रज का यह जादू उतरने लगा, फिर भी बाबू हरिश्चन्द्र का इतना प्रभाव था कि उनके जीवन-काल में कोई भी उनका विरोध न कर सका। खड़ी बोली में कविताएँ अवश्य लिखी गईं पर केवल खड़ी बोली का कोई कवि नहीं था। किन्तु भारतेन्दु के पश्चात् खड़ी बोली का आन्दोलन बड़े ज़ोर-शोर से चल पड़ा। गद्य में तो उसे भारतेन्दु के जीवन-काल में ही प्रमुख स्थान मिल चुका था, यह आन्दोलन उसे पद्य में भी उसी तरह ग्रहण करने के लिए हो रहा था। अन्दोलनकर्त्ताओं में सर्वाधिक उग्र थे मुज़फ़्फ़रपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री। प्रतापनारायण मिश्र आदि उनका विरोध करते थे। किन्तु ईसा की बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते हवा ही बदल गई। दिन प्रतिदिन ब्रजभाषा का स्थगन और उसके स्थान पर खड़ी बोली की प्रतिष्ठा होने लगी।

---

१. दे० प्रिय-प्रवास, पंचम संस्करण की भूमिका, पृष्ठ १०

२. प्रिय-प्रवास, पंचम संस्करण की भूमिका, पृष्ठ २८

जनरुचि के इस परिवर्तन के मूल में अयोध्याप्रसाद खत्री के उग्र प्रयत्नों को विस्मृत नहीं किया जा सकता, फिर भी गद्य की सर्वस्वीकृत भाषा खड़ी बोली को पद्य की प्रमुख भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का अधिकांश श्रेय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को ही दिया जाना चाहिए। सन् १६०३ ई० में सरस्वती के सम्पादक-पद पर आरूढ़ होते ही उन्होंने गद्य और पद्य की भाषा के एकीकरण के निमित्त प्राणपण से प्रयत्न किया। यह प्रयत्न जारी तो पहले से ही था, किन्तु—"द्विवेदी जी का गौरव इस बात में है कि उनके आदर्श, उपदेश और सुधार के परिणामस्वरूप ही हिन्दी-संसार ने गद्य की भाषा को ही पद्य की भाषा स्वीकार कर लिया।"[1] उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही अनेक कवियों ने खड़ी बोली में लिखना शुरू किया तथा कुछ नये कवि प्रकाश में आए जिनमें से एक मैथिलीशरण जी भी हैं। पत्र-पत्रिकाओं ---विशेषत: सरस्वती—में खड़ी बोली की कविताओं की धूम मच गई, वह काव्य की प्रधान भाषा बन गई।

काव्य-क्षेत्र में गुप्त जी के पदार्पण के समय खड़ी बोली की दशा

प्रमुख काव्य भाषा के पद पर आसीन होने पर भी खड़ी बोली का रूप अभी अनिश्चित और अस्थिर था। यद्यपि भारतेन्दु काल से ही वह गद्य की एकान्त भाषा चली आ रही थी फिर भी उसमें वाक्य-विन्यास और व्याकरण-संबंधी अनेक त्रुटियाँ बनी हुई थीं। ईसा की बीसवीं शताब्दी के इन प्रारम्भिक वर्षों में खड़ी बोली की अपरिपक्वता, अपरिमार्जन, शक्तिहीनता और शब्द-कोष-क्षीणता का सभी विद्वानों ने उल्लेख किया है। आधुनिक युग के पूर्वमैथिलीशरण काल में तो खड़ी बोली लड़खड़ा ही रही थी, प्रमाण के लिए निम्नांकित अवतरण देखिए—

(१) **बरसा रितु सखि सिर पर आई पिय बिदेस छाए।**
हमें अकेली छोड़ आप कुबरी सों बिलमाए॥
संदेश भी नहीं भेजवाए।
वादे पर वादा झूठा कर अब तक नहिं आए।
बिथा सो कही नहिं जाती।
पिया बिना मैं व्याकुल तड़पूं नींद नहीं आती॥
रात अंधेरी पंथ न सूझै घोर घटा छाई।
रिमझिम रिमझिम बूंदें बरसें झोंके पुरवाई॥
पपीहन पी पी रट लाई।[2]
—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डा० उदयभानु सिंह, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २६१
२. भारतेन्दु-ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, संस्करण संवत् १६६१, पृष्ठ ५०६

(२) सकल सृष्टि की सुघर सौम्य छवि एकत्रित तहं छाई है।
प्रति की बसें मनुष्यों ही के मन में अति अधिकाई है॥
* * *
देखूं हूं मैं इन्हें मनुज-कुल-नायकता का अधिकारी॥[1]
—श्रीधर पाठक

—पर साहित्य में गुप्त जी के प्रवेश के समय भी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। खड़ी बोली का अपना शब्द-भाण्डार अब भी सीमित था—उस क्षति की पूर्ति के लिए संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्दों का उन्मुक्त आदान या फिर साधारण बोल-चाल के भद्दे अनगढ़ और कवित्वहीन शब्दों का प्रचुर प्रयोग हो रहा था। उदाहरण के लिए मैथिलीशरण जी के सहयोगी अथवा समसामयिक और उनसे पाँच-दस साल पहले के कवियों के कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) अजब है रंगत दुनिया की।
बदलती रहती है तेवर।
किसी पर सेहरा बंधता है।
उतर जाता है कोई सर॥[2]
—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

(२) रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली।[3]
—'हरिऔध'

(३) कामिनियों के मधुर मधुर रवकारक नव नूपुर-धारी,
पद से स्पर्श किये जाने की न कर अपेक्षा सुखकारी।
गुद्दे से लेकर अशोक ने, तत्क्षण महा मनोहारी,
कली नवल-पल्लव-युत सुन्दर धारण की प्यारी प्यारी॥[4]
—महावीर प्रसाद द्विवेदी

(४) वन-बीच बसे थे, फंसे थे ममत्व में, एक कपोत-कपोती कहीं;
दिन रात न एक को दूसरा छोड़ता, ऐसे हिले मिले दोनों वहीं।
बढ़ने लगा नित्य नया नया नेह, नई नई कामना होती रहीं;
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं।[5]
—रूपनारायण पाण्डेय

---

१. कलरव, सं० हरिकृष्ण 'प्रेमी', द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६३
२. पारिजात, हरिऔध, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २५८
३. प्रिय-प्रवास, पंचम संस्करण, पृष्ठ ३६
४. कवि-भारती, साहित्य-सदन (चिरगांव), प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ११
५. कवि-भारती, साहित्य-सदन (चिरगांव), प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १३०

(५) कहीं गोचर भूमि में सांड सुडौल, भरे अभिमान सुहा रहे थे;
कहीं ढोरों को साथ में लेके अहीर, मनोहर वेणु बजा रहे थे।[1]

—लोचनप्रसाद पाण्डेय

(६) नृप नीति जगै न अनीति ठगै भ्रम भूत लगै न प्रजाधर को।
झगड़े न मचैं खल खर्ब लचैं मद से न रचैं भट संगर को॥
सुरभी न कटैं न अनाज घटैं सुख भोग डटैं डपटैं डर को।
दिन फेर पिता वर दे सविता, कर दे कविता कवि शंकर को॥[2]

(७) करने चले तंग पतंग जलाकर मिट्टी में मिट्टी मिला चुका हूँ।
तम-तोम का काम तमाम किया दुनिया को प्रकाश में ला चुका हूँ॥
परवा न हवा की करें कुछ भी, भिड़े जाके जो कीट पतंग जलाये।
निज ज्योति से दे नव ज्योति जहान को अन्त में ज्योति में ज्योति मिलाये॥[3]

—गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

उपर्युद्धृत अवतरणों में से १ और ७ में उर्दू का पुट है तो ३ में संस्कृत शब्दों की भरमार है, और २ की संस्कृत पदावली में तो हिन्दी का संधान ही दुष्कर है। ५ और ६ में सांड, ढोरों, झगड़े, डटें, डपटें, आदि अकाव्यात्मक शब्दों का प्रयोग तथा ४ की नीरस गद्यात्मकता कैसी भद्दी और अरुचि-उत्पादक है।

गद्य की दशा भी अच्छी नहीं थी। भाषा-सुधारक के रूप में प्रसिद्ध आचार्य द्विवेदी की आरम्भिक रचनाएँ भी त्रुटिपूर्ण हैं। "उनकी आरम्भिक रचनाओं—'अमृत लहरी', 'भामिनी विलास', 'बेकन-विचार-रत्नावली', 'हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना' आदि—में लेखन-त्रुटियों, व्याकरण की अशुद्धियों और रचना सम्बन्धी दोषों की इतनी प्रचुरता है कि वे, भाषा की दृष्टि से, द्विवेदी जी की कृतियाँ नहीं प्रतीत होतीं।"[4] असल में आज अशुद्ध माने जाने वाले बहुत-से शब्द उस समय शुद्ध माने जाते थे। दूसरा कारण यह भी था कि वे पहले संस्कृत और मराठी के अध्येता थे—हिन्दी का अध्ययन उन्होंने बाद में किया। उनका प्रभाव भी हिन्दी के वास्तविक रूप के उद्भास में बाधक रहा। किन्तु आगे चलकर अपने व्यापक अध्ययन, गहन मनन और गम्भीर चिन्तन के द्वारा उन्होंने अपनी भाषा का परिष्कार कर लिया। अपनी ही क्या, सरस्वती के सम्पादक की हैसियत से, द्विवेदी जी ने औरों की भाषा का भी मार्जन और शोध किया। कितने परिश्रम और मनोयोग से उन्होंने यह कार्य किया शायद उसकी कल्पना भी आज असम्भव है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कलाभवन में सुरक्षित सरस्वती की हस्तलिखित प्रतियों के अवलोकन से ही उस भगीरथ

१. कवि-भारती, साहित्य-सदन (चिरगाँव), प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १३४
२. कलरव, सं० हरिकृष्ण 'प्रेमी', द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ८१
३. कवि-भारती, साहित्य-सदन (चिरगाँव), प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १५२
४. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग : डा० उदयभानुसिंह, प्रथम आवृत्ति, पृष्ठ १९२

प्रयत्न का कुछ अनुमान हो सकता है। भाषा-सुधार के उस गुरु-कार्य के सामान्य परिचय के लिए द्विवेदी युग के शोध-कर्त्ता डा० उदयभानुसिंह के शोध-प्रबन्ध 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' (प्रथमावृत्ति) के २१३ से २४४ तक के पृष्ठ देखे जा सकते हैं। उस समय के प्रायः सभी लेखकों की भाषा द्विवेदी जी ने ठीक की है। उन लेखकों में से अध्यापक पूर्णसिंह 'पूर्ण', कामताप्रसाद गुरु, मिश्रबन्धु, रामचन्द्र शुक्ल, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त, रामचरित उपाध्याय और गणेश शंकर विद्यार्थी आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त महानुभाव खड़ी बोली के यशस्वी, प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित लेखक हैं। ये लोग भी आरम्भ में भ्रष्ट भाषा लिखते थे। इनकी अपनी शिक्षा-दीक्षा में कुछ कमी अथवा दोष नहीं था वरन् यह युग की व्यापक प्रवृत्ति थी—द्विवेदी जी के सरस्वती-सम्पादन से पूर्व शब्दों के अशुद्ध एवं त्रुटिपूर्ण रूप यदि प्रशंसित नहीं तो कम से कम अभिशंसित भी नहीं थे।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल अपनी अतुल प्रतिभा से आधुनिक युग को आच्छादित करनेवाले आचार्य हो गए हैं। भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार सर्वमान्य है। आलोच्य काल में वे भी—अन्तर्ध्यान, चैतन्यता, अस्थिपिंजर, समझी जाने लगी है—आदि—दुष्ट प्रयोग करते हैं—औरों की तो बात ही क्या ! ऐसे ही समय में हमारे कवि ने काव्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। उसकी भाषा में भी अनेक त्रुटियाँ थीं—खड़ी बोली की दृष्टि से ग़लत प्रयोग थे। उदाहरण लीजिए—

ओढ़ें दुशाले अति उष्ण अंग,
धारें गरू वस्त्र हिये उमंग।
तो भी करें हैं सब लोग सी, सी,
हेमन्त में हाय कँपे बतीसी।

१९०५ ई० में गुप्त जी ने 'हेमन्त' शीर्षक एक कविता सरस्वती में छपने के लिए भेजी थी। ऊर्ध्वलिखित अवतरण उसी का अंश है। इसमें 'ओढ़ें' और 'धारें' क्रियापद अनुपयुक्त हैं—प्रकृत भाव की अभिव्यक्ति में असमर्थ हैं। यहाँ 'ओढ़ते हैं' के अर्थ में 'ओढ़े' और 'धारते हैं' के लिए 'धारें' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो ठीक नहीं है। 'करें हैं' और 'कँपे' भी अशुद्ध हैं। द्विवेदी जी ने सरस्वती में छापने से पहले भाषा की इन त्रुटियों का परिहार किया। भाषागत त्रुटियों का परिहार ही क्या उन्होंने शब्दों के स्थानान्तरण और परिवर्तन द्वारा इसे दीप्त किया। उपर्युक्त पंक्तियों का द्विवेदी जी द्वारा शोधित रूप नीचे दिया जाता है—

अच्छे दुशाले, सित, पीत, काले,
हैं ओढ़ते जो बहुवित्त वाले।
तो भी नहीं बंद अमन्द सी, सी,
हेमन्त में है कँपती बतीसी।[1]

इस प्रकार उन्होंने मैथिलीशरण जी की असमर्थ और अनुपयुक्त क्रियाओं को समर्थ

---

१. **पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०६**

एवं भावाभिव्यंजक बनाया। भाषा—विशेषतः क्रियाओं की इस असमर्थता और भाव-प्रतिकूलता ने हमारे कवि को आचार्य द्विवेदी का कोपभाजन भी बनाया। 'क्रोधाष्टक' के निम्न पद्य—

होवे तुरन्त उनकी बलहीन काया।
जानें न वे तनिक भी अपना पराया।
होवें विवेक वर बुद्धि विहीन पापी।
रे क्रोध, जो जन करें तुझको कदापि।[1]

—को लेकर एक बार वे गुप्त जी पर बरस पड़े थे—क्योंकि इसमें प्रयुक्त क्रियाओं से ऐसा प्रतीत होता है मानो क्रोध को आशीर्वाद दिया जा रहा है। उपर्युद्धृत पद्य का द्विवेदी जी द्वारा संशोधित रूप भी देखिए—

होती तुरन्त उनकी बलहीन काया,
वे जानते न कुछ भी अपना पराया।
होते अचेत वर बुद्धि-विहीन पापी,
रे क्रोध ! जो जन तुझे करते कदापि।[2]

इस प्रकार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीकृत संशोधन के उपरान्त मैथिलीशरण जी की रचनाएँ सरस्वती में प्रकाशित होती रहीं।

गुप्त जी की अपनी भाषा का क्रमिक विकास

ईसा की बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द तक आचार्य द्विवेदीकृत संशोधन के पश्चात् प्रकाशन का यही क्रम चलता रहा। सन् १९०९ ई० में मैथिलीशरण जी की प्रथम पुस्तक रंग में भंग प्रकाशित हुई। महावीरप्रसाद द्विवेदी के आदेश और उपदेश के प्रभाव से अब तक उनकी भाषा कुछ सुधर चुकी थी। अतः रंग में भंग की भाषा क्रोधाष्टक आदि के पूर्वोद्धृत छन्दों की अपेक्षा परिमार्जित है। रंग में भंग का सर्वप्रथम छन्द ही लीजिए—

लोक-शिक्षा के लिए अवतार जिसने था लिया,
निर्विकार निरीह होकर नर-सदृश कौतुक किया।
राम नाम ललाम जिसका सर्व-मंगल-धाम है,
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा-समेत प्रणाम है।[3]

इस पद्य में अनेक दोषों का उल्लेख किया जा सकता है—इसे कवित्वहीन तक बताया जा सकता है, फिर भी भाषा की दृष्टि से तो इसमें खड़ी बोली का विकसित रूप है। पूर्वरचनाओं से इसकी तुलना करने पर ही मेरे कथन की पुष्टि हो सकती है। यहाँ 'पूर्वरचनाओं' से तात्पर्य मैथिलीशरणकृत मूल रचनाओं से है—आचार्य द्विवेदी द्वारा संशोधित कविताओं से नहीं। हो सकता है रंग में भंग की भाषा का भी यत्किंचित् परिमार्जन द्विवेदी

---

१. सरस्वती (पत्रिका), फ़रवरी, सन् १९३९
२. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ८९
३. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ५

जी ने किया हो—क्योंकि वे ही उसके भूमिका-लेखक हैं। पर इसकी सम्भावना बहुत कम है—भूमिका में इस विषय में कोई संकेत नहीं है। दूसरे कोई भूमिका-लेखक पुस्तक की भाषा का परिमार्जन करता भी नहीं। अतः निश्शंक भाव से यह माना जा सकता है कि सर्वप्रथम 'रंग में भंग' में ही कवि की अपनी (दूसरों द्वारा परिशोधित एवं परिमार्जित नहीं) भाषा उपलब्ध होती है। अभिप्राय यह है कि 'रंग में भंग' में न तो 'हेमन्त' और 'क्रोधाष्टक' के पूर्वोद्धृत मूल अवतरणों के समान अशक्त और असमर्थ भाषा है और न 'भीष्म-प्रतिज्ञा' के—

कैवर्त-कन्या वह सुन्दरी थी,
बिम्बाधरी और कृशोदरी थी।
मनोभिरामा मृगलोचनी थी,
मनोज-रामा-मद-मोचनी थी॥[1]

—आदि के समान संस्कृतगर्भित।

किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि 'रंग में भंग' की भाषा एकदम शुद्ध खड़ी बोली है या गुप्त जी १६०६ ई० में ही शक्तिशाली भाषा के निर्माण में सफल एवं समर्थ हो गए थे। तात्पर्य कहने का केवल इतना ही है कि वे दोनों सीमाओं को छोड़कर खड़ी बोली के अपने अथवा स्वाभाविक रूप की ओर बढ़ने लगे थे। रंग में भंग में शुद्ध खड़ी बोली की तो आशा और कल्पना ही असह्य है। उसमें एक ओर—उद्वह, अपारार्णव, वीरवर्योचित, त्वेष, मातृभूमि-तिरस्क्रिया जैसे दुष्पाच्य संस्कृत शब्द हैं तो दूसरी ओर ठौर, नेह, गह, निहोर निहोर के, निरा, अंखियाँ, दीजे, थिरता आदि ऐसे व्रज के और देशज शब्द हैं जो खड़ी बोली के लिए त्याज्य हैं। इसके अतिरिक्त 'वर्णन चला' और 'रोष का उत्थान' आदि मुहावरे भी खड़ी बोली की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। ये सब शब्द एक ही पुस्तक (रंग में भंग) से उपस्थित किए गए हैं—और वह पुस्तक केवल ३० पृष्ठ की है। ऐसी लघुकाय पुस्तिका में इतनी त्रुटियाँ या असाधु एवं अवांछित प्रयोग इस तथ्य के परिचायक हैं कि अभी कवि खड़ी बोली के वास्तविक स्वरूप को अपना नहीं पाया है—किन्तु वह इस दिशा में बराबर प्रयत्नशील है। अगले ही वर्ष जयद्रथ-वध प्रकाशित हुआ।—और उसकी भाषा में हमें खड़ी बोली के वास्तविक स्वरूप के सर्वप्रथम दर्शन होते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

अपराध सौ-सौ सर्वदा जिसके क्षमा करते रहे।
हँसकर सदा सस्नेह जिसके हृदय को हरते रहे।
हा ! आज उस मुझ किंकरी को कौन-से अपराध में—
हे नाथ ! तजते हो यहाँ तुम शोक-सिन्धु अगाध में ?[2]

लक्ष्य करने की बात है कि संवत् १६६७ में कितनी स्वच्छ और सुबोध खड़ी बोली गुप्त जी ने लिखी। न इसमें संस्कृत के संधि-समासयुक्त शब्दों का भार है, न अनगढ़ देशज

---

१. मंगल-घट, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६४
२. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ २२

शब्दों की भरमार—और न उर्दू की मुहावरेबाज़ी। भाषा की यह स्पष्टता, सुबोधता और स्वच्छता भारत-भारती में और भी निखरे हुए रूप में हमारे सामने आती है, जैसे—

भूलोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है॥[1]

एक पद्य और लीजिए—

उन पूर्वजों की कीर्ति का वर्णन अतीव अपार है
गाते नहीं उनके हमीं गुण गा रहा संसार है।
वे धर्म पर करते निछावर तृण-समान शरीर थे,
उनसे वही गम्भीर थे, वर वीर थे, ध्रुव धीर थे॥[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जयद्रथ-वध और भारत-भारती की भाषा काफ़ी परिमार्जित है, या फिर यों कहिए कि इनमें खड़ी बोली का सहज रूप प्राप्त है। किन्तु इन्हें भाषा की दृष्टि से सर्वथा दोषमुक्त कह देना भी अत्युक्ति ही होगी। क्योंकि इनमें भी संस्कृत के—जाज्वल्यज्वालामय, करारोपण, दर्शन-विलम्बाकुल, सांसारिकी, मार्म्मिकमना आदि तथा लखना, बखानना, ओप, विलोकेंगे, निहार लो, तर्जना, लौटालना आदि अग्राह्य शब्द एवं करियो, कीजियो, बिसारियो, छोड़ियो, मोड़ियो, दीजो आदि पंडताऊ प्रयोग प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। कहीं-कहीं तो संस्कृत के चक्कर में पड़कर गुप्त जी श्रुति-प्रियता को भी भूल गए हैं। निम्न पंक्तियाँ देखिए—

कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता।[3]

व्याकरण-सम्मत होने पर भी रेखांकित शब्द भाषा-सौंदर्य के अपकर्षक हैं—अपनी कर्कशता के कारण कविता के अनुपयुक्त हैं। निष्कर्ष यह कि जयद्रथ-वध और भारत-भारती में कई स्तरों की भाषा है—किसी एक भाषा का स्थिर रूप से व्यवहार नहीं हुआ।

वास्तव में गुप्त जी की भाषा का क्रमिक विकास हुआ है। उस विकास-पथ के कई संस्थान हैं। वैसे तो प्रत्येक पुस्तक ही अपने आप में एक संस्थान है—किन्तु मुख्य संस्थान तीन माने जा सकते हैं। उनकी भाषा को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. आरंभिक काल—रंग में भंग से पंचवटी तक
२. मध्यकाल—पंचवटी से साकेत-यशोधरा तक
३. उत्तरकाल—साकेत-यशोधरा के पश्चात्

---

१. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ ४
२. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ ५
३. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ ३

आरम्भिक काल उनकी भाषा का प्रयोग काल है। मध्यकाल उसकी दीप्ति और समृद्धि का समय है—और उत्तरकाल में वह प्रौढ़ि को प्राप्त हुई। इस प्रकार जयद्रथ-वध और भारत-भारती प्रयोग काल की रचनाएँ ठहरती हैं। इनके प्रणयन में कवि खड़ी बोली के प्रकृत स्वरूप का सन्धान कर रहा था। कभी वह संस्कृत-बहुला भाषा का प्रयोग करता और कभी बोलचाल की साधारण भाषा का। कभी दोनों का सम्मिश्रण कर देता और कभी उन्हें अमिश्र ही रखता। इसीलिए इनकी भाषा में पूर्वोल्लिखित वैषम्य है। जयद्रथ-वध और भारत-भारती में ही क्या पंचवटी-पूर्व सभी रचनाओं में यह विषमता विद्यमान है। अपनी इस स्थापना की पुष्टि के लिए तिलोत्तमा से भी दो पद्य उद्धृत करता हूँ—

१. प्रिय हमको स्वतन्त्र जीवन है,
मान्य एक अपना ही मन है।
आता है जी में जब जैसा—
करते हैं बस हम तब तैसा ॥[1]

२. जब तक पशु-प्रवृत्तियां छोड़ेंगे न सयत्न।
तब तक शोधन का यही—आयोधन है यत्न ॥[2]

इन दोनों पद्यों को एक ही कवि की, और एक ही समय की रचना नहीं बताया जा सकता। प्रथम की सरल-सुबोधता और द्वितीय की संस्कृत-गरिष्ठता में दोनों का पार्थक्य मुखर है। इस समय की किन्हीं दो पुस्तकों की भाषा भी एक नहीं है। कतिपय पुस्तकों की भाषा में तो आकाश-पाताल का अन्तर है—शकुन्तला और किसान की तुलना मेरे कथन की साक्षी है। प्रतिपाद्य विषय भी इस वैषम्य के लिए अंशतः उत्तरदायी माना जा सकता है। किन्तु मुख्य कारण है खड़ी बोली का अस्थिर रूप। गुप्त जी के सामने खड़ी बोली का कोई निश्चित अथवा आदर्श स्वरूप नहीं था। वे स्वयं रूप-स्थैर्य का प्रयत्न कर रहे थे। आरम्भकालीन रचनाओं में उसके लिए ही प्रयोग हुए हैं। अतएव उनकी भाषा में अस्थिरता, अनेकरूपता और विषमता मिलती है।—और अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त हैं जो खड़ी बोली में नहीं पचाए जा सकते, जैसे—अयस्कान्त, आयोधन, मृगाम्बु, शुभाकृष्टता, अप्रतिबंधकता, शिथिलित, बेंट की आंसें, लेखी, हूजो, बैठाल, दीठ, जुड़ाना, हूले, औंटी, इज़ारा, सर्द, लासानी, क़बूलत, इन्दुलतलब आदि। खड़ी बोली के लिए दुष्पाच्य इन शब्दों के अतिरिक्त कुछ सन्धि-समास भी हैं जो भाषा को कर्णकटु और अस्वाभाविक बनाते हैं, जैसे—सर्वथैव, असुरेन्धन, करुणैकधाम, क्षुब्धेन्द्रियोपासनाएँ, बोधोदय—आदि। दीजो, लीजो, कीजो, आव, जाव आदि पंडताऊ प्रयोग भी बहुत हैं। संज्ञा से क्रिया बनाने का प्रयत्न भी कवि ने किया है, जैसे—सन्धाना, निर्धारे, सम्मानते हैं—आदि। ये सब शब्द आरम्भिक अथवा प्रयोगकालीन रचनाओं से प्रस्तुत किए गए हैं। भिन्न-विभिन्न प्रकार के शब्दों के प्रयोगों द्वारा कवि भाषा के वास्तविक स्वरूप के स्थिरीकरण में संलग्न था।

---

१. तिलोत्तमा, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ २८
२. तिलोत्तमा, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ४१

पंचवटी तक आते-आते वह इस रूप-निर्धारण में सफल हुआ। पंचवटी में आकर हमें खड़ी बोली के प्रकृत स्वरूप के दर्शन होते हैं। उसका प्रथम पद्य लीजिए—

पूज्य पिता के सहज सत्य पर वार सुधाम, धरा, धन को,
चले राम, सीता भी उनके पीछे चलीं गहन वन को।
उनके भी पीछे लक्ष्मण थे, कहा राम ने कि "तुम कहाँ ?"
विनत वदन से उत्तर पाया—"तुम मेरे सर्वस्व जहाँ॥"[1]

एक छन्द और लीजिए—

जो अन्धे होते हैं बहुधा प्रज्ञाचक्षु कहाते हैं,
पर हम इस प्रेमान्ध बन्धु को सब कुछ भूला पाते हैं।
इसके इसी प्रेम को यदि तुम अपने वश में कर लोगी,
तो मैं हँसी नहीं करता हूँ, तुम भी परम धन्य होगी॥[2]

उपर्युक्त दोनों अवतरणों में खड़ी बोली का कैसा सहज-प्रसन्न रूप है। संस्कृत शब्दकोष का अनिवार्य आश्रय लिया गया है, पर 'धाम', 'धरा', 'सर्वस्व', 'परम' आदि छोटे-छोटे सुपाच्य शब्द ही गृहीत हैं। अनगढ़ और अकाव्यात्मक, ग्राम्य और पंडताऊ शब्दों का भी अभाव है—उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का तो प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु पंचवटी में पूर्वकथित दोषों का एकान्ताभाव सम्भव नहीं था—उसमें भी विश्वानुकूल्य, शाखासनस्थ, विहरते हैं, खनते हो, हनते हो, प्रकटे, अवलोका आदि कुछ अग्राह्य शब्द प्रयुक्त हैं। किन्तु उनकी मात्रा अपेक्षाकृत बहुत कम है।

पंचवटी के पश्चात् गुप्त जी की भाषा दिन प्रतिदिन निखरती ही चली गई। उसकी शक्तियों का आशातीत विकास हुआ—कुछ ही दिन में वह अनेक प्रकार के वर्णनों में सक्षम हो गई। साकेत-यशोधरा तक पहुँचते तो वह काफ़ी समृद्ध बन चुकी थी। पंचवटी और साकेत-यशोधरा के बीच में प्रणीत रचनाओं से काल-क्रमानुसार कुछ उद्धरण देता हूँ—

१. **डम डम डमरू का स्वर, दूर करे त्रय ताप-ज्वर**
बम् बम् बोलो, हों जर्जर-विषय पंचशर विष बर्बर,
बहे शांति निर्झर झर झर ![3]

२. **रश्मि राशि को ग्रहण, स्वर्ण की रेखा को ज्यों शाण,**
धरने चला दैत्य दुर्गा को ताने विकट विषाण।[4]

३. **बैठती है वह जब चुपचाप**
अचानक चढ़ते हैं भ्रूचाप

---

१. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ३-४
२. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ३८
३. हिन्दू, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३८९
४. शक्ति, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १७

ओंठ करते हैं मौनालाप,
उमड़ते हैं फिर आंसू आप।
और वह उठती है तत्काल,
पकड़कर अपने बिथुरे बाल![1]

४. **कट जावेंगे पुण्य भूमि की पराधीनता के सब पाश,**
पांचाली की लाज रहेगी होगा दुःशासन का नाश।[2]

ये चारों उदाहरण भिन्न-भिन्न समय के हैं—और सबका वर्ण्य भी भिन्न है। आप देख रहे हैं कि भाषा किसी भी प्रसंग के वर्णन में असमर्थ नहीं है। या यों कहिए कि कवि के पास नाना-वर्णन-क्षमा भाषा है। तीसरे उद्धरण में 'बिथुरे' शब्द कुछ खटक सकता है। इस विषय में स्वयं कवि का वक्तव्य है—"हमारी प्रान्तिक बोलियों में कभी-कभी ऐसे अर्थपूर्ण शब्द मिल जाते हैं, जिनके पर्य्याय हिन्दी में नहीं मिलते। जब हम अरबी, फ़ारसी और अँगरेज़ी के शब्द निस्संकोच भाव से स्वीकार करते हैं तब आवश्यक होने पर अपना प्रान्तीय भाषाओं से उपयुक्त शब्द ग्रहण करने में हमें क्यों संकोच होना चाहिए।"[3] मैं समझता हूँ कि यह दृष्टिकोण पूर्णतः संतुलित है। 'बिथुरे' शब्द को ही लीजिए। यदि इसके स्थान पर 'विकीर्ण' अथवा 'बिखरे हुए' का प्रयोग किया जाए तो 'बिथुरे बाल' की-सी सरस व्यंजना नहीं रह पाएगी। अस्तु!

प्रसंग चल रहा था भाषा के विकास का। साकेत से पूर्व की रचनाओं की भाषा का उल्लेख हो चुका है। साकेत-यशोधरा में आकर भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार हो गया। गुप्त जी की तुक-प्रियता चिर-अभिशंसित है। इन दोनों पुस्तकों के आलोचकों ने प्रायः उनके तुकों की भर्त्सना की है। फिर भी यह तुकांतता उनके अपरिमित भाषाधिकार की परिचायक तो है ही, इतने परिमाण में तुकान्त-रचना कोई मज़ाक थोड़े ही है! पता नहीं इसके लिए कितने विस्तृत शब्द-भाण्डार की अपेक्षा है।—और यह काम सहज ही—अल्प-प्रयास से हो गया है, 'कठिन से कठिन तुक भी कवि को सरलता से मिल जाती है और उसके प्रयोग भी प्रायः दुहरे हैं।"[4] इस प्रकार साकेत-यशोधरा के समय ही मैथिलीशरण भाषा के सर्वमान्य अधिकारी बन चुके थे। यद्यपि इस मध्यकाल में भी अनेक दोष इनकी भाषा में विद्यमान रहे; उदाहरणतः अक्रौर्य, तौर्यत्रिकशाला, विघूर्ण, हविर्वहन, जिष्णु, सव्य-अपसव्य, अन्ततोगत्वा, नक्र, अरुन्तुद, क्रव्याद, अनुक्रोश, आनुगत्य, अस्थैर्य, त्वेष, ढोटे, तीता, भीता, टीम-टाम, घूम-घाम, झूम-झाम, अंझड़, मुँह बाना, पीनस, व्यूढ़, बोदर, महबूब, न्याजउल्लाह, सवारी, दरगोर, आचरना, लोभा, अवलोका, अनुकूलना, जबलों, तबलों, आव, जाव आदि—खड़ी बोली में अस्वीकार्य अनेक शब्दों का प्रयोग भी इस काल की रचनाओं में हुआ है।

---

१. वन-वैभव, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ६
२. गुरुकुल, संस्करण संवत् २००४, पृष्ठ १०२
३. गुरुकुल की भूमिका, संस्करण संवत् २००४, पृष्ठ ७-८
४. साकेत : एक अध्ययन (डा० नगेन्द्र), पंचम संस्करण, पृष्ठ २०३

साकेत में तो संस्कृत के संधि-समासयुक्त कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो खड़ी बोली काव्य में सर्वथा अग्राह्य हैं, यथा—हेमाद्रि-शृंग-समताकारी, हिमवाष्पभाराक्रान्त, दयाधृष्टलक्षण, उपमोचितस्तनी, तिमिराम्भोधि-समुद्धृतामही आदि। फिर भी पंचवटी और यशोधरा के बीच में कवि की भाषा अत्यन्त समृद्ध हो चुकी थी—उपर्युक्त प्रयोगों को 'कवि का अधिकार' माना जा सकता है।

साकेतोत्तर रचनाओं में तो गुप्त जी की भाषा का प्रौढ़ स्वरूप ही मिलता है। दो-तीन उदाहरण लीजिए—

(१) **दिया तुम्हारे कृती पिता ने तुम-सा व्रती सपूत,**
उनका ऋण-परिशोध करोगे तुम अपुत्र अवधूत ![1]

(२) **आ गया इसी क्षण हिडिम्ब यमदूत-सा,**
भीरुओं की कल्पना का सच्चा भय-भूत-सा ![2]

(३) **...............ढके अंग दीर्घ कच-भार से,**
सूक्ष्म थी झलक किन्तु तीक्ष्ण असि-धार से !
दिव्य गति लाघव सुरांगनाओं ने धरा,
स्वर्ग में सुगौरव तो है शची से ही भरा।[3]

(४) **भव-विभव-भरे गृह से निस्पृह,**
निज धर्म-कर्म कर भले भले,
सम्पूर्ण प्रपंचों से ऊपर
उठ पांच पंच ये कहाँ चले ?[4]

ये गुप्त जी की प्रौढ़ भाषा के उदाहरण हैं। इनमें लक्ष्य करने की बात है भाषा की स्वच्छता और दीप्ति। यह भाषा उनको अनायास या परम्परा से नहीं मिली थी—इसके पीछे वर्षों की अनवरत साधना है—अविश्राम परिश्रम है। उस घोर परिश्रम का अनुमान इस बात से ही लगाया जा सकता है कि मैथिलीशरण जी से अनन्य साधक को रंग में भंग की अनगढ़ लड़खड़ाती भाषा से जय भारत की दीप्त और परिमार्जित भाषा तक पहुँचने में लगभग ४० वर्ष लग गए। ४० लम्बे वर्षों की इस उपलब्धि का वास्तविक परिचय रंग में भंग, जयद्रथ-वध अथवा भारत-भारती तथा सिद्धराज, नहुष अथवा जय भारत के उत्तरकालीन अंशों को एक साथ रखकर पढ़ने से ही हो सकता है।

गुप्त जी की भाषा का स्वरूप और सौष्ठव

अभी तक ऐतिहासिक दृष्टि से गुप्त जी की भाषा पर विचार हुआ है। अब उसकी शक्ति और सीमा, गुण और दोष, स्वरूप और सौष्ठव का भी विवेचन-विश्लेषण करना

---

१. **पृथिवीपुत्र, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १०**
२. **हिडिम्बा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १८**
३. **नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ २६**
४. **जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४२६**

चाहिए। वैसे तो अभिव्यंजना-कौशल के विवेचन के समय भी भाषा पर प्रकाश डाला जा चुका है। वास्तव में काव्य-शिल्प और भाषा अन्योन्याश्रित हैं—एक पर विचार किए बिना दूसरे का दिग्दर्शन हो ही नहीं सकता। विशेषण-विपर्यय, धर्मी के स्थान पर धर्म का प्रयोग, धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग और मानवीकरण आदि का सम्बन्ध मूलतः भाषा से ही तो है!—इनमें से प्रथम तीन उसकी लाक्षणिकता से और अन्तिम मूर्त्तिमत्ता से संबद्ध है। फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें वहाँ स्थान नहीं दिया जा सकता—यहाँ पर उन्हीं का विवेचन किया जाएगा।

कवि की भाषा का मूल-स्रोत

हमारे कवि ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा प्रवर्त्तित, श्रीधर पाठक द्वारा अनुमोदित तथा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा परिष्कृत खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण किया जिसका कोश मुख्यतः संस्कृत शब्दकोश ही है। और स्पष्ट शब्दों में गुप्त जी की भाषा का मूल-स्रोत संस्कृत है। गुप्त जी ही क्या खड़ी बोली के सभी लेखकों की भाषा का मूलाधार संस्कृत है। पर सबने अपनी-अपनी रुचि एवं स्वभाव के अनुसार उसका रूप-निर्माण किया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', जयशंकर प्रसाद तथा रामचन्द्र शुक्ल की भाषाओं का वैभिन्न्य प्रमाण है। मैथिलीशरण जी ने अपनी भाषा को प्रायः लम्बे एवं जटिल संधि-समासों से बचाया है—और न उसे प्रिय-प्रवास के समान ही संस्कृत-प्राय बनने दिया है। अर्थात् उनकी संस्कृतमयी भाषा में खड़ी बोली विलीन नहीं हो गई है। निम्नांकित पद्य देखिए—

> **काल अपराह्न, तरु तन्द्रित-से चुप थे,**
> **नीचे मृग, ऊपर विहग बैठे चुप थे।**
> **अस्थिर शची ही थी सखी के साथ मन में—**
> **शान्त सुरगुरु के सुरम्य तपोवन में।**[1]

इस उद्धरण के अधिकांश शब्द शुद्ध संस्कृत हैं, फिर भी 'रूपोद्यान प्रफुल्लप्रायकलिका' वाली प्रवृत्ति का अभाव है। वैसे गुप्त-साहित्य में—

> **काचनयनी, कृत्रिमदशना।**
> **यथारुचि अखिल जन्तु अशना।**
> **प्रलयपिण्डा, विद्युदहसना।**
> **वाष्पनिःश्वसना, बहुवसना॥**[2]

—जैसे स्थल भी मिल जाएँगे। पर यहाँ संस्कृत का प्रयोग संस्कृत का रंग देने के लिए नहीं वरन् व्यंग्य को गहरा करने के लिए हुआ है।—और फिर ऐसे स्थल कुल दो-तीन हैं जो नगण्य हैं। संस्कृत के कुछ अग्राह्य शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जैसे शुभाकृष्टता,

---

१. नहुष, दशमावृत्ति, पृष्ठ ४६

२. विश्व-वेदना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २

अप्रतिबंधकता, अक्रौर्य, जिष्णु, लेश, अरुन्तुद, अनुक्रोश, क्रव्याद आदि। कुछ अरुचिकर संधियाँ, यथा—असुरेन्धन, करुणैकधाम, क्षुब्धेन्द्रियोपासनाएँ आदि तथा कतिपय दुष्पाच्य समास—तिमिराम्भोधि-समुद्धृतामही, हेमाद्रि-शृङ्ग-समताकारी आदि भी मिल सकते हैं। किन्तु साहित्य के परिमाण को देखते हुए बहुत कम हैं तथा आरम्भिक एवं मध्यकालीन रचनाओं में हैं। दूसरे ऐसे शब्दों का प्रयोग कवि को प्रायः तुक के आग्रह से करना पड़ा है।

प्रकृति-रूप में ही नहीं कहीं-कहीं तो आपने संस्कृत पदों का भी प्रयोग किया है, जैसे—दैवात्, जयति, मुख्यतया आदि। पर ये सभी पद बहु-प्रचलित हैं। पदों के अतिरिक्त संस्कृत पदावलियाँ भी ज्यों की त्यों प्रयुक्त हैं, यथा—'कोऽहं', 'दासोऽहं', 'सोऽहं', 'बुद्धं शरणं गच्छामि', 'संघं शरणं गच्छामि', 'दैवोऽपि दुर्बलघातकः', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि। लेकिन संस्कृत पदावलियों का प्रयोग अवसरानुकूल है। उपर्युक्त में से पहली तीन का व्यवहार धार्मिक वातावरण के सृजन के निमित्त, चौथी और पाँचवीं का बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के समय और अन्तिम दो का मुहावरे के रूप में हुआ है। अवसर का ध्यान रखकर ही उन्होंने दीठ, जुड़ाना, ढोटे, पखारना, संदेसा, बिसासी, निरख, गेह आदि ब्रज के; टिकुली, ढोर, डंगर, कछोटा आदि देशज; मुखबिर, मोमिन, महबूब, कबूलत, ला इलाह इल्लिल्लाह, नवासा आदि उर्दू तथा वार्डर, आर्डर, बैरक, बालडान्स आदि अँग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग किया है। किन्तु इस प्रकार के प्रयोग—विशेषतः अँग्रेजी और उर्दू शब्द—अतिन्यून हैं।

अन्ततः निष्कर्ष यह कि गुप्त जी की भाषा का मूल-स्रोत संस्कृत है। अधिकांश शब्द शुद्ध संस्कृत हैं—अवसरानुकूल ब्रज, उर्दू और अँग्रेज़ी शब्द भी गृहीत हैं।

कुछ विचित्र प्रयोग

द्विवेदी-युग में हिन्दीकरण की कुछ ऐसी प्रवृत्ति फैली कि लोग साधारण देशज अथवा अन्य भाषाओं के शब्दों का संस्कार कर उन्हें मिलता-जुलता संस्कृत शब्द बनाने लगे। 'मैक्समूलर' को 'मोक्षमूलर' और 'चश्मा' को 'चक्ष्मा' में परिवर्तित करने का परामर्श उसी युग का है। गुप्त जी भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रहे। उनके यहाँ 'जापान' को 'जयपाणि', 'लंकाशायर' को 'लंकासुर' तथा 'मुन्शी जी' को 'मनीषी जी' बनना पड़ा। संस्कृतीकरण के चक्कर में पड़कर उन्होंने और भी कई विचित्र प्रयोग किए हैं, जैसे—'पिचकारी' के लिए 'धारा-यन्त्र'। 'मृगतृष्णा' के लिए 'मृग-जल' का प्रयोग तो हो सकता है पर आपने 'मृग-जल' का भी 'मृगाम्बु' बना दिया है। इसके अतिरिक्त कई शब्दों का प्रयोग ऐसे अप्रचलित अर्थों में हुआ है कि साधारणतः आप उनकी कल्पना भी नहीं कर सकते—अमरूद के अर्थ में 'मृदु', नारंगी के लिए 'मुखप्रिय', कबूतर के लिए 'कलरव', साहस के अर्थ में 'स्पर्धा' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। यद्यपि ये अर्थ कोश-अनुमोदित हैं, फिर भी सर्वथा अप्रचलित हैं। अतएव पाठक को विचित्र लगते हैं। गुप्त जी ने कुछ शब्द नए भी गढ़ लिए हैं, जैसे—लाक्ष्मण्य, परिवर्तमान, क्रौर्य, प्रत्यय-दृढ़, विरुद-भ्रष्ट, औदास्य आदि।

व्याकरण

अनेक विचित्र प्रयोगों की अवस्थिति में भी गुप्त जी की भाषा व्याकरण-शुद्ध है।—और फिर वे शिष्य भी तो प्रख्यात भाषा-सुधारक द्विवेदी जी के हैं! द्विवेदी

जी अपनी आलोचनाओं में भाषा की साधुता-असाधुता को ही अधिक परखते थे—इस क्षेत्र में कालिदास तक की 'निरंकुशता' उन्हें असह्य थी। मैथिलीशरण जी की भला क्या मजाल थी जो भाषा में त्रुटि कर जाते! डा० नगेन्द्र ठीक ही कहते हैं—"कवि (मैथिलीशरण जी) को खड़ी बोली की प्रकृति का पूर्ण ज्ञान है, दूसरे द्विवेदी जी के चरणों में दीक्षा लेकर व्याकरण की त्रुटि करना सम्भव नहीं था! अतः उसकी भाषा सर्वत्र व्याकरण-सम्मत है।"[1] हमारे कवि की भाषा में कर्त्ता, कर्म एवं क्रिया में से किसी का भी अभाव नहीं मिलेगा। अभाव तो क्या प्रायः उनके स्थान तक में व्यतिक्रम नहीं मिलेगा। अर्थात् वाक्य पूरे हैं—और उनमें विभिन्न शब्द अपने उचित स्थान पर हैं—

कुछ 'शीघ्र बोध' रटा कि फिर वे गणक पुंगव बन गए,
पंचांग पकड़ा और बस सर्वज्ञता में सन गए।[2]

उपर्युक्त उद्धरण में वाक्यों के सभी अंग अपने प्रकृत क्रम से विद्यमान हैं। इस प्रकार गुप्त जी के पद्यों की भाषा व्याकरण की दृष्टि से गद्य से अधिक भिन्न नहीं है—द्विवेदी जी यही तो चाहते थे! वैसे कहीं-कहीं अंग्रेज़ी वाक्य-विन्यास का भी वांछनीय प्रभाव है—

"मैं हूँ" हँस बोली वह—"जो भी तुम जान लो
हानि क्या मुझे यदि निशाचरी ही मान लो।"[3]

पर ऐसी योजना बहुत कम है। और इसमें भी वाक्य पूर्ण हैं। वाक्य पूर्ण होने के कारण व्याकरणगत त्रुटियाँ प्रायः नहीं हैं। किन्तु उनका एकान्ताभाव नहीं है—असुरी, सतकार्य आदि शब्द अशुद्ध हैं। आत्मा[4], देह[5], आदि शब्दों का पुंल्लिग में तथा व्यक्ति[6] और देवता[7] जैसे शब्दों का स्त्रीलिंग में प्रयोग संस्कृत व्याकरण के अनुसार तो शुद्ध है—किंतु हिन्दी में ग्राह्य नहीं। 'अपने' के अर्थ में अनेक बार 'आप' शब्द का प्रयोग हुआ है—किंतु यह अशुद्ध प्रयोग है, यह प्रान्तीयता का प्रभाव है। अनघ में 'पकड़ी जाऊँगी' के स्थान पर 'पकड़ जाऊँगी'[8] तथा झंकार में 'पर मैंने पहचान न पाया'[9] जैसे अशुद्ध प्रयोग भी विद्यमान है। किंतु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं—प्रयत्न करने पर ही दो-चार मिल सकते हैं।

इसके अतिरिक्त मैथिलीशरण जी ने—अनुकूलना, स्वीकारना, सन्धानना, व्यापना,

---

१. साकेत : एक अध्ययन, पंचम संस्करण, पृष्ठ २०१
२. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ १३०
३. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १५
४. अंजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३६
५. „ „ „ „ २६
६. अजित, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ६८
७. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ ३६
८. अनघ, षष्ठावृत्ति, पृष्ठ ३६
९. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ १०६

उच्चारना, शोषणा, जन्मना आदि—क्रियाओं का भी प्रयोग किया है। मैं समझता हूँ कि यह उनका श्लाघनीय प्रयास था। क्रियापदों की दृष्टि से हिंदी अत्यन्त निर्धन भाषा है। 'करना' और 'होना' को जोड़कर कृत्रिम क्रियापद बनाने पड़ते हैं। यदि उपर्युक्त क्रियाएँ अपना ली जातीं तो भाषा का कितना उपकार होता ! पर ऐसा नहीं हुआ—और तब हमारे कवि को भी अपनी परवर्ती रचनाओं में यह प्रवृत्ति त्यागनी पड़ी।

शब्दालंकार

अभी तक भाषा के स्वरूप का विवेचन हुआ है। अब सौष्ठव पर भी विचार कर लेना चाहिए। भाषा के अलंकरण का सबसे पहला साधन शब्दालंकार हैं। वास्तव में भाषा की साज-सज्जा से उनका सहज सम्बन्ध है अतः वे भाषा के ही अंग हैं। गुप्त जी के काव्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अलंकारों के प्रति उनके मन में कोई विशेष अनुराग नहीं है। अर्थात् वे बलात् अलंकार का विधान नहीं करते। हाँ, अनायास आगत अलंकारों से उनका काव्य अवश्य सज्जित है। अनुप्रास, यमक, श्लेष और वीप्सा का संयत तथा सुष्ठु प्रयोग उनकी भाषा को दीप्ति प्रदान कर रहा है। सर्वप्रथम अनुप्रास की छटा देखिए—

१. झटित खण्डित मुण्ड उनका भू-लुठित होने लगा,
शूलमूलक भूल मानों धूल में धोने लगा।[1]

२. चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल-थल में।[2]

३. लटपट चरण, चाल अटपट सी मन भाई है मेरे।[3]

विभिन्न प्रकार की अनुप्रास-योजना ने उपर्युक्त पंक्तियों में एक विशेष झंकार पैदा की है—भाषा को विशेषतः चमत्कृत किया है। कहीं-कहीं तो पद्माकर अथवा रत्नाकर की याद दिलाने वाली आनुप्रासिकता भी मिल जाती है—

झांक न झंझा के झोंके में
झुककर खुले झरोखे से।[4]

किन्तु अनुप्रास की ऐसी झड़ी शायद और कहीं नहीं है। वीप्सा और पुनरुक्ति प्रकाश भी अनुप्रास की तरह भाषा को गति और झंकृति देते हैं। मैथिलीशरण जी के काव्य से केवल दो उदाहरण उपस्थित करता हूँ—

१. देखो, दो दो मेघ बरसते
मैं प्यासी की प्यासी ![5]

---

१. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १४
२. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ५
३. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ४६
४. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २६
५. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ११६

२. झूम झूम रस की रिमझिम में
दोनों हिले मिले थे।[१]

यमक और श्लेष भी भाषा को विशेष सौंदर्य एवं कसावट प्रदान करते हैं—लेकिन शर्त यह है कि उनका प्रयोग संयत और सीमित हो। नहीं तो कविता कलाबाज़ी करने लगती है। हमारे कवि ने इन अलंकारों को बहुत कम अपनाया है—और जहाँ वे हैं फ़िट बैठे हैं, बलात् ठूँस-ठाँस नहीं हुई है। कुछ उदाहरण लीजिए—

१. रात बीतने पर है अब तो मीठे बोल बोल दो तुम।[२]
(यमक)

२. उसे नाथ कर सबको उसने किया सनाथ सहज में।[३]
(यमक)

३. यमुना बहा ले गई, पानी उतर गया सुरराज का।[४]
(श्लेष)

४. वह सीताफल जब फलै तुम्हारा चाहा,—
मेरा विनोद तो सफल,—हँसी तुम आहा![५]
(श्लेष)

आप देख रहे हैं कि अलंकार-नियोजन कितना सहज अतएव मनोहारी एवं भाषा के सौन्दर्य-वर्द्धन में सफल है। बस, यमक और श्लेष का मणि-कांचन संयोग और देख लीजिए—

बोला वह—"जो हो तुम गुरुजन अन्ततः,
मारूँ क्या तुम्हें मैं, उपहार में लो हार ही!"[६]

'उपहार में लो हार ही'—इस वाक्य में यमक और श्लेष के प्रयोग से कितनी सजावट और कसावट आ गई है। चमत्कार-प्रिय कलाकारों के हाथ में यही अलंकार अनर्थ-कारी बन जाते हैं—देव जैसे रससिद्ध कवि भी इस गोरख-धन्धे में उलझ जाते हैं।

अर्थ-ध्वनन

अपने अर्थ को ध्वनित कर देना शब्द की शक्ति और सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष है। —और ऐसे शब्दों का प्रयोग कवि की भाषा की चरम परिणति! अनादि काल से कविगण जाने-अनजाने अर्थ-ध्वनन में समर्थ शब्दों का व्यवहार करते आ रहे हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र

---

१. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १८०
२. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ २५
३. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ २१३
४. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ६८
५. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६३
६. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३७०

में तो 'Onomatopoeia' (ओनोमेटोपोइया) के नाम से इसे स्वतन्त्र अलंकार भी मान लिया गया है। किन्तु अपने यहाँ ऐसा नहीं हुआ है (चाहें तो इसे अनुप्रास के अन्तर्गत मान सकते हैं)। इसे स्वतन्त्र अलंकार का पद न मिलने पर भी हमारे कवियों ने अर्थ मुखर अथवा प्रतिपाद्य की ध्वनि का अनुकरण कर सकने वाले शब्दों का प्रयोग किया है। तुलसीदास का 'घन घमण्ड नभ गरजत घोरा' इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण है। रीतिकालीन कवियों में देव और पद्माकर तथा आधुनिक युग में पंत और निराला अर्थ-ध्वनन के कुशल प्रयोक्ता हैं। हमारा कवि इस फ़न का उस्ताद नहीं है—पर उसके काव्य में इसका सर्वथा अभाव भी नहीं है। दो-एक उ रण देखिए—

१. उग्र उल्का खण्ड से चण्डच्छटा छाने लगे।[1]

२. ओ निर्भर, झरझर नाद सुना कर झड़ तू,
पथ के रोड़ों से उलझ सुलझ बढ़ अड़ तू।
ओ उत्तरीय, उड़, मोद-पयोद, घुमड़ तू,
हम पर गिरि-गद्गद भाव, सदैव उमड़ तू।[2]

प्रथम में अर्जुन के वाणों की प्रचण्डता और द्वितीय में पर्वत-प्रदेश में पत्थरों से टकरा कर आगे बढ़ते हुए निर्भर की ध्वनि शब्दों से ही व्यंजित है।—और अब मशीनों का 'खटराग' भी सुनिए—

सुनो क्या, देखो यह खटराग,
अनोखा खटपट अटपट राग।
विकट नटखट, नर्तित नट-राग,
लाख घट और एक रट-राग।[3]

ऐसा प्रतीत होता है मानो आपके सामने ही भारी मशीनें चल रही हैं। कितना नीरस है यह पद्य!—पर मशीनों की खटखट भी तो नीरस ही होती है!

इस प्रकार गुप्त जी की भाषा अर्थ-मुखर भी है। किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत नहीं मिलेंगे।

प्रसंग-गर्भत्व

यह भाषा को सुष्ठु और गौरवान्वित करने की एक उपयोगी प्रणाली है। प्रायः सभी पठित-पण्डित कवियों ने साहित्य-क्षेत्र में अत्यन्त प्रसिद्ध अथवा बहुचर्चित विषयों को भी अपने प्रतिपाद्य के प्रकटीकरण अथवा स्पष्टीकरण के साधन-रूप में अपनाया है। यह युक्ति ही प्रसंग-गर्भत्व कहलाती है। आलोच्य कवि साहित्य और शास्त्र का विश्रुत ज्ञाता है। अतः उसके काव्य में प्रसंग-गर्भत्व के अनेक श्रेष्ठ उदाहरण उपलब्ध हैं। केवल तीन स्थल नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

---

१. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां संस्करण, पृष्ठ ८६
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६०
३. विश्व-वेदना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३

१. तप मेरे मोहन का उद्धव धूल उड़ाता आया,
हाय! विभूति रमाने का भी मैंने योग न पाया।[1]

२. बैठी नाव निहार लक्षणा-व्यंजना,
'गंगा में गृह' वाक्य सहज वाचक बना।[2]

३. बांधे थे सौ शस्त्र लुटेरे
और निहत्थे थे हम लोग,
तू 'नैनं छिन्दन्ति' मन्त्र सा
जगा, भगा सारा भय-रोग।[3]

इन अवतरणों में से प्रथम में कृष्ण और उनके संदेश-वाहक मित्र उद्धव मन में घूम जाते हैं। उनकी कहानी चिरपरिचित है—उस कहानी के द्वारा ही पंक्तियों का अर्थ स्पष्ट होगा। दूसरे उद्धरण में 'गंगायां घोषः' के स्थान पर 'गंगा में गृह' लक्षणा और व्यंजना के विवेचन में चिर-प्रयुक्त वाक्य है। साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी इससे परिचित है। पर आज यह लक्षणा और व्यंजना का उदाहरण न रहकर अभिधा का बन गया था। तीसरे में महात्मा गांधी को गीता के अत्यन्त प्रसिद्ध और बहु-उद्धृत 'नैनं छिन्दन्ति' आदि मन्त्र के समान बताया गया है अर्थात् उनका प्रभाव इस मन्त्र के समान ही गम्भीर, व्यापक और अचूक था। इस प्रकार परम्पराओं के सम्यक् ज्ञान के बिना ऐसे स्थल स्पष्ट ही नहीं होते। विद्वान् साहित्यिकों को इनके स्पष्टीकरण में विशेष रस मिलता है। इसीलिए साधारण भाषा की अपेक्षा प्रसंग-गर्भित भाषा आदरास्पद पद की स्वामिनी है।

शक्ति

मैथिलीशरण मुख्यतया अभिधा के कवि हैं। तात्पर्य कहने का यह कि भाव की सहज अभिव्यक्ति ही उनका उद्देश्य रहता है, शिल्प-विधान नहीं। किन्तु, जैसे-जैसे कोई कवि प्रौढ़ि की ओर बढ़ता है वैसे-वैसे उसकी भाषा बिना किसी प्रयत्न के ही समृद्ध, विदग्ध और वक्रतापूर्ण होती चली जाती है—यही तो लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार है! हमारे कवि के लिए भी यही सत्य है—उसकी आरंभिक कृतियों की भाषा एकदम अभिधाश्रित है। परन्तु परवर्ती रचनाओं की भाषा में उत्तरोत्तर समृद्धि, वैदग्ध्य और वक्रता आती चली गई है। अभिव्यंजना-कौशल में 'धर्मी के स्थान पर धर्म का प्रयोग', 'मानवीकरण' आदि के अन्तर्गत गुप्त जी के काव्य से उपस्थित सब उद्धरण वास्तव में लक्षणा के ही हैं। यहाँ पर कुछ और उदाहरण लीजिए—

---

१. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ४२
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १०२
३. अंजलि और अर्घ्य, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ३५

(१) जो था बिना विचारे उनका आज्ञापालन सा सशरीर ।[1]

श्रद्धालु शिष्य के लिए 'आज्ञापालन सा सशरीर' कितना सार्थक है ।

(२) खिला सलिल का हृदय-कमल खिल हंसों की कलकल में ।[2]

कमल को सलिल का हृदय मानना, और फिर हंसों की कलकल ध्वनि में उसका खिलना—कितनी मनोरम कल्पना है !

(३) वृद्ध न होकर बाल बनी थी
पलट प्रौढ़ता बांकी ।[3]

प्रौढ़ता की परिणति वार्द्धक्य में है—प्रौढ़ि के साथ-साथ मनुष्य वृद्ध होता जाता है । पर कृष्ण के साथ यह बात उल्टी थी । प्रौढ़ि उनमें वृद्ध बन कर नहीं बालक बन कर आई थी ।

(४) जननी सरस्वती के छौने,
मधुर सलौने शुचि सोत्साह,
तुम्हीं खिलौने मुग्धामति के,
तुम्हीं ज्ञान के पुतले वाह ![4]

इस पद्य में 'शब्द' का आख्यान कितना विदग्ध है !

और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं । तारागण के लिए 'नैशदीप', प्रह्लाद के लिए (ईश्वर का) 'नामोच्चारक कीर', भाभी के लिए 'सहज सखी' आदि प्रयोगों में लक्षणा का ही वैभव है ।

लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना का प्रयोग हमारे कवि ने कम किया है । व्यंजना की मूल है वक्रता—और वक्रता में कवि का विश्वास नहीं है । मन, वचन और कर्म—किसी की भी वक्रता गुप्त जी को प्रिय नहीं । उनके काव्य में उपलब्ध व्यंजना के दो-एक उदाहरण प्रस्तुत कर इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ—

(१) आँखों का कारुण्य आँसुओं का भूखा है ।[5]

कर्बला-युद्ध में लोग पिपासाकुल थे—उनकी असहाय अवस्था अत्यन्त कारुणिक थी । किन्तु आँखों में आँसुओं के लिए भी पानी नहीं था—इस प्रकार जल का अत्यन्ताभाव व्यंग्य है ।

(२) मैं अबला ! पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे ।[6]

मैदान से अबल भागता है—सबल नहीं । किन्तु यहाँ गौतम ही संसार छोड़कर भागते

---

१. गुरुकुल, संस्करण संवत् २००४, पृष्ठ ४५
२. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ४२
३. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १३६
४. मंगल-घट, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २६४
५. काबा और कर्बला, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६७
६. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ३८

हैं, यशोधरा नहीं। अतः यशोधरा उपयुक्त पंक्ति में कहना चाहती है कि विश्रुत वीर होने पर भी तुम मन से कायर हो।

(३) अरी व्यर्थ है व्यंजनों की बड़ाई,
हटा थाल, तू क्यों इसे आप लाई ?[१]

उर्मिला सखी को कहती है कि तू बिना मँगाए भोजन क्यों लाई है ? पर वास्तविकता यह है कि प्रिय-वियोग के कारण उसे भोजन अच्छा नहीं लगता। किन्तु यह भाव कथित न होकर व्यंग्य है।

रीति और वृत्ति

विशिष्टपदरचना रीतिः

—काव्यालंकारसूत्र १।२।७

डा० नगेन्द्र ने हिन्दी काव्यालंकारसूत्र की विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण भूमिका में उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या-विवेचना कर निष्कर्ष रूप में लिखा है—"सुन्दर पद रचना का नाम रीति है—यह सौंदर्य शब्दगत तथा अर्थगत होता है।"[२] वामन ने—वैदर्भी, गौड़ीया (अथवा गौड़ी) तथा पांचाली—रीति के तीन प्रकार माने हैं—

सा त्रेधा वैदर्भी गौड़ीया पांचाली चेति

—काव्यालंकारसूत्र १।२।६

इन रीतियों को ही काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्ति के नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार रीति और वृत्ति तथा उनके प्रकारों में नाम का ही भेद है—और कोई अन्तर नहीं। किन्तु डा० नगेन्द्र इन दोनों में निश्चित पार्थक्य मानते हैं—और कुछ नहीं तो अंग-अंगी भाव तो मानते ही हैं।[३] किन्तु अधिकांश विद्वान् दोनों को पर्याय रूप में स्वीकार करते हैं। शास्त्रीय विवेचन मेरा विषय नहीं है—अतः मैंने दोनों को एक साथ लिया है। दूसरी बात यह है सिद्धान्ततः रीति और वृत्ति में चाहे कुछ भी अन्तर हो, व्यवहार में तो दोनों एक ही हैं। वैदर्भी और उपनागरिका, गौड़ी और परुषा तथा पांचाली और कोमला के उदाहरण प्रायः एक ही होंगे। अस्तु !

काव्य-रचना के समय कवि को प्रतिपाद्य के अनुकूल कोमल अथवा कठोर, मधुर अथवा कटु, अलंकृत अथवा अनलंकृत (सरल) पद-योजना करनी पड़ती है। पद-योजना की इस विभिन्नता पर ही किसी रीति अथवा वृत्ति-विशेष का अस्तित्व निर्भर है। पं० रामदहिन मिश्र के शब्दों में उनकी परिभाषा इस प्रकार होगी—

१. "माधुर्य-व्यंजक वर्णों की जो ललित रचना है उसे वैदर्भी रीति या उपनागरिका वृत्ति कहते हैं।"[४]

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६६

२. हिन्दी काव्यालंकारसूत्र की भूमिका : डा० नगेन्द्र, संस्करण संवत् २०११, पृष्ठ ३८

३. " " " " " " " " पृष्ठ ५२-५४

४. काव्य-दर्पण, रामदहिन मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३१८

२. "ओज:प्रकाशक वर्णों से आडम्बर-पूर्ण बन्ध को—रचना को—गौड़ी रीति या परुषा वृत्ति कहते हैं।"[१]

३. "दोनों रीतियों के अतिरिक्त वर्णों से युक्त पंचम वर्णवाली रचना को पांचाली रीति या कोमला वृत्ति कहते हैं।"[२]

गुप्त जी ने सम्पूर्ण मानव-जीवन को—जीवन में संभव प्रायः सभी स्थितियों को अपने काव्य का विषय बनाया है। अतः उनके काव्य में रीति अथवा वृत्ति के सभी प्रकारों के उदाहरण सहज-उपलब्ध हैं। उदाहरण लीजिए :

१. वैदर्भी रीति अथवा उपनागरिका वृत्ति—

जल में शतदल तुल्य सरसते
तुम घर रहते, हम न तरसते,
देखो, दो दो मेघ बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी!
आओ हो बनवासी।[3]

२. गौड़ी रीति अथवा परुषा वृत्ति—

(क) **बनी गढ़ी-सी पहिन मढ़ी का मुकुट पहाड़ी,**
रक्षक सेना घनी घनी कांटों की झाड़ी।[४]

(ख) **शर-रूप खर-रसना पसारे रिपु-रुधिर पीती हुई,**
उत्कृष्ट भीषण शब्द करती जान मनचीती हुई।
अर्जुन कराग्रोत्साहिता प्रत्यक्ष कृत्या-मूर्ति-सी,
करने लगी गाण्डीव-मौर्वी प्रलयकाण्ड स्फूर्ति-सी॥[५]

३. पांचाली रीति अथवा कोमला वृत्ति—

(क) **देकर निज गुंजार-गन्ध मृदु मन्द पवन को।**[६]

(ख) **चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में,**
स्वच्छ चांदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बरतल में।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से,
मानों झीम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोकों से॥[७]

---

१. काव्य-दर्पण, रामदहिन मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३१८
२. " " " " पृष्ठ ३१९
३. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ११९
४. अजित, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८५
५. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां संस्करण, पृष्ठ ६४
६. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २९६
७. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ५

गुण

"जो रस के धर्म एवं उत्कर्ष के कारण हैं और जिनकी रस के साथ अचल स्थिति रहती है, वे गुण कहे जाते हैं।"[१] रस के धर्म होने पर भी—उसमें उनकी 'अचल स्थिति' रहने पर भी उपचारतः गुणों का सम्बन्ध अथवा अस्तित्व भाषा में मान लिया जाता है। पंडितराज जगन्नाथ के अनुसार तो माधुर्य आदि गुण केवल रस में ही नहीं, शब्द और अर्थ में भी रहते हैं—"तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्य इति तु मादृशाः।"[२] अतएव भाषा के प्रसंग में उन पर भी विचार कर लेना अनिवार्य है।

गुणों की संख्या के विषय में आचार्यों में बहुत मतभेद रहा है। भरत और दण्डी ने गुण दस माने हैं। वामन के अनुसार बीस हैं—दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण—और बढ़ते-बढ़ते भोज के यहाँ तो उनकी संख्या ७२ हो गई।[३] परन्तु मम्मट ने सम्यक् समीक्षण के पश्चात् कुल तीन गुण स्वीकार किए हैं। शेष सब को इन्हीं में अन्तर्भूत कर दिया अथवा इन्हीं तीन गुणों का भेद सिद्ध किया, या फिर गुणों की परिधि से ही बहिष्कृत कर दिया। और तब से आज तक गुण प्रायः तीन ही माने जाते हैं अथवा यों कहिए कि केवल तीन गुणों का ही महत्त्व है। वे तीन गुण हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। आलोच्य कवि के काव्य से तीनों गुणों के राशि-राशि श्रेष्ठ निदर्शन प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

माधुर्य

चित्त को द्रुतिमान् अथवा द्रवीभूत करनेवाला गुण माधुर्य कहलाता है। माधुर्य गुण सम्पन्न रचना में ट, ठ, ड, ढ़ को छोड़कर स्पर्श वर्णों (क से म तक), अनुस्वार, ह्रस्व र तथा असमस्त पदों का प्राधान्य रहता है। रसों में शृंगार, शान्त एवं करुण ही माधुर्य के अनुकूल हैं—

(१) **निरख सखी, ये खंजन आये,**
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये।[४]

(२) **हा भगवन्! हो गई व्यर्थ वह प्रसव-वेदना सारी;**
लेकर यह अनुभूति-चेतना कहाँ रहे यह नारी?[५]

ओज

मन में तेज उत्पन्न करनेवाला—उसे दीप्ति प्रदान करनेवाला गुण ओज है। जिस रचना में ट, ठ, ड, ढ आदि कठोर, द्वित्व और संयुक्त वर्णों का आधिक्य होता है वह ओज-

---

१. काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग (रसमंजरी) : सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पंचम संस्करण, पृ० ३३०

२. रसगंगाधर, निर्णय-सागर प्रेस, संस्करण सन् १९३९, पृष्ठ ६८

३. दे० हिन्दी काव्यालंकारसूत्र की भूमिका : डा० नगेन्द्र, संस्करण संवत् २०११, पृष्ठ ६८

४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २१६

५. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ८६

गुणमयी होती है। वीर, रौद्र और वीभत्स रस-पूर्ण रचनाएँ ओजगुणयुक्त होती हैं—

(१) छातियां सजीव सी शिलाएँ टकराती थी,
देख देख दर्शकों की आँखें चकराती थी।
लड़ लड़ जाते कुछ गंडकों-से मुंड थे,
टांगें मारते थे मत्त वारणों के शुंड थे।
कर धरते थे कर किंवा अजगर थे,
करते अमानुषिक नाट्य वे दो नर थे![1]

(२) तब निकलकर नासा-पुटों से व्यक्त करके रोष त्यों,
करने लगा निश्वास उनका भूरि भीषण घोष यों—[2]

आदि।

प्रसाद

मन को विकसित अथवा व्यापक बनाने वाला गुण प्रसाद के नाम से अभिहित किया जाता है। श्रवण करते ही जिस रचना की अर्थ-प्रतीति हो जाए वह प्रसादगुणमयी होती है। आचार्यों ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रसाद वह गुण है जिसके कारण कोई रचना चित्त में सूखे ईंधन में आग अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल के समान तुरन्त व्याप्त हो जाती है।

हमारा कवि मुख्यतया प्रसाद का ही कवि है—यह उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। उसके काव्य से दो-एक उदाहरण लीजिए—

(१) भूल इस भव में मनुष्य से ही होती है,
अन्त में सुधारता है उसको मनुष्य ही।
किन्तु वह चूक हाय! जिसके सुधार का
रहता उपाय नहीं, हूक बन जाती है,
और जन-जीवन बिगड़ जैसे जाता है।[3]

(२) तेरह वर्ष व्यतीत हो चुके, पर है मानों कल की बात,
बन को आते देख हमें जब आर्त, अचेत हुए थे तात।
अब वह समय निकट ही है जब अवधि पूर्ण होगी वन की;
किन्तु प्राप्ति होगी इस जन को इससे बढ़कर किस धन की?[4]

(३) "बन्धन ही का तो नाम नहीं जनपद है?
देखो कैसा स्वच्छन्द यहां लघु नद है।

---

१. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २२-२३
२. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां संस्करण, पृष्ठ ३७
३. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ८०
४. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ८

इसको भी पुर में लोग बांध लेते हैं।"
"हां वे इसका उपयोग बढ़ा देते हैं!"[१]

उक्ति-वैचित्र्य अथवा उक्ति-सौन्दर्य

व्यंजना के प्रसंग में मैं कह चुका हूँ कि हमारा कवि वक्रता-प्रिय नहीं है। अभिप्राय यह है कि वह जानबूझकर उक्ति को वक्र नहीं बनाता। किन्तु लेखन के अभ्यास एवं भाषा की समृद्धि के साथ-साथ कथन की प्रणाली में अपने आप विचित्रता आती चली जाती है। यह कवि भी इस साधारण नियम का अपवाद नहीं है।

वक्रता के समावेश से उक्ति विशेष रूप से आकर्षक, चमत्कृत और सप्रभाव बन जाती है। उक्ति के इस वैचित्र्य के मूल में विरोधाभास, साम्य अथवा वैषम्यमूलक पद-योजना या फिर क्रमिक वर्णना आदि का सौन्दर्य रहता है। गुप्त जी के काव्य से उक्ति-वैचित्र्य के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

(१) **जहाँ हाथ में लौह वहाँ पैरों में सोना।[२]**
(२) **दीप्ति मुझे देगा अभिराम कृष्ण-पक्ष ही।[३]**
(३) **मानुष की सत्ता हा! अमानुषिकता में है।[४]**
(४) **रानी-सी रखते हैं मुझको,**
स्वयं सचिव-से रहते।[५]

पत्नी को प्रसन्न रखने वाले नन्द के विषय में यशोदा की यह उक्ति कितनी विचित्र और मधुर है।

(५) **प्रभु की नाम मुद्रिका देकर परिचय, प्रत्यय, धैर्य दिया।[६]**
(६) **सैन्यसर्प जो, फरण उठाये फुंकारित थे,**
सुन मानो शिव-मन्त्र, विनत, विस्मित, वारित थे![७]
(७) **मूंदे तब तक ये दृग तूने बनकर कठिन उदार![८]**
(८) **नेत्रों को लुभाया श्रवणों ने था यथार्थ ही,**
उत्सुक किया है अब श्रवणों को नेत्रों ने।[९]

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १६४
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३०७
३. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३४
४. युद्ध, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५०
५. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ १४
६. प्रदक्षिणा, सप्तमावृत्ति, पृष्ठ ५५
७. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३१६
८. कुणाल-गीत, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ २६
९. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ६०

गुण-श्रवण के उपरान्त दर्शनेच्छा और दर्शन के पश्चात् मधुमय वचन के श्रवण की उत्कट अभिलाषा की व्यक्ति की कैसी अनौपचारिक—किन्तु सप्रभाव युक्ति है !

(९) **वेद का अन्त अहा निर्वेद !**[1]

(१०) **सबके शासन में कौन सहे अनुशासन ?**[2]

(११) **भोगी कुसुमायुध योगी-सा बना दृष्टिगत होता है ।**[3]

(१२) **अंगों में उमंग अहा ! आँखों में अनंग रंग ।**[4]

(१३) **गति में मरालता है, भौहों में करालता है ।**[5]

(१४) **नाच रहे हैं अब भी पत्ते मन-से सुमन महकते हैं ।**[6]

(१५) **प्रज्वलित अनल-सा, क्षुब्ध-अनिल-सा, चल प्रपात के जल-सा ।**[7]

उपर्युक्त उद्धरणों में से १, २, ३, ७ और ९ में विरोधाभास का सौंदर्य है। ११, १३ और १५ के वैचित्र्य का मूलाधार साम्य है तो १० और १४ का वैषम्य ।—और १२ में साम्य-वैषम्य दोनों ही वर्तमान हैं । ६ और ८ के सौंदर्य का कारण क्रम-विन्यास ही है ।

मुहावरे और कहावतें

'मुहावरे और कहावतें प्रौढ़ भाषा के सहज गुण हैं ।' भाषा की कसावट, शक्तिमत्ता, लाक्षणिकता और प्रभावपूर्णता के लिए उनका प्रचुर प्रयोग अपेक्षित है । किन्तु हिन्दी में उनका प्रयोग बहुत कम हुआ है । सूर, तुलसी, बिहारी और घनानन्द के अतिरिक्त शायद और कोई इस दिशा में सफल नहीं हो सका । गुप्त जी के काव्य में भी मुहावरे और कहावतें अल्प ही हैं—भाषा के ऐसे सर्वमान्य अधिकारी की भाषा में उनका अभाव तो सम्भव ही नहीं था !—वे संख्या में तो कम हैं, पर हैं अपने स्थान पर युक्तियुक्त । स्वाभाविक रूप में व्यवहृत होने के कारण उनका सौंदर्य प्रस्फुटित है । बिहारी के चिर-अभिशंसित 'मूंड़ चढ़ाए हू रहै' आदि के समान उनका बलात् नियोजन नहीं हुआ है । निम्नांकित उद्धरणों का अवलोकन कीजिए—

(१) **मेरी मलिन गूदड़ी में भी है राहुल-सा लाल**[8]

(२) **नाकों चने चबाने पड़े थे और फिर भी**
निष्कृति के हेतु पड़े दांतों तृण दाबने[9]

---

१. विश्व-वेदना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३७
२. राजा-प्रजा, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २२
३. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ६
४. तिलोत्तमा, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ९४
५. तिलोत्तमा, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ९४
६. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १०
७. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४०७
८. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ३४
९. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ५१

(३) **जागे नहीं कच्ची नींद माता और भ्राता ये**[1]

(४) **लगे इस मेरे मुंह में आग**[2]

(५) **मैं हूं वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में**[3]

(६) **छाती फटती हाय ! दुःख दूना मैं पाती**[4]

(७) **नहीं, नहीं, मेरे अनुजों को मुझसे भी लोहा लेना**[5]

आप देख रहे हैं कि उपर्युक्त मुहावरे अपने स्थान पर कैसे उद्भासित हैं। यदि संकेत न किया जाए तो कदाचित् पाठक उन पर ध्यान किए बिना ही आगे बढ़ जाएगा। इनके अतिरिक्त—दाँत उखाड़ना, धूल भरे हीरे, भरती का, मुँह मोड़ना, मुँह तकना, दाँत पीसना, मन रखना, अवसर खोना, सम्बन्ध जोड़ना, प्राणों पर खेलना, नशे में चूर होना, पसीने की जगह लोहू बहना, कागजी घुड़दौड़, हराम की खाना, मुँह न खुलना, आँखें फटना आदि—अनेक मुहावरों का सुष्ठु एवं आकर्षक प्रयोग हुआ है। पर गुप्त जी के पुष्कल-परिमाण साहित्य में वे नगण्य से ही हैं—साहित्य के परिमाण की दृष्टि से उनकी संख्या बहुत कम है।—कहावतें तो और भी कम हैं। प्रयास करने पर भी कहावतें थोड़ी ही उपलब्ध हो सकेंगी। हाँ, जो हैं उनका प्रयोग पर्याप्त पटुता के साथ हुआ है। दो-एक उदाहरण लीजिए—

(१) **यह साधारण बात काटता है जो बोता।**[6]

(२) **सिंह और मृग एक घाट पर आकर पानी पीते हैं।**[7]

(३) **कहते हैं स्वर्ग नहीं मिलता बिना मरे।**[8]

दो-एक स्थान पर कवि ने अंग्रेज़ी और संस्कृत के मुहावरों अथवा लोकोक्तियों का भी अच्छा प्रयोग किया है, जैसे—

पलटा पृष्ठ उसी ने "तुमको सुरपुर कैसा भाया"[9] में अंग्रेज़ी के to turn page की भावना का व्यवहार हुआ है। इसी प्रकार—

..................हो गए सब चौकन्ने,
भय वा कौतुक भरे काल-पुस्तक के पन्ने।[10]

---

१. हिडिम्बा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३४
३. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवां संस्करण, पृष्ठ २५
४. सैरन्ध्री, अष्टमावृत्ति, पृष्ठ ३३
५. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३३४
६. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ३०८
७. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ १२
८. नहुष, चतुर्थावृत्ति, पृष्ठ १७
९. जय भारत; प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७७
१०. अजित, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८३

—में भी अंग्रेजी मुहावरे का प्रयोग है और निम्न पंक्ति में संस्कृत की 'वीरभोग्या वसुन्धरा' के तलवर्ती भाव का सुचारु उपयोग हुआ है—

वीर की ही वसुधा है, वीरव्रत पालें हम।[1]

मुहावरों और कहावतों का सौंदर्य उनके प्रसिद्ध और प्रचलित स्वरूप में ही सुरक्षित रहता है—क्योंकि वे रूढ़ होते हैं। उनकी शब्दावली क्षति के बिना परिवर्तित नहीं की जा सकती। किन्तु मैथिलीशरण जी की संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति यहाँ भी दृष्टिगत होती है। हिन्दी का मुहावरा है 'गागर में सागर भरना' पर हमारे कवि ने लिखा है—

आश्चर्य है, घट में उन्होंने सिन्धु को है भर दिया।[2]

इसी प्रकार पंचवटी में 'उंगली पकड़कर पहुँचा पकड़ना' का 'अंगुली पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना'[3] बन गया है। निम्न पंक्तियों में भी यही बात है—

(१) **आचारों के आडम्बर में बंधें न अधिक हमारे हस्त।**[4]

(२) **भाल पीटते हैं अपना ही क्लीव-कर्महीनों के हस्त।**[5]

'हाथ' की जगह 'हस्त' का प्रयोग होने से इनकी सारी सजावट ही बिखर गई है। डा० रमाशंकर 'रसाल' तो शायद यह कहेंगे कि इस प्रकार मुहावरे अथवा लोकोक्ति को 'उत्कृष्ट' बना दिया गया या उनका 'परिष्कार' कर दिया गया है।[6] किन्तु मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। मुहावरे-कहावतों को मैं तो रूढ़ अतएव अपरिवर्तनीय मानता हूँ। उपर्युक्त प्रयोगों की वैभवहीनता मेरे मत की पुष्टि के लिए पर्याप्त है।

सौभाग्य से हमारे कवि में यह 'उत्कृष्टीकरण' अधिक नहीं है।

अन्ततः निष्कर्ष यह कि गुप्त जी की भाषा काफ़ी पुष्ट और प्रांजल है। खड़ी बोली की लाक्षणिक शक्तियों का विकास यद्यपि उसमें नहीं हो पाया, फिर भी अपनी शुद्धि, व्यापकता और नानावर्णनक्षमता के कारण वह समादरणीय है।—और उन्हें भाषा का व्युत्पन्न पंडित, विश्वस्त विद्वान् तथा पूर्ण अधिकारी स्वीकार करने में हमें तनिक भी संकोच नहीं है।

खड़ी बोली के विकास में गुप्त जी का योगदान

काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली पर विचार करते समय इस बात का उल्लेख हो चुका है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र प्रभृति कविगण उसे काव्योपयुक्त नहीं मानते थे—वह भला ब्रज जैसी 'मिठलौनी' कहाँ थी। भारतेन्दु और मिश्र जी ही

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११३
२. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ ३२
३. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ३७
४. गुरुकुल, संस्करण संवत् २००४, पृष्ठ १३६
५. गुरुकुल, संस्करण संवत् २००४, पृष्ठ १४७
६. दे० उद्धव-शतक का प्राक्कथन, संस्करण सन् १९५१, पृष्ठ ८६-८७

नहीं जार्ज ग्रियर्सन का भी यही मत था। इन लोगों को ब्रजभाषा की कविता ही पसन्द थी। खड़ी बोली के संबन्ध में तो इनकी निश्चित धारणा थी—"ब्रजभाषा सी पै मिठलौनी कहाँ ?" पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इसका मुँहतोड़ जवाब दिया। प्रिय-प्रवास की विस्तृत भूमिका में उन्होंने अनेक उद्धरण देते हुए सतर्क सिद्ध किया कि भाषा का 'मिठलौनापन' तो अभ्यास और प्रयोग पर आधृत है। केवल ब्रजभाषा का ही उस पर अधिकार नहीं है—खड़ी बोली में भी उसकी प्रतिष्ठा हो सकती है।

प्रिय-प्रवास की भूमिका के उक्त अभिमत से आश्वस्त उस समय के कवि और पाठक ने यह कल्पना की थी कि प्रिय-प्रवास में खड़ी बोली के वैभव का दर्शन होगा। किंतु ऐसा नहीं हुआ—हरिऔध उसका कोई स्थिर अथवा प्रकृत रूप प्रस्तुत नहीं कर सके। उन्होंने या तो प्रिय-प्रवास की कृदन्त-प्रधान समासबहुला संस्कृत पदावली उपस्थित की या फिर चोखे चौपदे की 'हिन्दुस्तानी'। अभिप्राय यह कि वे अपने सिद्धान्तों को व्यवहार में परिणत नहीं कर सके। इस दिशा में कृतकार्य हुए पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी। वैसे उनकी अपनी कविता में भी खड़ी बोली का सहज-प्रसन्न रूप नहीं है—किन्तु उन्होंने दूसरों को उसकी सिद्धि का आदेश और उपदेश दिया। पर उनकी सर्वाधिक कृतकार्यता है मैथिलीशरण जी के सन्धान और उन्नयन में। डा० सत्येन्द्र का यह कथन—"उनको (द्विवेदी जी को) सबसे अधिक सफलता मिली गुप्त जी को चुन लेने में, तथा उनको प्रोत्साहित करने में"[1]—सोलह आने सही है। काव्य-भाषा-विषयक अपने जिस आदर्श को भावुकता की क्षीणता के कारण द्विवेदी जी स्वयं भी उपस्थित नहीं कर पाए थे उसे हमारे कवि ने प्रतिष्ठित किया। परिणामतः उसकी भाषा ही द्विवेदी-काल की आदर्श भाषा बन गई। "श्री रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी और श्री गोकुलचन्द्र शर्मा की भाषा भी हमें मैथिलीशरण की ही अनुसारिणी दिखाई देती है।"[2]

खड़ी बोली को काव्योचित सिद्ध करनेवालों में श्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर', ठाकुर गोपालशरणसिंह, सत्यशरण रतूड़ी, रामचरित उपाध्याय आदि कवियों के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्व है श्री मैथिलीशरण का। ठाकुर गोपालशरणसिंह भी खड़ी बोली के परिमार्जन में सहायक हुए हैं—उनकी भाषा भी काफ़ी स्वच्छ थी। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था—"पर जिस प्रकार बाबू मैथिलीशरण गुप्त और ठाकुर गोपालशरणसिंह ऐसे कवियों की लेखनी से खड़ी बोली को मंजते देख आशा का पूर्ण संचार होता है··· ।"[3] सचमुच उस समय गुप्त जी और ठाकुर साहब की भाषा को देखकर ही 'आशा का पूर्ण संचार' होता था—अन्य कवियों द्वारा खड़ी बोली के नाम से गृहीत भाषा को देखकर तो मन में 'आशंका' ही होती थी। पर बाद में ठाकुर साहब पिछड़ गए—वे खड़ी बोली को कोई स्थायी महत्त्व की चीज़ नहीं दे सके। दूसरे भाषा का सहज रूप अपनाने पर भी उन्होंने छन्द पुराने ही रखे—कवित्त और

१. गुप्त जी की कला : सत्येन्द्र, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४
२. हिन्दी कविता में युगान्तर : प्रो० सुधीन्द्र, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४०५
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, नवाँ संस्करण, पृष्ठ ६४०

सवैये का ही व्यवहार किया जो खड़ी बोली के अधिक अनुकूल नहीं हैं। एक शब्द में गोपालशरणसिंह के पास मैथिलीशरण जैसी कवि-प्रतिभा नहीं थी। उनके पीछे रह जाने का यही कारण है—क्योंकि सम्यक् प्रयोग के बिना भाषा किस काम की। इसीलिए मैंने कहा है कि खड़ी बोली को काव्योपयुक्त प्रमाणित करनेवालों में गुप्त जी का सर्वाधिक महत्त्व रहा है। वस्तुतः "उनकी भाषा-संबन्धिनी साधना उनके भावयोग के साथ उनकी समस्त कृतियों में व्याप्त देख पड़ती है जैसा कि उनके पहले के (साथ के भी) आधुनिक किसी कवि में नहीं देख पड़ती।"[1]

गुप्त जी से पहले तो खड़ी बोली का कोई स्थिर रूप ही नहीं था। संस्कृत-प्रधान भाषा भी खड़ी बोली के नाम से अभिहित होती थी, और उर्दू-फ़ारसी प्रधान भी। अपितु कभी-कभी तो ब्रज की भी भरमार रहती थी जिसको कि स्थानापन्न करने खड़ी बोली जा रही थी। सिद्धान्ततः खड़ी बोली के पृष्ठपोषक भी ऐसा ही कर रहे थे—श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की कविताएं मेरे कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं। इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय संस्कृत, उर्दू अथवा ब्रज से मुक्त खड़ी बोली के अस्तित्व की कल्पना ही असंभव थी। शायद इसीलिए ब्रजभाषा के कुछ पक्षपाती सोचा करते थे—

"यह ब्यारि तबै बदलेगा कछू,
पपिहा जब पूछिहै पीव कहाँ ?"

पर देखते ही देखते १६०३ ई० में खड़ी बोली के प्रबल पोषक आचार्य द्विवेदी सरस्वती के सम्पादक नियुक्त हो गए। जिनके अथक परिश्रम से खड़ी बोली का प्रचार और प्रभाव बढ़ा। १६१० ई० में गुप्त जी का जयद्रथ-वध प्रकाशित हुआ जिसने ब्रजभाषा की आशा का ही हनन कर दिया।—और उनकी भारत-भारती ने जनता के गले का हार बन कर खड़ी बोली को ब्रज और उर्दू दोनों से मुक्त कर दिया। इनके प्रकाशन से खड़ी बोली का विकास-पथ उन्मुक्त हुआ—और लोगों ने इनकी भाषा का अनुकरण किया। उस काल के प्रायः सभी आलोचकों ने एकमत से इस तथ्य को स्वीकार किया है। दो-एक की सम्मति नीचे उद्धृत की जाती है—

"उनके जयद्रथ-वध ने ब्रजभाषा क मोह का वध कर दिया, और भारत-भारती में तो जैसे सुनिश्चित भारतीय भाषा का सतेज रूप ही खड़ा हो गया।"[2]

—डा० सत्येन्द्र

"बीसवीं शताब्दी में साधारण तुकबन्दी से प्रारम्भ करके पहले जयद्रथ-वध की

१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—नन्द दुलारे वाजपेयी, संस्करण सन् १६४५, पृष्ठ ३१

२. गुप्त जी की कला, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ७

अबाध गतिपूर्ण सरल साहित्यिक रचना हुई......।"[१]

—डा० श्रीकृष्ण लाल

"उनकी (गुप्त जी की) लेखनी से 'जयद्रथ-वध' और 'भारत-भारती' की सृष्टि हुई तो वर्षों तक इन दोनों काव्यों की ही भाषा का सौष्ठव अनुकरणीय हो गया। उसमें खड़ी बोली की जो गरिमा, जो सुषमा प्रस्तुत हुई वह एक मानदण्ड बन गई......।"[२]

—प्रो० सुधीन्द्र

जयद्रथ-वध और भारत-भारती ग्रन्थ काफ़ी लोकप्रिय हुए। उनकी इस लोकप्रियता ने यह शंका निर्मूल कर दी कि खड़ी बोली की कविता पाठकों को मुग्ध नहीं कर सकती। दूसरे इन पुस्तकों ने खड़ी बोली की काव्योपयुक्तता निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दी। इस विजय-प्राप्ति के पश्चात् तो वह निरन्तर परिमार्जित, समृद्ध और दीप्त होती चली गई। ब्रजभाषा का स्वर मन्द पड़ गया। आधुनिक युग में जन्म होने पर भी प्राचीन युग में श्वास लेने वाले—जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' तथा पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' जैसे—कवि अन्त तक ब्रजमाधुरी पर ही मुग्ध रहे—किन्तु युगधर्म के प्रति जागरूक कवि ने खड़ी बोली का ही व्यवहार किया। अनेक प्रतिभाशाली आत्माओं के करस्पर्श से निरन्तर वर्द्धमान खड़ी बोली आज काफ़ी पुष्ट और शक्तिसम्पन्न हो गई है। अब उसकी कलात्मक संभावनाओं और लाक्षणिक शक्तियों का अपरिमित विकास हो गया है—मैथिलीशरण तो शायद इस दिशा में पिछड़ गए हैं। साहित्य के सन् १९२६ से १९४७ ई० तक के इतिहास के अनुसंधाता डा० भोलानाथ खड़ी बोली के अधुनातन औज्ज्वल्य, दीप्ति, समृद्धि और विकसित अभिव्यंजना-शक्ति का इतिहास बताते हुए लिखते हैं—

"......महावीर प्रसाद द्विवेदी तक आते-आते खड़ी बोली में भी कविता लिखी जानी प्रारम्भ हुई। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली की कविता को बहुत प्रोत्साहन दिया और खड़ी बोली गद्य का परिष्कार एवं परिमार्जन किया। जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', रामकुमार वर्मा, हरिवंशराय 'बच्चन', रामधारी सिंह 'दिनकर' तथा रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि ने कविता में प्रयुक्त होने वाली खड़ी बोली को विकसित करने और उसमें कलात्मकता का समावेश करने में अपना-अपना महत्वपूर्ण योग दिया।"[३]

प्रसाद से अंचल तक के कवियों ने निस्संदेह खड़ी बोली को 'विकसित करने और उसमें कलात्मकता का समावेश करने में अपना-अपना महत्वपूर्ण योग दिया है।' चाहें तो उपर्युक्त सूची में सर्वश्री सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा और 'सुमन' प्रभृति कवियों के नाम और जोड़े जा सकते हैं। लेकिन पता नहीं

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १४२

२. हिन्दी कविता में युगान्तर, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४०४

३. हिन्दी साहित्य (१९२६ ई०—१९४७ ई०), संस्करण १९५४ ई०, पृष्ठ १४

डा० भोलानाथ महावीर प्रसाद द्विवेदी के पश्चात् एकदम जयशंकर प्रसाद पर कैसे कूद पड़े !—प्रसाद और महावीर प्रसाद के बीच के अनिवार्य सेतुमार्ग—मैथिलीशरण जी—को न जाने वे किस प्रकार विस्मृत कर गए ? मैं मानता हूँ कि आज हिन्दी में गुप्त जी से अधिक व्यंजनापूर्ण और लाक्षणिक शक्तिसम्पन्न भाषा के अधिकारी तथा कलात्मक अभिव्यंजना में समर्थ कवि विद्यमान हैं। और स्पष्ट शब्दों में कम से कम प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी की भाषा हमारे कवि से अधिक सशक्त, उज्ज्वल तथा समर्थ है। फिर भी क्या उनके महत्व को अस्वीकार किया जा सकता है ?—क्या काव्य-भाषा खड़ी बोली के विकास में उनका योगदान विस्मरणीय है ? यदि इतिहास का एक पृष्ठ उलटकर देखें तो पता लगेगा कि आरम्भ में खड़ी बोली के यशस्वी कवि-कलाकार प्रसाद जी ने भी ब्रजभाषा में ही कविता की थी। बाद में वे खड़ी बोली की तरफ़ आए।—उस खड़ी बोली की ओर जो कि मैथिलीशरण जी द्वारा प्रवर्तित थी। खड़ी बोली की प्रकृति को प्रारम्भ में ही पहचानने वाला आलोच्य कवि ही है।[1]

फिर भी भाषा की समृद्धि, शक्ति और दीप्ति की दृष्टि से आज हमारा कवि पीछे रह गया है। शक्ति भर वह उसमें कलात्मकता का समावेश करता रहा, पर कब तक ! आखिर एक न एक दिन सभी तो हार जाते हैं।—४५, ५० वर्ष की आयु के बाद मनुष्य के लिए नूतनता का अर्जन कष्ट-साध्य किंवा असम्भव हो जाता है। यही इस कवि के साथ हुआ। अन्य कवि उससे आगे बढ़ गए—प्रगति के लिए यह अनिवार्य है। इस तथ्य में गुप्त जी की हीनता अथवा असमर्थता के सन्धान को विक्षेपण ही कहा जाएगा। क्योंकि यह एक स्वीकृत सत्य है कि पूर्ववर्ती कवियों की श्रम-अर्जित सभी सिद्धियाँ परवर्तियों को सहज-उपलब्ध होती हैं। अतः वे और भी विकास-विवर्द्धन में सफल हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी तथा अन्य कवियों की सिद्धियों के मूल में गुप्त जी की उपलब्धियाँ हैं। इन कलाकारों की अपनी शक्तियों से इन्कार नहीं किया जा सकता, फिर भी यदि मैथिलीशरण जी का योग न होता तो खड़ी बोली का इतना संस्कार, परिष्कार एवं वैभव-विकास शायद अभी तक न हुआ होता। इस प्रकार खड़ी बोली के विकास में उनका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है—"किसी माला में प्रथम मणि, उपवन में प्रथम पुष्प, गगन में प्रथम नक्षत्र का जो महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है वही वर्त्तमान हिन्दी-कविता में गुप्त जी का है।"[2]

---

१. दे० हिन्दी साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, संस्करण सन् १९५५, पृष्ठ ४२२

२. हमारे साहित्य-निर्म्माता : शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृष्ठ ७१

(घ) छन्द

छन्द ज्ञान का प्रमुख अंग है। वेद के षडांग में उसे भी स्थान मिला है। यद्यपि अन्य पाँचों अंगों—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण और ज्योतिष—की अपेक्षा उसे हीनतर स्थान दिया गया है, वेद-पुरुष के चरण माना गया है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणन्तुवेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्येव ब्रह्मलोके महीयते॥[1]

फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि उसे विद्या के एक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है।—और फिर अपेक्षाकृत हीन होने पर भी चरणों की परम आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः उक्त श्लोक के अनुसार छन्द अथवा छन्दःशास्त्र विद्या का आवश्यक अंग है। यहीं पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह अन्यान्य शास्त्रों के समान ही आर्ष तथा अतिप्राचीन है। महर्षि पिंगल इस शास्त्र के आदि आचार्य माने जाते हैं। इसीलिए छन्दःशास्त्र को पिंगलशास्त्र के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

छन्द और उसका स्वरूप

'छन्द' शब्द का साधारण अथवा कोशगत अर्थ है 'बंधन'। काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द 'छन्द' में भी उसका यही अर्थ गृहीत है। कविता की गति को आबद्ध करने वाले नियम ही छन्द हैं। किन्तु ये नियम उसकी गति को अवरुद्ध न कर व्यवस्था ही प्रदान करते हैं। इस प्रसंग में कवि-कलाकार पन्त की निम्न पंक्तियाँ विशेषतः अवलोकनीय हैं—

"......कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते,—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं।"[2]

वास्तव में 'बन्धन' चिरकाल से अभिशंसा का पात्र है—उसमें बाधा का भाव भी सम्मिलित है। शायद लोग इसीलिए उसे त्याज्य अथवा गर्हित समझने लगे हैं। किन्तु छन्द तो कविता को गद्य से पृथक् करने वाले धर्म—लय का बाधक न होकर साधक ही है। अतएव ग्राह्य एवं अभिनन्दनीय है। 'बन्धन' शब्द की प्रकृत भावाभिव्यंजना में इस असमर्थता के कारण ही कदाचित् सुधांशु जी को उससे पहले 'कृत्रिम' विशेषण लगाना

---

१. पाणिनीयशिक्षा (निर्णयसागर प्रेस), श्लोक नं० ४१-४२
२. पल्लव, पाँचवां संस्करण, भूमिका पृष्ठ २१

पड़ा—उन्होंने छन्द के 'बन्धन' को 'कृत्रिम बन्धन' कहा है।[1] अर्थात् वह बाधक प्रतीत होता हैं—पर है नहीं।

आज मुक्त छन्द अथवा स्वच्छन्द छन्द का काफ़ी ज़ोर है। किन्तु उसमें छन्दत्व के बहिष्कार की कल्पना उचित नहीं। क्योंकि छन्द के मूलाधार लय की चिन्ता उसमें भी की जाती है, उसका बराबर ध्यान रखा जाता है—यही तो छन्द की आत्मा है। फिर छन्द का तिरस्कार अथवा बहिष्कार कहाँ हुआ?—मुक्त छन्द में भी उसकी आत्मा सुरक्षित है। बस, बदला है केवल बाह्य कलेवर! पुष्कल परिमाण में रचना हो जाने पर उसका भी वैज्ञानिक अध्ययन संभव होगा, उसकी विभिन्न पद्धतियों का भी नामकरण हो सकेगा—लक्ष्य के समक्ष होने पर ही तो लक्षणों का निर्माण हुआ करता है। परम्परा-प्राप्त छन्दःशास्त्र क्या शुरू से ऐसा ही था? न जाने वह कितने परिवर्तन-परिवर्द्धन का परिणाम है।

ऋग्वेद में प्रयुक्त प्रधान छन्द केवल सात हैं।[2] किन्तु बाद में ये छन्द छन्दोजातियाँ बन गए। संस्कृत काल में 'प्रस्तार' के द्वारा छन्दों की संख्या लाखों तक पहुँचा दी गई। हिन्दी में 'प्रस्तार' का यह विस्तार भानु कवि के छन्दःप्रभाकर में देखा जा सकता है। वर्ण अथवा मात्रा के प्रत्येक संभव अथवा संभावित क्रम की परिकल्पना द्वारा एक-एक छन्द के शत-सहस्र छन्द बन गए। उदाहरणार्थ ३२ मात्राओं के पैंतीस लाख चौबीस हज़ार पाँच सौ अठत्तर छन्द हो सकते हैं।[3]—और १२ वर्णों के चार हज़ार छियान्वे छन्द बन सकते हैं।[4] किन्तु यह सारा विस्तार-प्रस्तार कौतुक मात्र है। प्रयोग में आने वाले छन्द कुछेक ही हैं, शेष का तो अस्तित्व ही नहीं। वस्तुतः छन्दःशास्त्र में 'प्रस्तार' के अन्तर्गत विवेचित गणितीय ऊहापोह में बौद्धिक मनोरंजन के अतिरिक्त कोई सार नहीं है। अस्तु!

गुप्त जी द्वारा अनेक छन्दों का प्रयोग

हमारे कवि ने वर्णिक और मात्रिक, सम और विषम सभी प्रकार के छन्दों का व्यवहार किया है। अपेक्षाकृत मात्रिक और वे भी सम—अधिक प्रयुक्त हैं। वास्तव में मात्रिक छन्द ही हिन्दी के अधिक अनुकूल हैं। वर्णिक तो उसके लिए असह्य भार हैं—उसका प्रकृत सौंदर्य परिस्फुट ही नहीं होता वरन् दब जाता है, विलीन हो जाता है। पल्लव की भूमिका में पन्त जी ने लिखा है—

"हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्हीं के द्वारा उसमें सौंदर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्ण-वृत्तों की नहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल्कल

---

१. दे० जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १३९

२. तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि······इति ह्याम्नातम्।
गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगतीत्येतानि सप्त छन्दांसि।

३. दे० छन्दःप्रभाकर : भानुकवि, संस्करण सन् १९२२, पृष्ठ ३५

४. दे० हिन्दी छन्द प्रकाश : रघुनन्दन शास्त्री, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १२३

छल्छल् तथा अपने क्रीड़ा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती, उसकी हास्य-दृप्त सरल मुख-मुद्रा गम्भीर, मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती, उसका चंचल भृकुटि-भंग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है।"[1]

मैथिलीशरण जी ने ऐसा कहीं लिखा तो नहीं—किन्तु वे भी मात्रिक छन्दों में अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं और उन्हीं को हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल मानते हैं। फिर भी उन्होंने वर्णिक वृत्त लिखे अवश्य हैं—हाँ, प्राधान्य मात्रिक का ही है। रही सम छन्दों के अधिक व्यवहार की बात!—यह कवि की अपनी रुचि है। सम छन्द ही कदाचित् विशेष रूप से सौम्य स्वभाव के अनुरूप हैं। फिर भी विषम छन्दों का एकान्ताभाव नहीं है। सब मिलाकर आलोच्य कवि के छन्द-विधान में व्यापकता और वैविध्य है। उसके काव्य में गीतिका, हरिगीतिका, दोहा, सोरठा, सवैया, घनाक्षरी, द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीड़ित, मालिनी, शिखरिणी, शृङ्गार, पीयूषवर्ष, सुमेरु, पदपादाकुलक, मानव, वियोगिनी, वीर और रोला तथा छप्पय आदि हिन्दी के सभी प्रसिद्ध छन्द व्यवहृत हैं। और प्रायः सभी का कुशल प्रयोग हुआ है। कुछ उदाहरण लीजिए :

गीतिका

लोक-शिक्षा के लिए, अवतार जिसने था लिया,
निर्विकार निरीह होकर, नर सदृश कौतुक किया।
राम नाम ललाम जिसका, सर्व-मंगल-धाम है,
प्रथम उस सर्वेश को, श्रद्धा-समेत प्रणाम है॥[2]

इसके प्रत्येक चरण में २६ मात्राएँ हैं। दूसरे और तीसरे में १४, १२ पर किन्तु पहले और चौथे में १२, १४ पर यति है। ये दोनों ही नियमानुकूल हैं।[3] द्वितीय के अतिरिक्त शेष तीनों चरणों के अन्त में गीतिका को कर्ण-मधुर बना देने वाला 'रगण' भी है। गीतिका की चारु गति के लिए उसके प्रत्येक चरण की तीसरी, दसवीं और सतरहवीं मात्राएँ लघु होनी चाहिएँ। उपर्युक्त छन्द के चारों चरणों में यह विशेषता विद्यमान है।

हरिगीतिका

पापी मनुज भी आज मुँह से, राम नाम निकालते!
देखो भयंकर भेड़िये भी, आज आँसू डालते!
आजन्म नीच अधर्मियों के, जो रहे अधिराज हैं—
देते अहो! सद्धर्म की वे, भी दुहाई आज हैं!![4]

---

१. पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ २२-२३
२. रंग में भंग, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ५
३. दे० छन्दःप्रभाकर—भानुकवि, संस्करण सन् १९२२, पृष्ठ ६५
४. जयद्रथ-वध, सत्ताईसवाँ संस्करण, पृष्ठ ७८

यहाँ नियमानुसार १६, १२ की यति से २८ मात्रा हैं। चौथे चरण में यतिभंग का भ्रम हो सकता है—किन्तु 'वे' और 'भी' अपने आप में पूर्ण हैं। अतः वह शंका निर्मूल है। हरिगीतिका में छठी, सातवीं तथा आठवीं और इक्कीसवीं, बाइसवीं तथा तेइसवीं मात्रा का क्रम '।ऽ।' नहीं होना चाहिए।[1] उक्त छन्द के चारों चरणों में इस सूक्ष्मता का भी भलीभाँति परिपालन हुआ है।—और माधुर्य के निमित्त चरणान्त में रगण भी है।

इन सभी विशेषताओं से युक्त हरिगीतिका का एक पद्य और लीजिए—

अब चित्रशालाएँ हमारी, नाम शेष हुई यहाँ,
पर आज भी आदर्श उनके, हैं अनेक जहाँ तहाँ।
अब भी अजेंटा की गुफाएँ चित्त को हैं मोहती;
निज दर्शकों के धन्य रव से, गूंज कर हैं सोहती॥[2]

दोहा

धनुर्बाण वा वेणु लो, श्याम-रूप के सङ्ग,
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम! दूसरा रंग।[3]

यहाँ विषम चरणों में १३ और सम में ११ मात्राएँ तो हैं ही। पर साथ ही दोहे की निर्दोषता के लिए अनिवार्य विषम चरणों के आदि में जगण का अभाव है।—और अन्त में लघु भी है।

बरवै

अवधि-शिला का उर पर, था गुरु भार,
तिल तिल काट रही थी, दृग्जल-धार।[4]

यथानियम प्रथम और तृतीय चरणों में बारह-बारह तथा द्वितीय और चतुर्थ में सात-सात मात्राएँ हैं। अन्त में जगण है जो बरवै को अधिक रोचक बनाता है।

वीर अथवा मात्रिक सवैया

नहीं जानते तुम कि देखकर, निष्फल अपना प्रेमाचार,
होती हैं अबलाएँ कितनी, प्रबलाएँ अपमान विचार।
पक्षपातमय सानुरोध है, जितना अटल प्रेम का बोध,
उतना ही बलवत्तर समझो, कामिनियों का वैर-विरोध।[5]

१६, १५ पर यति से प्रत्येक चरण में ३१ मात्राएँ हैं। सभी के अन्त में ऽ। है। वीर छन्द का कैसा दोषमुक्त उदाहरण है!

---

१. दे० छन्दःप्रभाकर—भानुकवि, संस्करण सन् १९२२, पृष्ठ ६७
२. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ ४७
३. द्वापर, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ९
४. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २४८
५. पंचवटी, संस्करण संवत् २००३, पृष्ठ ४०-४१

गीति (आर्य्या)

नाथ, कहाँ जाते हो ?
अब भी यह अन्धकार छाया है ।
हा ! जग कर क्या पाया,
मैंने वह स्वप्न भी गँवाया है ।[1]

यहाँ गीति के लिए अपेक्षित विषम चरणों में १२ तथा सम पदों में १८ मात्राएं हैं । किन्तु यह तो उसका स्थूल नियम है । इसका थोड़ा और विश्लेषण किया जाए । गीति छन्द आर्य्या के पाँच प्रधान भेदों में से एक है ।—और भानु जी ने आर्या के विषय में लिखा है—

"आर्य्या छन्द में चार मात्राओं के समूह को 'गण' कहते हैं । ऐसे चतुष्कलात्मक सात गण और एक गुरु के विन्यास से आर्य्या का पूर्वार्द्ध होता है ।"[2] गीति भी आर्य्या के ही अन्तर्गत है अतः उस पर भी यह बात लागू होती है । अर्थात् उसके प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरणों को मिलाकर 'चतुष्कलात्मक सात गण और एक गुरु' वाले पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध बनते हैं । अब इस पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के 'विषम गणों में जगण न हो । छठवें जगण हो और अन्त में गुरु हो'[3] तब जाकर कहीं शुद्ध गीति की सिद्धि होती है । परीक्षा के लिए उपर्युक्त छन्द को पूर्वकथित रूप में उपस्थित करता हूँ—

१	२	३	४	५	६	७	ग
नाथ क	हां जा	ते हो	अब भी	यह अं	धकार	छाया	है
१	२	३	४	५	६	७	ग
हा जग	कर क्या	पाया	मैंने	वह स्वप्	न भी गँ	वाया	है

आप देख रहे हैं कि दोनों अर्द्धांशों के विषम (१, ३, ५ और ७) गणों में जगण नहीं है । किन्तु षष्ठ में जगण (। ऽ ।) अनिवार्यतः विद्यमान है । अन्त में गुरु भी है । इस प्रकार यह छन्द सर्वांशेन शुद्ध है । इसमें शास्त्र के सूक्ष्म-कठोर नियमों का भी सफल निर्वाह किया गया है ।

छप्पय

हिन्दी को केवल न, मातृभाषा ही मानो,
व्यापकता में उसे, देश-भाषा भी जानो ।
होगी मन की बात, परस्पर ज्ञात न जब लों,
होकर भी हम एक, भिन्न ही से हैं तब लों ।

---

१. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ २३
२. छन्दःप्रभाकर, संस्करण सन् १९२२, पृष्ठ ९८
३. " " " " पृष्ठ ९९

बस हिन्दी ही यह भिन्नता, दिन दिन करती दूर है ।
निःशेष शक्तिमय ऐक्य को, भरती वह भरपूर है ।।[१]

इसमें नियमानुसार पहले चार पद ११, १३ की यति से २४ मात्राओं वाले रोला के हैं ।—और अन्तिम दो चरण १५, १३ की यति से उल्लाला के दो दल हैं ।

द्रुतविलम्बित

सुख सभी जिसको तुमने दिये,
विविध रूप धरे जिसके लिये,
न कुछ वस्तु अलभ्य रही जहाँ,
अब हरे वह भारत है कहां ?[२]

यहाँ प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण (।।।), भगण (ऽ।।), भगण (ऽ।।) और रगण (ऽ।ऽ) आयोजित हैं । द्रुतविलम्बित का यही नियम है ।[3] इसी छन्द का अन्य नाम सुन्दरी है ।

वसन्ततिलका

रे क्रोध, जो सतत अग्नि बिना जलावे,
भस्मावशेष नर के तनु को बनावे ।
ऐसा न और तुझ-सा जग बीच पाया,
हारे विलोक हम किन्तु न दृष्टि आया ।।[४]

यथानियम इसके प्रत्येक चरण में ऽऽ। ऽ।। ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ अर्थात् तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु हैं ।

शिखरिणी

आदर्शी राजा से, न निज सुत तो शासित हुए,
खरे भी खोटे-से, बुध विदुर निष्कासित हुए ।
चिकित्सा ऐसी क्या, शमन करती शल्य उनका ?
बढ़ा आगे से भी, विषमतम वैकल्य उनका ?[५]

इस पद्य के प्रत्येक चरण में १७ वर्ण हैं । उनका क्रम इस प्रकार है— य म न स भ ल ग—तथा ६, ११ पर यति है जो शिखरिणी के नियमानुसार ही है ।[६]

---

१. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ७७
२. स्वदेश-संगीत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३४
३. द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ ।
४. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६०
५. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २८३
६. यमी ना सो भूला, गुण गणनि गा गा शिखरिणी (छन्दःप्रभाकर)

स्रग्धरा

"राना ऐसा लिखेंगे, यह अघटित है, की किसी ने हँसी है।
मानी हैं एक ही वे, बस नस नस में, धीरता ही धँसी है।"
यों ही मैंने सभा में, कुछ अकबर की, वृत्ति है आज फेरी।
रक्खो चाहे न रक्खो, अब सब विध है, आपको लाज मेरी॥[1]

यहाँ प्रत्येक चरण में मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, यगण, यगण के क्रम से २१ वर्ण हैं। ७, ७, ७ पर यति है। इस प्रकार स्रग्धरा के लिए अपेक्षित सभी उपकरण उपस्थित हैं।

सवैया

सखि मैं भव-कानन में निकली बनके इसकी वह एक कली,
खिलते खिलते जिससे मिलने उड़ आ पहुँचा हिल हेम-अली।
मुसकाकर आलि, लिया उसको, तब लों यह कौन बयार चली,
'पथ देख जियो' कह गूंज यहां किस ओर गया वह छोड़ छली?[2]

यह दुर्मिल सवैया है—इसके प्रत्येक पाद में आठ सगण (।।ऽ) हैं।

विदेशी छन्द

गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त कुछ हिन्दी-संस्कृत छन्दों के उदाहरण दिए जा चुके हैं।—और भी अनेक प्रस्तुत किए जा सकते हैं। पर वह शायद अनीप्सित विस्तार होगा! स्थालीपुलाक-न्याय द्वारा इतने से ही कवि की विशद छन्द-योजना का अनुमान लगाया जा सकता है। अब उसके द्वारा व्यवहृत कुछ विदेशी (यहां विदेशी से मेरा अभिप्राय है हिन्दी-संस्कृत-बाह्य) छन्दों का नमूना भी देखिए:

ग़ज़ल

भारत-भारती की 'विनय' शीर्षक अन्तिम लम्बी कविता एक ग़ज़ल है—यद्यपि कवि ने स्वयं उसे सोहनी (एक प्रकार की रागिनी) लिखा है।—और हिन्दी छन्दःशास्त्र के अनुसार उसका प्रत्येक पद्य हरिगीतिका है। फिर भी हमारे विचार में उसे ग़ज़ल मानना ही उचित है। क्योंकि उसका विन्यास उसी के अनुसार है—हरिगीतिका के अनुरूप नहीं। उस कविता की प्रारम्भिक कुछ पंक्तियाँ लीजिए—

इस देश को हे दीनबन्धो! आप फिर अपनाइए,
भगवान! भारतवर्ष को फिर पुण्य-भूमि बनाइए।
जड़-तुल्य जीवन आज इसका विघ्न-बाधा-पूर्ण है,
हेरम्ब अब अवलम्ब देकर विघ्नहर कहलाइए॥

---

१. पत्रावली, संस्करण संवत् २०११, पृष्ठ ६
२. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २३०

हम मूक किंवा मूढ़ हों, रहते हुए तुझ शक्ति के !
मां आह्मि कह दे ब्रह्म से सुख-शान्ति फिर सरसाइए।
सर्वत्र बाहर और भीतर रिक्त भारत हो चुका,
फिर भाग्य इसका हे विधाता ! पूर्व-सा पलटाइए ॥[1]

अब इन आठ पंक्तियों में आप देखेंगे कि दो-दो पंक्तियाँ अर्थात् पहली और दूसरी, तीसरी और चौथी, पाँचवीं और छठी तथा सातवीं और आठवीं भाव की दृष्टि से अपने आप में प्रायः पूर्ण हैं। सर्वथा असम्बद्ध तो वे नहीं हैं, फिर भी एक युग्म को पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती अन्य युग्म की आकांक्षा नहीं है जैसी कि किसी पद्य के चारों चरणों में हुआ करती है। दूसरे तुक भी पहली, दूसरी, चौथी, छठी और आठवीं पंक्ति का मिलता है। अतएव इन्हें हरिगीतिका मानने में संकोच होता है। वास्तव में पूर्वोक्त युग्म उर्दू के शेरों के समान हैं—कुछ शेरों का समूह ही तो ग़ज़ल है ! बस शर्त यह है कि वे एक ही 'वज़न' और एक ही 'क़ाफ़िया' वाले हों तथा पहली शेर की दोनों पंक्तियों का तुक मिले—और फिर हर दूसरी पंक्ति का तुक मिलता चला जाए।[2] स्पष्ट शब्दों में तुक का क्रम क–क–ख–क–ग–क–घ–क''''''होना चाहिए।

भारत-भारती की विचाराधीन रचना में ग़ज़ल की ये सभी विशेषताएं उपलब्ध हैं। स्पष्टतः पहली, दूसरी, चौथी, छठी'''पंक्तियों का तुक मिल रहा है। हाँ, लम्बाई पर अवश्य कुछ शंका उठ सकती है। साधारणतः यह माना जाता रहा है कि ग़ज़ल में कम से कम पांच तथा अधिक से अधिक ग्यारह शेर होने चाहिएं। और प्रस्तुत रचना में ४० पंक्तियां अर्थात् २० शेर हैं। 'मगर इस ज़माने में इसकी (उक्त नियम की) पैरवी[3] नहीं की जाती और कोई तादाद मुतइयन[4] नहीं है'''बाज़ बाज़ हज़रात बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस मतला[5] कहने पर भी खुश और मुतमइन[6] नहीं होते।[7] अतः इस रचना की लम्बाई को भी इस युग में अनियमित नहीं कह सकते। इस ग़ज़ल की बहर—छन्दःप्रभाकर में मुसतफ़अलन मुसतफ़अलन मुसतफ़अलन मुसतफ़अलन अथवा मुतफ़ायलुन मुतफ़ायलुन मुतफ़ायलुन मुतफ़ायलुन के निदर्शन स्वरूप उद्धृत—

अय चहरये जेबाय तो, रश्के बुताने आज़री
हरचंद वस्फ़त मी कुनम, दर हुस्न जां जेबा तरी
मन तू शुदम् तू मन शुदी, मन तन शुदम् तू जां शुदी[8]
आदि।

---

१. भारत-भारती, अष्टदश संस्करण, पृष्ठ १८१

२. दे० आइनए बिलाग़त : मिर्ज़ा मुहम्मद अस्करी बी० ए०, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७

३. अनुसरण, ४. निश्चित, ५. शेर, ६. संतुष्ट

७. आइनए बिलाग़त : मिर्ज़ा मुहम्मद अस्करी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७ (पाद टिप्पणी)

८. संस्करण सन् १९२२, पृष्ठ ६७

—फ़ारसी ग़ज़ल से मिलती-जुलती है। अतः यह असंदिग्ध रूप से ग़ज़ल है।

रुबाई

हिन्दी में उर्दू-फ़ारसी का सर्वाधिक प्रचलित अथवा गृहीत छन्द रुबाई है। कुछ लोग इसे 'चौपदा' कहना पसन्द करते हैं। हरिऔध जी के 'चोखे चौपदे' प्रसिद्ध ही हैं। निराला ने भी दो-चार रुबाइयाँ लिखी हैं तथा बच्चन की मधुशाला इसी छन्द में लिखी गई है। कवि-सम्मेलनों में आजकल कविता-पाठ करने से पूर्व कविगण प्रायः रुबाइयाँ पेश किया करते हैं। हमारे कवि ने भी उमर ख़य्याम की जगत्प्रसिद्ध रुबाइयों के अनुवाद में इसी छन्द का व्यवहार किया है।

रुबाई वज़न-विशेष के चार चरणों का एक छन्द है जिनमें कि कोई विषय पूर्णतः समाहित हो गया हो। इसमें पहले दो पाद तुकयुक्त, तीसरा कभी तुकयुक्त और कभी तुक-विहीन तथा चौथा पहले दो के अधीन होता है।[1] गुप्त जी की रुबाइयों में तीसरा चरण सदैव अतुकान्त है। चारों चरणों में अन्त्यानुप्रासवाली रुबाइयाँ उन्होंने नहीं लिखीं। नीचे उनकी दो रुबाइयां उद्धृत की जाती हैं—

वाम-कनक-कर ने ऊषा के जब पहला प्रकाश डाला
सुना स्वप्न में मैंने सहसा गूँज उठी यों मधुशाला—
उठो, उठो, ओ मेरे बच्चो, पात्र भरो, न विलम्ब करो,
सूख न जावे जीवन-हाला, रह जावे रीता प्याला।[2]

यहाँ प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरणों में तुक-साम्य है—और चारों चरणों का वज़न भी एक ही है। इस प्रकार रुबाई के नियमों का भलीभाँति पालन हुआ है। उपर्युक्त रुबाई उनके अनुवाद-ग्रंथ रुबाइयात उमर खय्याम से उद्धृत है। पर उन्होंने कुछ रुबाइयाँ स्वतन्त्र रूप से भी लिखी हैं। उनमें भी यही विशेषता है, जैसे—

नष्ट हों त्रय-ताप लोचन वृष्टि में,
दीन क्यों हो मोतियों की सृष्टि में,
भोगते हैं ईश भी याचक बने,
उस तुम्हारी एक करुणा-दृष्टि में![3]

---

१. **औज़ान मख़सूस में ऐसे चार मिस्रे जिनमें कोई एक मज़मून तमाम कर दिया जाए। पहले दो मिस्रे मुक़फ़्फ़ा और कभी ग़ैर मुक़फ़्फ़ा और चौथा मिस्रा पहले दो मिस्रों का ताबे होता है।**

—आइनए बिलाग़त : मिर्ज़ा मुहम्मद अस्करी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १० से रुबाई की परिभाषा

२. **रुबाइयात उमर खय्याम, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३१**

३. **सरस्वती (पत्रिका), मई १९१५**

चतुर्दशपदी

अंग्रेज़ी छन्दःशास्त्र में से हिन्दी में सर्वाधिक अनुकरण हुआ है सॉनेट अर्थात् चतुर्दशपदी का। पर हमारे कवि के लिए उसमें विशेष आकर्षण नहीं है। उन्होंने कुल दो चतुर्दशपदियाँ लिखी हैं—एक अनुवादित और एक मौलिक है। 'मित्राक्षर' शीर्षक उनकी अनूदित चतुर्दशपदी तो मेघनाद-वध के प्रारम्भ में देखी जा सकती है।[1] किन्तु उनकी मौलिक चतुर्दशपदी अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। वह उन्होंने अपने जन्म-दिवस के उपलक्ष्य में लिखी थी। मुझे कवि के हस्तलिखित कविता-संग्रह से उसे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उस संग्रह के पृष्ठ १४५ पर लिखित वह चतुर्दशपदी निम्नलिखित है—

छोटों पर छोह तो बड़ों की ही महत्ता है
और जो हो, अच्छा कहाँ आत्म अवसाद है,
तृण ही रहूँ मैं किन्तु मेरी एक सत्ता है
वाटिका में जन्म यह प्रभु का प्रसाद है।
मेरी मातृभूमि ने पिलाया मुझे रस है,
उर्वरा ने साथ ही उगाये फूल फल भी,
एक हिम व्योम विन्दु मेरे अर्थ बस है
एक ज्योतिरिंगण सा आश्रित अनल भी!
स्थान गुण मेरा, पशु भोजन न मैं बना
साथी सुमनों ने निज गुच्छ में गुथा लिया,
धन्य, मेरा माली वह उन्नत महामना
मैं क्या और चाहूँ मुझे क्या न उसने दिया
प्रेरक हों राम तो जयन्त से भी होड़ लूँ
चाहता हूँ, हिन्दी पर अपने को तोड़ दूँ।[2]

कतिपय नवीन छन्द

परम्पराप्राप्त छन्दों के अतिरिक्त कुछ नवीन छन्द भी गुप्त जी के काव्य में व्यवहृत हैं:

१. साकेत के सप्तम सर्ग में १७ मात्रा के एक सर्वथा नवीन छन्द का प्रयोग हुआ है। यों तो १७ मात्राओं के २५८४ विभिन्न छन्द बन सकते हैं—किन्तु सप्तम सर्ग में प्रयुक्त प्रकार का व्यवहार इससे पहले किसी कवि ने नहीं किया। भानु जी ने अपने छन्दःप्रभाकर में १७ मात्राओं के केवल दो छन्दों—राम और चन्द्र—का उल्लेख किया है। राम में ९,८ पर यति तथा अन्त में ।ऽऽ होता है—और चन्द्र में १०,७ पर यति होती है। किन्तु साकेत का पद्य—

---

१. द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५

२. कवि से मुझे पता चला है कि यह बनारस और आगरा में सुनाई जा चुकी है।

सूत, रथ की गति करो कुछ मन्द,
अश्व अपने से चलें स्वच्छन्द।
अनुज, देखो, आगया साकेत,
दीखते हैं उच्च राज-निकेत।[1]

इसमें न राम के लिए अपेक्षित यति है न अन्त में ।ऽऽ—और न ही चन्द्र के लिए आवश्यक १०, ७ पर विराम। इसके विपरीत ७, १० पर यति प्रतीत होती है। अतः यह अप्रयुक्त-पूर्व छन्द है।

२. हमारे कवि का दूसरा नवीन छन्द है गणों के नियन्त्रण से मुक्त १५ वर्णों का समवृत्त। हाँ, अन्त में गुरु अनिवार्यतः विद्यमान है, यथा—

ऋण ही चुकाया नहीं उसका नृपति ने
आप उसको भी पुरस्कार दिया प्रेम से
कहते हैं, उसने प्रजा का ऋण भर के
साका किया और निज संवत् चला दिया।[2]

अथवा

रामानुज शूर चले छोड़ उस वन को
भानु-कुल-भानु जहाँ प्रभु थे शिविर में।
देख के किरात यथा वन में मृगेन्द्र को
अस्त्रागार में है दौड़ जाता वायु-गति से[3]

शास्त्र में ऐसे—१५ वर्णों के गणमुक्त—वृत्त का उल्लेख नहीं है। शास्त्रीयता का आग्रह ही हो तो इसे घनाक्षरी (कवित्त मनहरण) का उत्तरार्द्ध मान सकते हैं—शायद इसकी लय भी उस उत्तरार्द्ध वाली ही है। फिर भी यह कवि का नव-प्रयास तो है ही!

इस प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि सुधीन्द्र जी ने उपर्युक्त वृत्त में ही तुलसी का निम्न छन्द प्रस्तुत किया है—

देखि! द्वै पथिक गोरे सांवरे सुभग हैं।
सुतिय सलोनी संग सोहत सुभग हैं।
सोभा सिन्धु सम्भव से नीके नीके मग हैं।
मात पिता भागिबस गये परि फग हैं।[4]

ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि मैथिलीशरण जी इसके प्रथम प्रयोक्ता नहीं हैं। पर यह मानना भूल होगी कि उन्होंने तुलसीकृत छन्द के अनुकरण पर अथवा उससे परिचय के बाद ऐसा किया है। वास्तव में १४ अक्षरों वाले बंगला छंद 'पयार'

---

१. साकेत (सप्तम सर्ग), संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ १२६

२. सिद्धराज, तेरहवां संस्करण, पृष्ठ ११४

३. मेघनाद-वध, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ३०१

४. हिन्दी कविता में युगान्तर, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३४-४३५

का सुगमतापूर्वक अनुवाद करने के लिए उन्होंने यह आविष्कार किया था। —और आधुनिक युग में तो उनसे पहले किसी ने भी इसका प्रयोग नहीं किया।

३. दो छन्दों के मिश्रण से भी कभी-कभी नवीन छन्द का निर्माण कर लिया गया है, जैसे—

हेमन्त महिष, अश्व, बराह-जाति—
होती प्रसन्न अति ही गज, काक-पांति।
पुन्नाग, लोध्र तरु सन्तत फूलते हैं,
भौंरे सहर्ष इन ऊपर भूलते हैं॥[1]

इस वृत्त में पहले दो पाद वसंततिलका के तथा शेष दो हरिलीला (मुकुन्द) के हैं। इस प्रकार एक नया मिश्र छन्द निर्मित हुआ। दो ही नहीं दो से अधिक छन्दों का मिश्रण भी गुप्त जी ने किया है, यथा—

हर हर हर बम भोला!
थर थर थर तेरा आसन भी कह विजयी क्यों डोला।
तुच्छ एक अणु ही था मैं तो तूने ही विच्छिन्न किया,
भेद भेद कर पाप-बुद्धि से मुझे मुझी से भिन्न किया।
रहूं क्यों न कितना ही क्षुद्र,
मुझमें भी है मेरा रुद्र।
कुशल नहीं तेरा भी अब तो फैला फूट फफोला,
हर हर हर बम भोला![2]

उपर्युक्त छन्द 'अणुबम' के आठ-दस पद्यों में से एक है। यह कविता पुस्तक-रूप में अभी प्रकाशित नहीं हुई है, हाँ किसी पत्रिका में छप चुकी है। इसका 'स्थायी' सार छन्द का उत्तरार्द्ध है। उसके पश्चात् सार का पूरा चरण है। फिर दो पाद ३० मात्रा के शोकहर (८, ८, ८, ६) छन्द के हैं। और इनके बाद के दो चरण 'पुनीत' के हैं। फिर एक चरण सार का आया है। इस प्रकार तीन भिन्न छन्दों के सम्मिश्रण से एक नवीन छन्द का अस्तित्व संभव हुआ है।

छन्दों की प्रसंगानुकूलता

छन्द वाणी का परिधान है। पर जैसे मानव-जीवन में एक ही परिधान प्रत्येक समय और प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता वैसे ही काव्य में भी सदा-सर्वदा किसी एक ही छन्द से काम नहीं चल सकता। वाणी की भाव-भंगी अर्थात् वक्तव्य के साथ ही छन्द में भी परिवर्तन होना चाहिए—और होता है। समर्थ कवि सदैव इस बात का ध्यान रखते हैं। आलोच्य कवि को भी यह तथ्य कभी विस्मृत नहीं होता।

---

१. पद्य-प्रबन्ध, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०५
२. गुप्त जी के हस्तलिखित कविता-संग्रह के पृष्ठ १४३ से उद्धृत

वृत्त-वर्णन या प्रकथन में बड़े अथवा लम्बे छन्द अधिक उपादेय हुआ करते हैं। हमारे कवि की दृष्टि भी जहाँ केवल प्रकथन पर केन्द्रित है वहाँ दीर्घ छन्द ही व्यवहृत हैं। रंग में भंग में गीतिका, जयद्रथ-वध में हरिगीतिका प्रयुक्त हैं। साकेत के ११वें और १२वें सर्ग में—जिनमें इतिवृत्त ही प्रधान है—भी क्रमशः महातैथिक (३० मात्राओं वाले) तथा रोला छन्दों का ही व्यवहार हुआ है। जय भारत के 'योजनगन्धा' अध्याय में ३१ मात्राओं का और भी बड़ा वीर छन्द स्वीकृत है—

पूज्य ययाति पिता के वर से हुई पुत्र पुरु की कुल-वृद्धि ;
और आप यदु ने भी पाई आभिजात्य के साथ समृद्धि।
उपजे भरत भूप पुरु-कुल में बना उन्हीं से भारतवर्ष
कर अवतरित आप श्रीहरि को पाया यदु-कुल ने उत्कर्ष।[1]

किन्तु जहाँ कवि ने विवरण पर नहीं वर्णन पर ध्यान दिया है वहाँ अपेक्षाकृत छोटा छन्द गृहीत है। साकेत के पंचम सर्ग में चित्रकूट के चित्रण के निमित्त २१ मात्राओं के त्रिलोकी छन्द का प्रयोग हुआ है। वन-वैभव में तो इससे भी छोटा षोडशमात्रिक छन्द है—

चांदनी छिटकी थी उस रात,
विचरता था वासान्तिक वात
सो रहे थे यद्यपि जलजात,
अयुतशशि थे सर में प्रतिभात।[2]

इस प्रकार वर्णन और विवरण में कोई न कोई एक छन्द गृहीत है। किन्तु प्रगीतों में प्रायः एक साथ दो-दो, तीन-तीन छन्द मिला दिए गए हैं। कुणाल-गीत के निम्न उद्धरण में चौपाई और हरिगीतिका का मिश्रण देखिए—

व्यथा-वरण करके रोना क्या ?
अपना धीरज-धन अपने ही हाथों से खोना क्या ?
क्लेश नाम से ही कर्कश है,
किन्तु सहन तो अपने वश है।
भीतर रस रहते बाहर के विष के बस होना क्या ?[3]

—और अधोलिखित अवतरण में दश तथा द्वादश मात्रिक चरण हैं—

आशा थी हरा हरा = १२ मात्रा
होगा भव भरा भरा = १२ ,,
किन्तु प्रलय-मग्न धरा = १२ ,,
अब न और एरे, = १० ,,

---

१. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २१
२. वन-वैभव, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ २२
३. कुणाल-गीत, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ५६

ठहर तनिक ठहर आह !=१२ मात्रा
ओ प्रवाह मेरे ![1]=१० ,,

नवम सर्गान्तर्गत साकेत के प्रगीतों में भी भिन्न-विभिन्न छन्दों का मिश्रण हुआ है। गीत और प्रगीत के लिए यह उचित भी है—गान में आरोह-अवरोह-जन्य लोच की उपलब्धि के लिए पाद-मिश्रण आवश्यक ही है। सूक्ति के लिए गुप्त जी ने अपेक्षाकृत छोटे छन्द ग्रहण किए हैं। प्राचीन कवि ने इसके लिए अधिकांशतः दोहे का प्रयोग किया है। वास्तव में स्मरण में सुगमता के लिए सूक्ति में छोटे छन्दों का प्रयोग उचित ही है, यथा—

हार-जीत दोनों ही विधाता के विधान हैं[2]

राहुल को दिए गए यशोधरा के उपदेश—

मन ही के माप से मनुष्य बड़ा छोटा है,
और अनुपात से उसी के खरा खोटा है।[3]

—में भी यही छन्द है।

रस और छन्द का भी घनिष्ठ संबंध है जो अन्तिम और आत्यन्तिक न होते हुए भी काफ़ी गहरा है। श्रेष्ठ कवि सदैव रसानुकूल छन्द का प्रयोग किया करते हैं। गुप्त जी भी बड़ी सतर्कता से भावों के अनुकूल छन्द का चुनाव करते हैं। साकेत के प्रथम सर्ग में दम्पति के प्रेम-परिहास के लिए उन्होंने शृंगार के 'ख़ास छन्द' पीयूषवर्ष को चुना है तो दशम सर्ग में उर्मिला के करुणोच्छ्वास की व्यक्ति के निमित्त वैतालीय अथवा वियोगिनी का व्यवहार हुआ है। महाकवि कालिदास ने भी अज-विलाप में इसी छन्द का प्रयोग किया है। दुःख और शोक के उद्गार भारत-भारती के हरिगीतिका में आबद्ध हैं—पन्त जी ने भी इसे 'करुणा-रस के लिए अच्छा'[4] माना है। सिद्धराज, विकट भट आदि वीर-दर्पपूर्ण रचनाओं में १५ वर्णों का गणमुक्त छन्द प्रयुक्त है। मेघनाद-वध का दुर्धर प्रवाह तो और किसी छन्द में शायद सुरक्षित ही न रह पाता। घनाक्षरी के इस उत्तरार्द्ध की लय और गति इन प्रसंगों के सर्वथा अनुकूल है। यशोधरा में भी भाव के उच्छ्वसित आवेग के लिए यही छन्द गृहीत है—

..................यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठ रहती मैं? छान डालती धरित्री को।
सिंहनी-सी काननों में, योगिनी-सी शैलों में,
शफरी-सी जल में, विहंगिनी-सी व्योम में,
जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं![5]

---

१. झंकार, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ८५
२. सिद्धराज, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४६
३. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ ५५
४. पल्लव की भूमिका, पाँचवाँ संस्करण, पृष्ठ ३१
५. यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १२६

इस प्रकार मैथिलीशरण जी छन्द-निर्वाचन में प्रसंगानुकूलता का बराबर ध्यान रखते हैं।

किन्तु उनके छन्द-विधान में महाकाव्योचित गरिमा की कमी है। कुल मिलाकर उन्होंने तीन महाकाव्यों का प्रणयन किया है। जिनमें से मेघनाद-वध तो अनूदित है। उसमें मूल के ही अनुकरण पर आद्यंत केवल एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। शेष दो—जय भारत और साकेत—में से जय भारत के पूर्व-प्रणीत अंशों को छोड़कर अवशिष्ट में अवश्य कुछ औदात्त्य है। लेकिन उनके सर्वप्रसिद्ध महाकाव्य साकेत में अन्तिम दो सर्गों के अतिरिक्त और कहीं भी छन्द में महाकाव्य के अनुरूप विस्तार और महार्घता नहीं है। एक उदाहरण लीजिए—

सुख से सद्यः स्नान किये, पीताम्बर परिधान किये,
पवित्रता में पगी हुई, देवार्चन में लगी हुई,
मूर्तिमयी ममता माया, कौसल्या कोमल काया,
थीं अतिशय आनन्दयुता, पास खड़ी थीं जनक सुता।[1]

ऐसी पाद-योजना का तरंगाकुल-प्रवाह महाकाव्य के गम्भीर नद के से महाप्रवाह के विपरीत है। ऐसे छन्दों में श्रोता की चेतना को अभिभूत करने की शक्ति प्रायः नहीं होती अतएव वे महाकाव्य के अनुकूल हैं। वास्तव में गुप्त जी का छन्द-विधान भावानुकूल तो है पर उदात्त नहीं। महाकाव्य की भव्यता की रक्षा उनके छन्दों में नहीं हो पाती।

तुक अथवा अन्त्यानुप्रास

तुक छन्दःशास्त्र के ही अन्तर्गत आता है अतः उस पर भी विचार कर लेना चाहिए। वैसे आज काव्य में तुक की उपादेयता पर प्रश्नचिह्न लग गया है पर हिन्दी साहित्य के पहले तीन कालों का सम्पूर्ण काव्य अन्त्यानुप्रासयुक्त है—और आधुनिक युग का अधिकांश काव्य भी तुकयुक्त ही है। फिर भी उससे पराङ्मुखता का फ़ैशन चल पड़ा है। किन्तु वह ऐसी हेय, गर्हित अथवा अभिशंसनीय वस्तु नहीं है। समर्थ कवि द्वारा प्रयुक्त होने पर तुक भी काव्य की मधुरता एवं प्रभावक्षमता की वृद्धि में सहायक होता है। और नहीं तो कुपात्र के हाथ में पड़ने पर किसी भी चीज़ की दुर्गति हो सकती है।

गुप्त जी का अधिकांश काव्य तुकांत ही है। यद्यपि मेघनाद-वध की भूमिका में उन्होंने अमित्राक्षर के प्रति स्नेह प्रकट किया है।—और विकट भट, सिद्धराज, मेघनाद-वध, युद्ध आदि में तुक को तिलांजलि भी दे दी गई है, फिर भी अपेक्षाकृत उनकी तुकान्त रचना अधिक है। और वे हैं भी इस फ़न के पूरे उस्ताद! कठिन से कठिन तुक मिलाने में वे सक्षम हैं मानो वह बिना प्रयास ही उनकी लेखनी से निःसृत हो जाता है, यथा—

यदि है यह दोष, दम्भकृत है,
आत्मा से कौन अनादृत है?[2]

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ७२

२. जय भारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३३७

अच्छे-अच्छे कवियों को भी जहाँ तुक मिलाने में काठिन्य का अनुभव होता है वहाँ हमारा कवि एक शब्द की तुक के लिए कई शब्द सहज ही ढूंढ लेता है—

राम से सुत को भी वनवास,
सत्य है यह अथवा परिहास,
सत्य है तो है सत्यानाश,
हास्य है तो है हत्यापाश।[1]

निश्चय ही तुक पर इस कवि का अद्भुत अधिकार है। प्रसाद जहाँ एक 'नाच' शब्द पर नाच गए[2] वहाँ मैथिलीशरण की लेखनी से 'चक्र' के लिए वक्र, तक्र, शक्र, नक्र आदि शब्द निकलते चले जाते हैं।[3]—और ये सबके सब उत्तम तुक हैं। आलोच्य कवि के यहाँ मध्यम तुक भी मिल जाएगा, जैसे—

एक दुर्ग में उतर रहे बहु विस्फोटक हैं,
बने वहाँ कुछ बन्धु भारवाही घोटक हैं।[4]

किन्तु उसका अधम रूप कहीं नहीं मिलेगा। परन्तु फिर भी गुप्त जी की तुक-योजना सर्वथा निर्दोष नहीं है। उनकी अतिरिक्त तुक-प्रियता के कारण कहीं-कहीं बड़े भद्दे कवित्वहीन प्रयोग हुए हैं—

भुवन बन रहा भयंकर भाड़,
चने से जिसमें भुने पहाड़!
भुलसते जाते हैं सब झाड़,
कौन दे और कौन ले आड़?[5]

यहाँ अन्त्यानुप्रास माधुर्य के स्थान पर अरुचि ही उत्पन्न करता है। कुणाल-गीत की निम्न पंक्तियों की भी यही दशा है—

तुम घूम चारों खूंट लो,
रथ, अश्व, गज या ऊंट लो,
रस के जहाँ लो घूंट लो।[6]

साकेत में भी ऐसे लचर प्रयोगों का अभाव नहीं है। असल में अति सर्वत्र वर्जित है। उचित परिमाण में तुक जहाँ सौंदर्य का उपकारक है वहाँ उसकी अति अथवा अनुपयुक्त प्रयोग माधुर्य का अपकारक अतएव अवांछनीय है।

---

१. साकेत, संस्करण संवत् २००५, पृष्ठ ५१

२. कामायनी के इड़ा सर्ग में नाच की तुक के लिए कुलांच शब्द का प्रयोग हुआ है, यह अधम तुक है।

३. दे० यशोधरा, संस्करण संवत् २००७, पृष्ठ १२

४. अजित, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८३

५. विश्व-वेदना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २१

६. कुणाल-गीत, संस्करण संवत् २००२, पृष्ठ ३२

मूल्यांकन

मैथिलीशरण जी द्वारा प्रयुक्त छन्दों के पूर्वोल्लिखित विस्तार-वैविध्य के अवलोकन के पश्चात् इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि छन्दों पर उनका पूरा अधिकार है। अधिकांशतः मात्रिक छन्द ही उनके काव्य में व्यवहृत हुए हैं—हिन्दी की गति के अधिक अनुकूल भी वे ही हैं। पर गुप्त जी वर्ण-वृत्तों के भी सफल प्रयोक्ता हैं। करने को तो उन्होंने ग़ज़ल, रुबाई और चतुर्दशपदी का प्रयोग भी किया है—किन्तु वह बहुत सीमित है। वास्तव में किसी भी प्रकार की विदेशीयता हमारे कवि को स्वीकार्य नहीं। विदेशी छन्दों का यत्किंचित् प्रयोग कुतूहलवश ही हो गया है।

परम्परा-प्राप्त छन्दों के प्रयोग के अतिरिक्त उन्होंने दो-एक का आविष्कार भी किया है। १५ वर्णों के गणमुक्त छन्द का आविष्कर्त्ता यदि तुलसी को ही मान लें तब भी साकेत के सप्तम सर्ग में प्रयुक्त १७ मात्राओं के छन्द के आविष्कार का श्रेय तो उन्हें देना ही पड़ेगा।—और फिर १५ वर्णों के उक्त वृत्त का प्रचुर प्रयोग करने वाले पहले कवि भी मैथिलीशरण ही हैं।—तथा तुलसी ने इसे तुकान्त रखा था और हमारे कवि ने अतुकान्त। वास्तव में उन्होंने ही इसे छन्दत्व प्रदान किया है। दूसरा छन्द जिस पर कि कवि ने अपनी छाप लगादी हरिगीतिका है। जयद्रथ-वध और भारत-भारती की प्रसिद्धि और प्रचार ही इस छन्द की प्रसिद्धि और प्रचार हैं। सचमुच इन दो छन्दों में जितनी गति और क्षमता आलोच्य कवि को प्राप्त है उतनी और किसी भी प्राचीन-अर्वाचीन कवि को नहीं।

कतिपय छन्दों का मिश्रण भी कवि ने किया है। साकेत तथा यशोधरा में कुछ के चरण घटा-बढ़ा भी दिए गए हैं। लेकिन गम्भीरता से विचार करने पर विदित होगा कि उसने किसी कुशल शिल्पी की भाँति चरणों में काट-छाँट नहीं की है। वरन् कहीं किसी चरण-विशेष का अर्द्धांश ले लिया गया है तो कहीं किसी अन्य छन्द का एकाध चरण रख दिया गया है। "उन्होंने निराला और पन्त की भाँति छन्द की टेकनीक पर प्रयोग नहीं किए और उनके न कान ही उतने शिक्षित प्रतीत होते हैं।"[1] फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनकी छन्द-योजना विशद, व्यापक और भावानुकूल है। पन्त और निराला के समान 'टेकनीक पर प्रयोग' न करने पर भी भावाभिव्यंजक अथवा भावानुरूप छन्दों की कमी उनके पास नहीं है। छन्दःशास्त्र का उनका व्यापक पाण्डित्य उस क्षति की पूर्ति कर देता है। फलतः उनके काव्य में हतवृत्तत्व दोष आपको कहीं नहीं मिलेगा।

तुक-कौशल तो उनका सर्वमान्य ही है। यद्यपि उसके चक्कर में रत्ती, तत्ती, 'चला गया रे चला गया', 'दला गया रे दला गया' जैसे अकाव्योचित प्रयोग भी हुए हैं। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि अन्त्यानुप्रास पर कवि को अपूर्व अधिकार प्राप्त है। उसके विपुल साहित्य में अधम तुक का उदाहरण मिलना दुष्कर है। वास्तव में यह स्वामित्व उनकी शक्ति भी है और अशक्ति भी! खोज करने पर यतिभंग एवं गतिभंग भी

---

१. साकेत : एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र, पंचम संस्करण, पृष्ठ २१५

मिल जाएगा। किन्तु ऐसा बहुत कम स्थलों पर हुआ है—और वे स्थल महार्णव में क्षुद्र वीचि-तुल्य नगण्य हैं।

सारांश यह कि गुप्त जी का छन्द-विधान स्तुत्य और सफल है। छन्दों पर उनका अद्‌भुत प्रभुत्व है—किन्तु सफल शिल्पी के समान नहीं, शक्तिशाली प्रयोक्ता की तरह !

———